

मास्टर ऑफ आर्ट्स (हिस्ट्री)
चतुर्थ सेमेस्टर

भारतीय संस्कृति: प्राचीन काल से राजपूत काल तक

अध्ययन मण्डल

अध्यक्ष,

कुलपति,

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

अध्ययन मण्डल के सदस्यों के नाम

1. प्रोफेसर गिरिजा प्रसाद पाण्डे, निदेशक समाज विज्ञान विद्याशाखा, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी
2. प्रोफेसर रामेश्वर प्रसाद बहुगुणा, इतिहास विभाग एवं संस्कृति विभाग, जामिया मिल्लिया इस्लामिया विश्वविद्यालय, दिल्ली
3. प्रोफेसर शन्तन सिंह नेगी, इतिहास एवं पुरातत्व विभाग, एच.एन.बी. गढ़वाल केन्द्रीय विश्वविद्यालय, गढ़वाल
4. प्रोफेसर वी.डी.एस. नेगी, इतिहास विभाग, कुमाऊँ विश्वविद्यालय, एस.एस.जे. परिसर, अल्मोड़ा
5. डॉ. मदन मोहन जोशी, समन्वयक इतिहास विभाग, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

पाठ्यक्रम समन्वयक: डॉ. मदन मोहन जोशी

इकाई लेखन-

इकाई एक-	संस्कृति का अर्थ, प्रकृति, तत्व, सभ्यता और संस्कृति डॉ. किरन त्रिपाठी, इतिहास विभाग, गोकुलदास गर्ल्स काजेत, अगवानपुर, मुरादाबाद
इकाई दो-	भारतीय संस्कृति की विशेषताएं डॉ. किरन त्रिपाठी, इतिहास विभाग, गोकुलदास गर्ल्स काजेत, अगवानपुर, मुरादाबाद
इकाई तीन-	प्राचीन भारतीय कला की प्रमुख विशेषताएं डॉ. किरन त्रिपाठी, इतिहास विभाग, गोकुलदास गर्ल्स काजेत, अगवानपुर, मुरादाबाद
इकाई चार -	सिन्धु सभ्यता की सांस्कृतिक विशेषताएं डॉ. आनन्द कुमार शर्मा, बालाजी विहार, लश्कर, ग्वालियर
इकाई पांच-	वैदिक संस्कृति डॉ. आनन्द कुमार शर्मा, बालाजी विहार, लश्कर, ग्वालियर
इकाई छह-	बुद्ध कालीन संस्कृति डॉ. आनन्द कुमार शर्मा, बालाजी विहार, लश्कर, ग्वालियर
इकाई सात-	मौर्यकालीन डॉ. आनन्द कुमार शर्मा, बालाजी विहार, लश्कर, ग्वालियर
इकाई आठ-	कुषाण-शुंग-सातवाहन कालीन संस्कृति डॉ. आनन्द कुमार शर्मा, बालाजी विहार, लश्कर, ग्वालियर
इकाई नौ -	गुप्तकालीन संस्कृति डॉ. आनन्द कुमार शर्मा, बालाजी विहार, लश्कर, ग्वालियर
इकाई दस-	पल्लव कालीन संस्कृति सिराज मुहम्मद, इतिहास विभाग, एम.बी.पी.जी.स्नात. महाविद्यालय, हल्द्वानी।
इकाई ग्यारह-	चोल कालीन संस्कृति सिराज मुहम्मद, इतिहास विभाग, एम.बी.पी.जी.स्नात. महाविद्यालय, हल्द्वानी।
इकाई बारह-	राजपूत कालीन संस्कृति सिराज मुहम्मद, इतिहास विभाग, एम.बी.पी.जी.स्नात. महाविद्यालय, हल्द्वानी।

आई.एस.बी.एन. :

कॉपीराइट : उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

प्रकाशन वर्ष :

Published by : उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, नैनीताल-263139

Printed at :

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस प्रकाशन का कोई भी अंश उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

इकाई एक: संस्कृति का अर्थ, प्रकृति, तत्व, सभ्यता और संस्कृति

- 1.0 प्रस्तावना
- 1.1 उद्देश्य
- 1.2 संस्कृति का अर्थ
- 1.3 संस्कृति की प्रकृति
 - 1.3.1 संस्कृति की प्रकृति को समझने में सहायक तत्व
- 1.4 संस्कृति के तत्व
 - 1.4.1 सांस्कृतिक तत्व
 - 1.4.2 संस्कृति संकुल
 - 1.4.3 संस्कृति प्रतिमान
 - 1.4.4 संस्कृति क्षेत्र
- 1.5 सभ्यता और संस्कृति
 - 1.5.1 सभ्यता का अर्थ
 - 1.5.2 सभ्यता और संस्कृति में अन्तर
 - 1.5.3 सभ्यता और संस्कृति का संबन्ध
- 1.6 सारांश
- 1.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 1.8 निबन्धात्मक प्रश्न
- 1.9 उपयोगी पाठ्य सामग्री

1.0 प्रस्तावना

संस्कृति का वर्तमान रूप किसी समाज की दीर्घकाल तक अपनाई गई पद्धतियों का परिणाम होता है और समाज के सदस्य के रूप में मनुष्य की सभी उपलब्धियां उसकी संस्कृति से प्रेरित मानी जा सकती हैं। संस्कृति की सहायता से ही उसने निरन्तर प्रगति की है और विकास के विभिन्न सोपानों को तय किया है। वह भाषा व प्रतीकों के माध्यम से विचारों का संप्रेषण तथा ज्ञान.विज्ञान का विकास एवं अपने चिन्तन के परिणामों को भावी पीढ़ियों को हस्तांतरित कर सका है। उसका मस्तिष्क कार्य और कारण के तार्किक आधार को स्थापित कर सकता है। संपूर्ण जीवधारियों में मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जिसमें संस्कृति का

निर्माण और उसको परंपरागत रूप से बनाए रखने की क्षमता है। इसी कारण मनुष्य को संस्कृति का निर्माता भी कहा जाता है। सामाजिक घटनाओं के विश्लेषण में व्यक्तित्व, समाज और संस्कृति की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। मनुष्य को कुछ निश्चित व्यवहार जन्म से या आनुवांशिक रूप से प्राप्त होते हैं, लेकिन सामाजिक व सांस्कृतिक व्यवहार वह परिवार, समूह व समाज से, जिसमें वह निवास करता है, सीखता है। सांस्कृतिक क्रियाकलापों से सभ्यता का विकास होता है। संस्कृति के अभाव में सभ्यता अपना अस्तित्व बनाए नहीं रख सकती। संस्कृति और सभ्यता की प्रगति अधिकतर एक साथ होती है और दोनों का एक-दूसरे पर प्रभाव भी पड़ता है।

1.1 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य आपके अध्ययन क्षेत्र में संस्कृति के शाब्दिक अर्थ, उसके स्वरूप, तत्त्वों तथा सभ्यता और संस्कृति को व्याख्यायित करना है, ताकि विषय पर आपकी वस्तुनिष्ठ समझ का विकास हो और आपके मस्तिष्क में संस्कृति की अवधारणा स्पष्ट हो सके।

1.2 संस्कृति का अर्थ

संस्कृति शब्द संस्कृत भाषा की 'कृ' (करना) धातु से बना है। अंग्रेजी में संस्कृति के लिए प्रयुक्त कल्चर शब्द लैटिन भाषा के 'कल्ट' या 'कल्टस' से लिया गया है, जिसका अर्थ है जोतना, विकसित करना या परिष्कृत करना। नालन्दा विशाल शब्द सागर के अनुसार "किसी व्यक्ति, जाति, राष्ट्र आदि की वे सब बातें, जो उसके मन, रुचि, आचार-विचार, कला-कौशल और सभ्यता के क्षेत्र में बौद्धिक विकास की सूचक होती हैं, संस्कृति का अंग हैं"। कैम्ब्रिज इंग्लिश डिक्शनरी में संस्कृति की परिभाषा इस प्रकार दी गई है— "The way of life, especially the general customs and beliefs of a particular group of people at a particular time." अर्थात् किसी विशेष कालावधि में एक विशेष मानव समूह के द्वारा अपनाई गई जीवन शैली, विशेष रूप से उनकी परंपराएं और अवधारणाएं तथा विश्वास को संस्कृति कहा जा सकता है। इस परिभाषा से आप यह समझ सकते हैं कि संस्कृति वह जीवन पद्धति है, जिसका निर्माण मानव व्यक्ति तथा समूह के रूप में करता है, यह उन आविष्कारों का संग्रह है, जिनका अन्वेषण मानव ने अपने जीवन को सफल बनाने के लिए किया है। जवाहर लाल नेहरू ने रामधारी सिंह दिनकर के ग्रंथ 'संस्कृति के चार अध्याय' की प्रस्तावना में विभिन्न लेखकों के हवाले से लिखा है कि "संस्कृति शारीरिक या मानसिक शक्तियों का प्रशिक्षण, दृढ़ीकरण या विकास अथवा उससे उत्पन्न अवस्था है।" यह "मन, आचार अथवा रुचियों की परिष्कृति या शुद्धि है।" "यह सभ्यता का भीतर से प्रकाशित हो उठना है।" इन कथनों के आधार पर उनका मत है कि "इस अर्थ में, संस्कृति कुछ ऐसी चीज का नाम हो जाता है, जो बुनियादी और अन्तर्राष्ट्रीय है। फिर संस्कृति के कुछ राष्ट्रीय पहलू भी होते हैं।" औसगुड ने संस्कृति को इस प्रकार परिभाषित किया है— "संस्कृति कारीगरी के सभी विचार, व्यवहार और मनुष्य समूहों के उन सभी विचारों से बनी है, जिन्हें मनुष्य ने प्रत्यक्ष रूप में देखा है या जो उसके मस्तिष्क को दिए गए हैं तथा जिनके बारे में वह चेतन है।" डेविड बिडनी का कथन है "संस्कृति उन संपूर्ण बौद्धिक आदर्शों की परंपरा है, जिसे मनुष्य जाति ने प्राप्त किया है।" टायलर ने अपनी पुस्तक प्रिमिटिव कल्चर में लिखा है, "संस्कृति वह जटिल समग्रता है, जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, कानून प्रथा ऐसी ही अन्य क्षमताओं और आदतों का समावेश रहता है, जिन्हें मनुष्य समाज के सदस्य के नाते प्राप्त करता है, अर्थात् संस्कृति मानव की सामाजिक विरासत है, जिसे मनुष्य जन्म लेने के बाद प्राप्त करता है और समाज की सदस्यता की स्थिति में सीखता है।" संस्कृति से हमारा तात्पर्य उस सब से है जिसे मनुष्य अपने सामाजिक जीवन में सीखता है या समाज के सदस्य के नाते प्राप्त करता है। मनुष्य स्वयं पूर्ण रूप में संस्कृति की उपज है और दूसरी ओर संस्कृति मनुष्य की रचना है। लैंडिस के अनुसार "संस्कृति वह दुनिया है, जिसमें एक व्यक्ति जन्म से

लेकर मृत्यु तक निवास करता है, चलता.फिरता है और अपने अस्तित्व को बनाए रखता है।" रैल्फ पिडिंगटन का मत है कि "संस्कृति उन भौतिक तथा बौद्धिक साधनों या उपकरणों का सम्पूर्ण योग है , जिनके द्वारा मानव अपनी प्राणिशास्त्रीय तथा सामाजिक आवश्यकताओं की संतुष्टि तथा अपने पर्यावरण से अनुकूलन करता है।"इसे आप इस प्रकार समझ सकते हैं कि किसी भी मानव की संस्कृति में दो प्रकार की घटनाओं का समावेश होता है, पहला भौतिक वस्तुएं, जिन्हें मानव अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उत्पन्न करता व बनाता है,दूसरा, ज्ञान, विश्वास, मूल्य(वैल्यूज) आदि अमूर्त घटनाओं का भी समावेश संस्कृति में होता है। संस्कृति के ये दोनों पक्ष एक दूसरे से सम्बन्धित तथा एक दूसरे के पूरक होते हैं।बिडनी ने लिखा है कि "संस्कृति कृषि सम्बन्धी, प्राविधिक, सामाजिक तथा मानसिक तथ्यों की उपज है।" दूसरे शब्दों में संस्कृति में कृषि, प्रौद्योगिकी, सामाजिक संगठन, भाषा, धर्म, कला आदि का समावेश होता है। रूथ बेनेडिक्ट ने कहा है कि "व्यक्ति की भांति संस्कृति भी विचार और क्रिया का एक बहुत सुस्थिर प्रतिमान है। संस्कृति कोई अव्यवस्थित, असंबद्ध या बिखरी हुई व्यवस्था नहीं है, बल्कि इसके विभिन्न तत्व या अंग एक दूसरे से संबद्ध रहते हुए इस प्रकार क्रियाशील होते हैं किवे एक प्रतिमान(पैटर्न) की रचना करते हैं।" मैलिनोव्स्की ने संस्कृति को विचारों का एक समूह मानते हुए कहा है " संस्कृति प्राप्त आवश्यकताओं की एक व्यवस्था तथा उद्देश्यमूलक क्रियाओं की एक संगठित व्यवस्था है।" अर्थात् संस्कृति के अन्तर्गत जीवन के समग्र तरीके या ढंग आ जाते हैं जो व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं।वे संस्कृति के अन्तर्गत सभी शिल्प तथ्यों (।तजपबिजे), वस्तुओं, तकनीकी प्रक्रियाओं,विचारों, आदतों और मूल्यों को सम्मिलित करते हैं। हॉबेल के अनुसार "उन सब व्यवहार प्रतिमानों की समग्रता को संस्कृति कहते हैं, जिन्हें मानव अपने सामाजिक जीवन में सीखता है।" उन्होंने संस्कृति को वंशानुक्रम द्वारा निर्धारित न मानकर उसे पूर्णतः सामाजिक आविष्कारों का परिणाम माना है। इसी कारण यह विचारों के आदान.प्रदान तथा शिक्षा के माध्यम से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होती है और इस प्रकार इसकी निरंतरता बनी रहती है। हर्सकोविट्ज का मत है " कोई भी प्रजाति या समाज हो, संसार के किसी भी भूभाग में हो, सभी की कुछ समान मूल आवश्यकताएं होती हैं और इनको पूरा करने के लिए कुछ समान सांस्कृतिक प्रत्युत्तर भी होते हैं।.....संस्कृति मनुष्य और उसकी कृतियां हैं।" मनुष्य की संस्कृति में भौतिक और अभौतिक दोनों ही तत्व हैं, जिन्हें हर्सकोविट्ज संस्कृति कहते हैं। मानव जीवन पर प्राकृतिक और सामाजिक पर्यावरण का प्रभाव पड़ता है। मानव का संपूर्ण सामाजिक पर्यावरण ही उसकी संस्कृति है। बील्स तथा हॉइजर का कथन है कि "संस्कृति शब्द का प्रयोग कुछ निश्चित अर्थों में करते हैं, जैसे संस्कृति (क) समस्त मानव जाति में एक समय विशेष में सामान्य जीवन के तरीके या जीवन यापन या रहन.सहन के नमूने हैं या (ख) समाजों के एक समूह, जिनमें थोड़ी.बहुत अन्तःक्रिया होती रहती है, के रहन.सहन के तरीके हैं या (ग) व्यवहार के प्रतिमान हैं जो एक समाज विशेष में विशिष्ट रूप में पाए जाते हैं या (घ) व्यवहार करने के वे विशिष्ट तरीके हैं जो बड़े और जटिल रूप में संगठित समाज के विभिन्न भागों में विशेष रूप से पाए जाते हैं।

अभ्यास प्रश्न

निम्न पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए

1. (क) संस्कृति से आप क्या समझते हैं?

(ख) संस्कृति के सम्बन्ध में विभिन्न परिभाषाओं का उल्लेख कीजिए।

2. निम्न कथनों के सामने 'सही' और 'गलत' का उल्लेख कीजिए

(क) संस्कृति वह जीवन पद्धति है, जिसका निर्माण मानव व्यक्ति तथा समूह के रूप में करता है।

(ख) 'संस्कृति के चार अध्याय' नामक पुस्तक के लेखक जवाहर लाल नेहरू हैं।

1.3 संस्कृति की प्रकृति

संस्कृति की प्रकृति का अध्ययन करते हुए आप समझ पाएंगे कि संस्कृति एक समाज से दूसरे समाज तथा एक देश से दूसरे देश में बदलती रहती है। इसका विकास एक सामाजिक अथवा राष्ट्रीय संदर्भ में होने वाली ऐतिहासिक एवं ज्ञान संबन्धी प्रक्रिया व प्रगति पर आधारित होता है। किसी भी देश के लोग अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक परंपराओं द्वारा ही पहचाने जाते हैं। भगवत शरण उपाध्याय के अनुसार “जब से मनुष्य ने चकमक से आग पैदा की और संयत उंगलियों ने वर्णपरक ध्वनियां निर्मित कीं, तब से वह जिज्ञासा के भय से, जानने की अधीरता से और अंधेरे से प्रकाश की ओर बढ़ने की प्रेरणा से उद्विग्न रहा है। प्रणय कामना ने उसके साहित्य का सर्जन किया, ज्ञानपिपासा ने उसे अपने जगत का बोध कराया और प्राणियों से सहानुभूति ने उसे दोलायमान जीवन का वह सुख दिया जो हंसता है, नाचता-गाता है, हास-परिहास मुहैया करता है। जीवन समग्र है, कम से कम उसकी सम्भावनाएं समग्र हैं.....संस्कृति समग्र है, अनवरत और सार्वभौमिक है, क्षैतिज (horizontal) और ऊर्ध्वाधर(vertical) है।...परिवर्तन संस्कृति के अवयवों का निर्माता नियामक है। इस प्रकार संस्कृति समान प्रयत्नों से उत्पन्न समान विरासत है, संयुक्त और समन्वित प्रयासों का प्रतिफलन है। संस्कृति समस्त के लिए समस्त का योगदान है। जल-कणों की भांति इकाइयां एक-दूसरे से जुड़ती हैं और एक प्रवहमान जलराशि बनाती हैं। धाराएं जो कभी विदेशी समझी जाती थीं, उसके जल में जा गिरती हैं और ऐसे खो जाती हैं कि पहचानी नहीं जा सकतीं। स्थानीय की अपनी विशेषताएं होती हैं। विजातीय संस्कृति के आगमन पर स्थानीय संस्कृति की उसके विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया होती है, किन्तु वह शीघ्र ही अपने को संयुक्त में लयकर शान्त हो जाती है। फिर जो कुछ उसने प्राप्त किया है उसे अपनी प्रकृति के अनुरूप ढाल नई संकेन्द्रित इकाई में अपनी विशेषताओं को समेकित तथा सुरक्षित बनाती है। यह प्रक्रिया एक इकाई से दूसरी इकाई में जारी रहती है और प्रत्येक परवर्ती इकाई अपनी पूर्ववर्ती इकाई से समृद्धतर हो निखर उठती है।”

हॉवेल का कथन है कि “संस्कृति अनोखे रूप में मानव घटना है (human phenomenon) है और वह इस अर्थ में कि पशु जगत में, अन्य सभी प्राणियों में मनुष्य ही अकेला एक ऐसा प्राणी है, जो संस्कृति को बनाने और बनाए रखने की क्षमता रखता है। इसी संस्कृति की अवधारणा की सहायता से मानव के संबन्ध में अनेक रहस्यों का उद्घाटन होता है।” बिडनी के मतानुसार “मानव संस्कृति ऐतिहासिक है, क्योंकि इसमें परिवर्तन और नैरन्तर्य, नई वस्तुओं की बनावट और खोज तथा परंपराओं को आत्मसात करने की प्रक्रिया है। “बी. एन. लूनिया का मत है” संस्कृति को दो भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त किए जाने के आधार पर इसके दो उपविभाग कहे जा सकते हैं, भौतिक और अभौतिक। मानव के जिन क्रियाकलापों में बाह्य विश्व के उपयोग या भौतिक प्रगति की प्रधानता है, उसे भौतिक संस्कृति कहा जा सकता है। कृषि, पशुपालन, यन्त्र निर्माण, विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन आदि भौतिक संस्कृति है। अभौतिक संस्कृति का संबन्ध विचारों, भावनाओं, आदर्शों और विश्वासों से है अर्थात् मानव की मानसिक उन्नति के व्यापक अर्थ में इसका प्रयोग किया गया है। इसमें धर्म, नीति, विधि-विधान, विद्याएं, कला-कौशल, साहित्य, मानव के समस्त सद्गुण और शिष्टाचार निहित हैं।” मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार संस्कृति का सम्बन्ध सामाजिक चेतना से है और सामाजिक चेतना तथा उससे उत्पन्न संस्कृति सामाजिक सत्ता पर निर्भर रहती है। अर्थात् उत्पादन पद्धति और उससे उत्पन्न सामाजिक सम्बन्ध ही संस्कृति की आधारशिला है। उत्पादन के साधनों पर समाज के जिस वर्ग का अधिकार होता है, उसके आदर्शों की छाप उस संस्कृति पर होती है। वर्ग के अधिकार और सत्ता के बदलने से संस्कृति भी बदलती है। जब तक किसी संस्कृति को उत्पन्न करने वाला वर्ग स्वयं प्रगतिशील रहता है, तब तक उसकी संस्कृति भी प्रगतिशील रहती है। जब वह प्रगतिशील नहीं रहता, तब उसकी संस्कृति भी प्रगतिशील नहीं रहती। मूल्यहीन हो जाती है।

1.3.1 संस्कृति की प्रकृति को समझने में सहायक विशेषताएं

संस्कृति की प्रकृति को आप उसकी निम्न विशेषताओं के अध्ययन से समझ सकते हैं

1. संस्कृति सीखी जाती है— आपने पढ़ा कि सीखे हुए व्यवहार प्रतिमानों के संपूर्ण योग को संस्कृति कहते हैं। मनुष्य जिस संस्कृति में जन्म लेता है, उससे वह सीखता है। मानव की भाषा व प्रतीकों के माध्यम से विचारों के आदान-प्रदान की शक्ति इस बात की द्योतक है कि वह दूसरों से संस्कृति के तत्वों को सीख सकता है। जन्म के समय बच्चों में संस्कृति संगत व्यवहार करने का कोई भी तरीका नहीं होता है, इन्हें वह बड़े होने के साथ-साथ सीखने की जटिल प्रक्रिया के माध्यम से प्राप्त करता है। संस्कृति वह है जिसको समाज में आने के बाद व्यक्ति परिवार, जाति, बंधुत्व आदि. समूहों द्वारा सीखता है। पशुओं द्वारा सीखे हुए व्यवहार और मानव के संस्कृति पर आधारित व्यवहारों में जो अन्तर है, उसे समझे बिना संस्कृति की वास्तविक प्रकृति को नहीं समझा जा सकता। पशुओं द्वारा सीखे हुए व्यवहार वैयक्तिक होते हैं, इसलिए उसे संस्कृति नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत मानव की सांस्कृतिक व्यवस्था के व्यवहार, तरीके या आदतें सामूहिक आदतें होती हैं, जिन्हें हम जन रीति (folk ways), रूढ़ि (mores) या प्रथा (costums) कहते हैं।

2. संस्कृति में संचारित या हस्तांतरित होने का गुण है— मानव अपनी भाषा और प्रतीकों के माध्यम से संस्कृति में सम्मिलित विशेषताओं व ज्ञान को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तांतरित करता है। साथ ही अपनी पिछली पीढ़ियों की कृतियों के आधार पर वर्तमान जीवन पद्धति भी प्रारंभ करता है और प्रत्येक पीढ़ी को फिर आरंभ से सब कुछ सीखना या आविष्कार नहीं करना पड़ता, बल्कि वह प्राप्त अनुभवों और ज्ञान के आधार पर पहले से बेहतर तकनीक का विकास कर सकती है। इस प्रकार आप समझ सकते हैं कि संस्कृति अपने विकास, विस्तार तथा निरंतरता के लिए किसी एक व्यक्ति या समूह पर निर्भर नहीं रहती, क्योंकि यह अनेक व्यक्तियों की अन्तःक्रिया तथा एकाधिक पीढ़ियों की उपलब्धियों का फल होती है। कोई भी संस्कृति जड़ नहीं होती। वह परिवर्तनशील और गतिशील होती है। उदाहरण के लिए भारतीय संस्कृति जो गुप्त काल में थी, वह आज नहीं है। लोगों के रहन-सहन, खान-पान और व्यवहार के तरीकों में काफी अन्तर आ गया है। इसी को हम सांस्कृतिक गतिशीलता कहते हैं। समय के साथ-साथ अधिक से अधिक ज्ञान, नए विचार तथा नए कौशल एवं परंपराएं संस्कृति के साथ जुड़ते चले जाते हैं और एक अन्तराल के बाद किसी विशिष्ट संस्कृति में सांस्कृतिक परिवर्तन संभव होते जाते हैं।

3. प्रत्येक समाज/समूहकी अपनी एक पृथकसंस्कृति होती है— प्रत्येक समाज की भौगोलिक तथा सामाजिक परिस्थितियां अलग-अलग होने के कारण उसकी अपनी एक विशिष्ट संस्कृति होती है। सामाजिक आवश्यकताएं भी प्रत्येक समाज में भिन्न-भिन्न होती हैं, जिससे संस्कृति का स्वरूप भी प्रत्येक समाज में अलग होता है। इन सांस्कृतिक भिन्नताओं के कारण एक समाज के सदस्यों के व्यवहारों की विशेषताएं दूसरे समाज के सदस्यों के व्यवहारों से पृथक होती हैं। संस्कृति में परिवर्तन भी तभी होता है, जब उस समाज के विशिष्ट व्यवहारों में परिवर्तन होता है। फिर भी संस्कृति के कुछ तत्व सभी समाजों में एक से या सामान्य होते हैं, जिन्हें मुरडॉक ने 'संस्कृति का सामान्य हर' (the common denominator of culture) कहा है। विभिन्न समाजों की संस्कृतियों में भिन्नताएं और समानताएं दोनों ही होती हैं।

4. संस्कृति में सामाजिक गुण निहित होता है— संस्कृति समाज के समस्त या अधिकतर सदस्यों का सीखा हुआ व्यवहार प्रतिमान होती है, इसलिए वह एक समाज की संपूर्ण सामाजिक जीवन विधि का प्रतिनिधित्व करती है। इस कारण इसमें व्यक्तिगत व्यवहारों पर सामाजिक दबाव डालने की शक्ति भी होती है। इसी सामाजिक दबाव के कारण सदस्यों की व्यवहार विधि में अधिक अंतर या भिन्नता उत्पन्न नहीं हो पाती। इसके फलस्वरूप समाज के व्यवहार प्रतिमानों (behavior pattern) में एकरूपता होती है और संस्कृति के

स्वरूप में भी एक प्रकार की स्थिरता बनी रहती है। इस स्थिरता का तात्पर्य यह नहीं है कि संस्कृति में परिवर्तन नहीं होता, बल्कि यह है कि संस्कृति एक अव्यवस्थित अवधारणा नहीं है। संस्कृति का मूल आधार जैविक न होकर सामाजिक है, क्योंकि शारीरिक लक्षण हमें आनुवांशिक धरोहर के रूप में प्राप्त होते हैं, पर हमारी आदतें, काम करने के तरीके सभी हम अपने समूह से सीखते हैं।

5. समूह के लिए संस्कृति आदर्श होती है – मुरडॉक के अनुसार “काफी हद तक सामूहिक आदतों को, जिनसे संस्कृति का निर्माण होता है, व्यवहार के आदर्श नियम या प्रतिमान माना जाता है।” विशेषकर जब अपनी संस्कृति की तुलना दूसरी संस्कृति से करने की आवश्यकता होती है, तो अपनी संस्कृति को आदर्श रूप में प्रस्तुत करने का मनोभाव उस समाज के अधितर लोगों में पाया जाता है। व्यवहार प्रतिमान सारे समूह का व्यवहार होने के कारण आदर्श व्यवहार माने जाते हैं। सैद्धान्तिक रूप से समूह के सदस्यों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे अपनी संस्कृति के मानकों का पालन करेंगे। इसीलिए इन आदर्श सांस्कृतिक प्रतिमानों से संबन्धित सामूहिक अभिव्यक्तियों के बारे में व्यक्ति बहुत कुछ सचेत रहता है।

6. संस्कृति मानव आवश्यकताओं की पूर्ति करती है—संस्कृति मानव की प्राणिशास्त्रीय तथा सामाजिक दोनों ही प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन जुटाती है। संस्कृति के अन्तर्गत अनेक भाग और उपविभाग होते हैं, जो संपूर्ण सामाजिक व्यवस्था में संगठित होते हैं, यद्यपि इनमें से प्रत्येक भाग का एक विशिष्ट स्वरूप होता है। इनमें से प्रत्येक का संपूर्ण जीवन विधि में या सामाजिक जीवन में कोई न कोई कार्य होता है। इन समस्त भागों और उपविभागों में जो पारस्परिक संबन्ध तथा प्रभाव होता है, उनके संपूर्ण योग से ही संस्कृति के ढांचे का निर्माण होता है और प्रत्येक भाग की संपूर्ण सांस्कृतिक व्यवस्था में जो योगदान होता है, उसे उस भाग का कार्य (function) कहते हैं, जो उसके स्वरूप (form) से पृथक होता है। जिस प्रकार शरीर के प्रत्येक अंग का संपूर्ण शरीर को जीवित रखने में महत्वपूर्ण योगदान होता है, उसी प्रकार प्रत्येक प्रथा या प्रत्येक संस्था का संपूर्ण सांस्कृतिक व्यवस्था की जीवन विधि को कायम रखने में महत्वपूर्ण योगदान होता है। संस्कृति के अध्ययन में प्रकार्यवादियों (functionalist) ने, जिनमें रैडक्लिफ ब्राउन तथा मैलिनोव्स्की का नाम विशेष उल्लेखनीय है, संस्कृति के इस प्रकार्यात्मक (functional) पक्ष पर विशेष बल दिया है।

7. संस्कृति में अनुकूलन करने का गुण होता है – ऊपर आपने पढ़ा कि संस्कृति जड़ या स्थिर नहीं होती। गतिशीलता या समय-समय पर होने वाले परिवर्तनों के फलस्वरूप इसका अनुकूलन बाहरी शक्तियों से होता रहता है। इसमें संस्कृति का भौगोलिक पर्यावरण से अनुकूलन विशेष रूप से उल्लेखनीय और महत्वपूर्ण है। उदाहरण के लिए वनों में रहने वाला समुदाय अपनी सांस्कृतिक व्यवस्था का अनुकूलन वन की परिस्थितियों से करता है, परंतु भौगोलिक पर्यावरण संस्कृति को नहीं बल्कि सांस्कृतिक विकास की कृच्छ सीमाओं को निश्चित करता है, जिससे आगे एक निश्चित सांस्कृतिक स्तर के लोग नहीं जा सकते। ज्यों-ज्यों मानव की संस्कृति का विकास होता है, उसी के साथ भौगोलिक पर्यावरण का प्रभाव कम होता जाता है। संपूर्ण सांस्कृतिक व्यवस्था के विभिन्न अंगों या इकाइयों में विभिन्न समय में परिवर्तन होता रहता है और इन परिवर्तनों के कारण यह आवश्यक हो जाता है कि दूसरे अंग या इकाइयां भी अपना अनुकूलन परिवर्तित भागों या इकाइयों के अनुरूप करते रहें। चूंकि अपनी विविध आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए मनुष्य संस्कृति या इसकी विभिन्न इकाइयों को काम में लाता है, इसलिए मनुष्य को भी इन निरंतर परिवर्तनशील इकाइयों के साथ अपना अनुकूलन करना पड़ता है।

8 संस्कृति में संतुलन तथा संगठन होता है – संस्कृति के अन्तर्गत अनेक खण्ड या इकाइयां होती हैं, परंतु ये सब आकस्मिक और अव्यवस्थित नहीं होतीं। संस्कृति के इन खण्डों या इकाइयों में एक पारस्परिक संबन्ध तथा अन्तःनिर्भरता होती है, जिसके कारण ये बिल्कुल पृथक होकर कार्य नहीं करतीं। प्रायः वे दूसरी इकाइयों के साथ मिलकर कार्य करती हैं। इस सबके परिणामस्वरूप संस्कृति के संपूर्ण ढांचे में सन्तुलन

और संगठन बना रहता है। विभिन्न इकाइयों के एक दूसरे से सम्बन्धित तथा एक दूसरे पर आधारित होने के कारण संस्कृति के एक भाग में कोई परिवर्तन होने पर उसका कुछ न कुछ प्रभाव दूसरे भागों पर भी अवश्य पड़ता है। समनर के अनुसार 'संस्कृति के विभिन्न भागों या इकाइयों में एकरूपता की ओर एक खिंचाव होता है, जिसके फलरूप ये विभिन्न भाग एक साथ मिलते हैं और एक बहुत कुछ पूर्णतया संगठित समग्रता का निर्माण करते हैं। यह संपूर्ण समग्रता ही संस्कृति है। संस्कृति की यह विशेषता सादे, छोटे तथा पृथक समाजों में स्पष्ट रूप में देखने को मिलती है, क्योंकि ऐसे समाजों में तनाव उत्पन्न करने वाली शक्तियां कम होती हैं और संस्कृति के विभिन्न पक्षों तथा तत्वों में अधिक शीघ्रता से परिवर्तन भी नहीं होते।'

9. सांस्कृतिक विशेषताएं—संस्कृति में कुछ लक्षण ऐसे होते हैं जो एक विशेष वर्ग पर ही लागू होते हैं। उदाहरणार्थ भारतीय समाज में स्त्रियों के लिए तय साड़ी आदि कुछ परिधान, पुरुष धारण नहीं कर सकते। इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी दिए जा सकते हैं। समाज की संरचना संस्कृति में ऐसी होती है कि जिस समूह की जो सांस्कृतिक विशेषताएं होती हैं, उसको वही समूह अपनाता है।

10. संस्कृति पराजैविक और परावैयक्तिक होती है— संस्कृति की प्रकृति पराजैविक होती है। कोई भी व्यक्ति संस्कृति के सभी तत्वों को नहीं अपना सकता, उनका पालन नहीं कर सकता। समूह के अलग-अलग व्यक्तियों की मृत्यु के बाद भी संस्कृति की निरन्तरता बनी रहती है। व्यक्ति के जीवन काल से संस्कृति का जीवन कहीं अधिक लम्बा होता है। संस्कृति में कई नए तत्व आते रहते हैं।

अभ्यास प्रश्न

निम्न पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए

- (क) संस्कृति किस प्रकार एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तांतरित होती है?
(ख) किसी क्षेत्र विशेष की संस्कृति को उस क्षेत्र की भौगोलिक परिस्थितियां किस प्रकार प्रभावित करती हैं?
- निम्न कथनों के सामने 'सही' और 'गलत' का उल्लेख कीजिए
(क) संस्कृति सीखी जाती है।
(ख) संस्कृति परिवर्तनशील और गतिशील नहीं होती।

1.4 संस्कृति के तत्व

आपने पढ़ा कि संस्कृति में सन्तुलन और संगठन होता है। यह संगठन अनेक तत्वों, इकाइयों, भागों और उपभागों को मिलाकर बनता है। ये तत्व या भाग छोटे से छोटे या बड़े से बड़े हो सकते हैं। इनमें जो पारस्परिक संबन्ध तथा अन्तर्निर्भरता पाई जाती है, उसी के कारण संस्कृति के ढांचे में सन्तुलन और संगठन उत्पन्न होता है। संस्कृतिके विभिन्न उपादानों को, जिनसे उसके ढांचे का निर्माण होता है, सांस्कृतिक तत्व, संस्कृति संकुल, संस्कृति प्रतिमान और सांस्कृतिक क्षेत्र कहा जाता है। ये सभी क्रमशः संस्कृति के बढ़ने वाले उपादान हैं और वह इस अर्थ में कि संस्कृति के तत्व/लक्षणसंस्कृति की सबसे छोटी इकाई है, जो परस्पर मिलकर एक संस्कृति संकुल(culture complex) का निर्माण करती है। ये संस्कृति संकुल, संस्कृति के ढांचे में एक विशेष ढंग से व्यवस्थित रहते हैं, जिससे संस्कृति को एक विशिष्ट स्वरूप प्राप्त होता है। संस्कृति के इस विशिष्ट स्वरूप को संस्कृति प्रतिमान कहते हैं। इस संस्कृति प्रतिमान अर्थात् एक प्रकार की जीवन विधियों का फैलाव जिस विशिष्ट क्षेत्र में पाया जाता है, उसे सांस्कृतिक क्षेत्र कहते हैं।

1.4.1 सांस्कृतिकतत्व—(Culture Trait or Element)

संस्कृति के अन्तर्गत सम्पूर्ण जीवन विधियों का समावेश होता है। एक-एक विधि संस्कृति की एक-एक इकाई या तत्व है। संस्कृति की इन इकाइयों या तत्वों को सांस्कृतिक तत्व कहते हैं और ये तत्व

भौतिक और अभौतिक दोनों प्रकार के हो सकते हैं। इस प्रकार के असंख्यतत्वों को मिलाकर सम्पूर्ण सांस्कृतिक ढांचे का निर्माण होता है और इसकी सबसे छोटी इकाई को सांस्कृतिक तत्व कहा जा सकता है। किसी भी संस्कृति के विश्लेषण और निरूपण में इन इकाइयों या सांस्कृतिक तत्वों को पहले एकत्रित करना आवश्यक हो जाता है, क्योंकि इसके बिना संस्कृति के आधारभूत तत्वों या उपादानों को नहीं समझा जा सकता। प्रत्येक सांस्कृतिक तत्व का सम्पूर्ण सांस्कृतिक व्यवस्था में एक निश्चित स्थान तथा कार्य होता है। हॉबेल के अनुसार "एक सांस्कृतिक तत्व व्यवहार का एक प्रकार या इस प्रकार के व्यवहार से उत्पन्न एक भौतिक वस्तु है, जिसे सांस्कृतिक व्यवस्था की सबसे छोटी इकाई माना जा सकता है।" हर्सकोविट्ज ने सांस्कृतिक तत्व को एक संस्कृति विशेष में सबसे छोटी पहचानी जा सकने वाली इकाई कहा है और क्रोबर ने इसे 'संस्कृति का अति सूक्ष्म परिभाषित करने योग्य तत्व' के रूप में स्वीकार किया है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि सांस्कृतिक तत्व सम्पूर्ण सांस्कृतिक व्यवस्था की सबसे छोटी वह इकाई है, जिसका मानव जीवन में काम आने की दृष्टि से और विभाजन नहीं हो सकता।

सांस्कृतिक तत्व की तीन प्रमुख विशेषताएं हैं—

1. प्रत्येक सांस्कृतिक तत्व का उसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक इतिहास होता है, चाहे वह इतिहास छोटा हो या बड़ा। उदाहरणार्थ सर्वप्रथम घड़ी का आविष्कार किसने किया और कब किया, आधुनिक एवं स्वयं क्रियाशील या अपने-आप चलने वाली घड़ी का विकास कैसे हुआ, आदि के सम्बन्ध में एक इतिहास है। इसी प्रकार एक विशेष प्रकार के विश्वास का या किसी पशु या पौधे का टोटम के रूप में स्वीकार करने का एक इतिहास ढूंढा जा सकता है। ऐसे ही भारत में 'जय हिन्द' अभिवादन या सांस्कृतिक एकता का प्रतीक है। 'जय हिन्द' सांस्कृतिक तत्व है। सांस्कृतिक तत्वों का निजी अस्तित्व होते हुए भी वे सम्पूर्ण संस्कृति में घुले मिले रहते हैं। एक तत्व अन्य तत्वों पर आश्रित रहता है।

2. गतिशीलता सांस्कृतिक तत्व की एक उल्लेखनीय विशेषता है। इनकी संख्या में भी वृद्धि होती है। सांस्कृतिक तत्व से सम्बन्धित व्यक्ति जैसे-जैसे एक स्थान से दूसरे स्थान को फैलते हैं या दूसरे लोगों के सम्पर्क में आते हैं, वैसे-वैसे सांस्कृतिक तत्व भी फैलते रहते हैं। एक संस्कृति समूह दूसरे संस्कृति समूह से मिलता है तो सांस्कृतिक तत्वों का आदान-प्रदान होता है। आधुनिक युग में यातायात तथा संचार के साधनों में उन्नति होने के फलस्वरूप सांस्कृतिक तत्वों की गतिशीलता और भी बढ़ गई है। अनेक जनजातियों के सांस्कृतिक तत्व भी सभ्य समाजों में तेजी से फैलते जा रहे हैं। यह विशेषता अन्त तक सांस्कृतिक परिवर्तन का एक कारण बन जाती है और संस्कृति के ढांचे में परिवर्तन भी लाती है।

3. सांस्कृतिक तत्वों में पृथक-पृथक रहने की प्रवृत्ति नहीं होती है। ये सभी एक साथ मिलकर संस्कृति की एक या विविध आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। इन तत्वों को समझे बिना किसी भी संस्कृति को पूर्णतया समझना संभव नहीं है। किसी भी संस्कृति के अध्ययन, विश्लेषण तथा निरूपण में ये सांस्कृतिक तत्व वे प्राथमिक चरण या आधार हैं, जिन पर सम्पूर्ण सांस्कृतिक ढांचा निर्भर रहता है। गिफोर्ड तथा क्रोबर ने संस्कृति का अध्ययन सांस्कृतिक तत्व सम्बन्धी प्रश्नावली की सहायता से किया था। इन तत्वों के अध्ययन से एक और लाभ यह होता है कि इनके आधार पर दो या अधिक संस्कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन संभव हो जाता है। टायलर ने भी इसी आधार पर विभिन्न संस्कृतियों का अध्ययन किया। इसी प्रकार बोआस ने यह अध्ययन करने के लिए कि पौराणिक कथाओं का मानव जीवन के तरीकों पर क्या प्रभाव पड़ता है, विभिन्न संस्कृतियों के सांस्कृतिक तत्वों को तुलनात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है।

1.4.2 संस्कृति संकुल (culture complex)

मानव संस्कृति या समाज में एक सांस्कृतिक तत्व का कोई अर्थ नहीं होता है। प्रायः अनेक सांस्कृतिक तत्व एक साथ गुँथे रहकर मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। इसे ही संस्कृति संकुल

कहा जाता है। हॉबेल के अनुसार “संस्कृति संकुल घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित प्रतिमानों का एक जाल है।” उदाहरण के लिए भाषा एक संस्कृति संकुल है, क्योंकि इसके अन्तर्गत अनेक शब्दों, वाक्यों, कहावतों, व्याकरण आदि का, जो एक-एक सांस्कृतिक तत्व है, समावेश होता है। भाषा इन सबका अर्थपूर्ण संग्रह है जिसके द्वारा विचारों का आदान-प्रदान संभव होता है। इसी प्रकार भारत में खेती एक सांस्कृतिक तत्व है, परंतु इससे संबन्धित अन्य तत्व हैं, जैसे खेत जोतने के पहले हल और बैल की पूजा, यज्ञ आदि करना, चिड़ियों से फसल की रक्षा के लिए बिजूका लगाना, फसल काटकर खलिहान में रखना, अनेक प्रकार के अनाजों से भोजन बनाना आदि। किसी प्रतियोगिता में प्रयोग की जाने वाली हर एक वस्तु, नियम, दर्शकों द्वारा दिया जाने वाला प्रोत्साहन, विजय तथा पुरस्कार एवं विजय समारोह सभी एक तत्व है। इन सब तत्वों के योगको ही संबन्धित प्रतियोगिता का संकुल कहा जाएगा। संस्कृति संकुल के अनेक उदाहरण हमें अपने तथा आदिम समाज दोनों में ही मिल सकते हैं। कुछ संस्कृति संकुलों को सह संकुलों में भी विभाजित किया जा सकता है।

1.4.3 संस्कृति प्रतिमान (Culture Pattern)

हर्सकोविट्ज के अनुसार “संस्कृति प्रतिमान एक संस्कृति के तत्वों का वह डिजाइन है, जो उस समाज के सदस्यों के व्यक्तिगत व्यवहार प्रतिमान के माध्यम से व्यक्त होता हुआ जीवन को सम्बद्धता, निरन्तरता तथा विशिष्ट स्वरूप प्रदान करता है।” प्रत्येक संस्कृति में चाहे वह आदिम समाज की हो या सभ्य समाज की, एक संगठन होता है। संस्कृति इन तत्वों या संकुलों से इस प्रकार बनी होती है, जिस प्रकार पत्थरों से एक मकान। संस्कृति संकुलों के एक विशिष्ट ढंग से व्यवस्थित हो जाने से संस्कृति प्रतिमान बनता है और इन संस्कृति प्रतिमानों की सम्पूर्ण व्यवस्था को संस्कृति कहते हैं। अतः स्पष्ट है कि सम्पूर्ण सांस्कृतिक ढांचे के अन्दर एक विशिष्ट ढंग या क्रम से सजे हुए संस्कृति संकुलों के सम्मिलित रूप को संस्कृति प्रतिमान कहते हैं। उदाहरण के लिए भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत पाए जाने वाले संस्कृति प्रतिमान, जैसे जाति प्रथा, संयुक्त परिवार, धार्मिक भिन्नता, अध्यात्म, जीवन दर्शन, गांधीवाद आदि इस संस्कृति की विशेषताओं और आधारों को बताते हैं।

1.4.4 संस्कृति क्षेत्र (Culture Area)

वह भौगोलिक क्षेत्र जिसमें संस्कृति के एक से तत्व या संकुल विशेष रूप से पाए जाते हैं, सांस्कृतिक क्षेत्र कहलाता है। हर्सकोविट्ज के अनुसार “उस क्षेत्र को जिसमें एक सी संस्कृतियां पाई जाती हैं, एक सांस्कृतिक क्षेत्र कहा जाता है।” संस्कृति को चूँकि सीखा जाता है, इस कारण कोई भी व्यक्ति किसी भी संस्कृति को सीख सकता है। परंतु अपने पास पड़ोस की संस्कृति को सीखना जितना सरल है, उतनी सरलता से दूर की संस्कृतियों को नहीं सीखा जा सकता। इस कारण सांस्कृतिक तत्वों में गतिशीलता का गुण होते हुए भी एक निश्चित भूभाग में ही वे विशेष रूप से पाए जाते हैं। ऐसा भी हो सकता है कि एक ही सांस्कृतिक तत्व विभिन्न क्षेत्रों में समान या एक से हों, फिर भी संपूर्ण सांस्कृतिक व्यवस्था या संस्कृति संकुल में उनका स्थान या विशेषता भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में भिन्न होती है। क्लार्क विसलर के अनुसार “सांस्कृतिक तत्व और संकुल, विशेषकर वे अगर अभौतिक हैं, दूसरे संस्कृति के तत्वों और संकुलों के साथ मिश्रित हुए बिना अधिक दूर तक नहीं फैल सकते। इसका प्रभाव यह होता है कि ये सांस्कृतिक तत्व और संकुल अपने मूल रूप में केवल एक सीमित क्षेत्र में ही पाए जाते हैं।” विजलर ने लिखा है “सांस्कृतिक क्षेत्र वह भौगोलिक प्रदेश है, जिसमें काफी संख्या में एक सी संस्कृति वाली बहुत कुछ स्वतंत्र जनजातियां निवास करती हैं।” जैसा कि क्षेत्र शब्द से पता चलता है कि सांस्कृतिक क्षेत्र की कोई निश्चित सीमा रेखा नहीं होती है और वह इस अर्थ में स्पष्ट नहीं कहा जा सकता कि किसी स्थान पर एक सांस्कृतिक क्षेत्र समाप्त हुआ और दूसरा सांस्कृतिक क्षेत्र आरंभ हुआ। एक सांस्कृतिक क्षेत्र के आस-पास के जितने भी क्षेत्र या

प्रदेश होंगे, उन सब में उस सांस्कृतिक क्षेत्र की विशेषताएं अनेक रूपों में देखने को मिल सकती हैं। परंतु उसका यह फैलाव अनेक बातों पर निर्भर करेगा, जैसे यातायात और संचार के उपलब्ध साधन, सांस्कृतिक सम्पर्क स्थापित करने में प्राकृतिक बाधाएं, उस प्रदेश की अन्य भौगोलिक परिस्थितियां आदि। वास्तव में संस्कृतियों के विभिन्न स्वरूपों के निर्माण का मूल कारण है, उनको अपनाने और ग्रहण करने वाले विभिन्न मानव अंशों के समूहों की विशिष्ट मौलिक शक्ति। इतिहासकारों का कथन है कि एक संस्कृति के तत्वों को दूसरी संस्कृति वाले मानव समूह पूर्ण रूप से कभी नहीं अपना सकते। अन्य मानव समूह अपने से भिन्न संस्कृति का अनुकरण केवल बाहरी रूप में ही कर पाता है और अन्य संस्कृतियों की विशेषताओं को अपनाते हुए उनमें अपनी मौलिक प्रवृत्ति के अनुसार परिवर्तन कर देता है। यूनान की संस्कृति को यूरोप के रोमन लोगों ने परिवर्तित करके अपना लिया। इसी प्रकार भारत में आर्य संस्कृति ने संपर्क में आने पर लिंग पूजा और शिव पूजा अपना ली, अरब संस्कृति ने भारत की चिकित्सा प्रणाली और बीजगणित को अपनाया तो यूनान की संस्कृति ने भारतीय संस्कृति के दार्शनिक सिद्धांतों को अपनाया। आधुनिक यूरोप की संस्कृति में यहूदी, यूनानी और रोमन संस्कृतियों की विशेषताएं सम्मिलित हैं।

आधुनिक युग में यातायात और संचार के साधनों में उत्तरोत्तर प्रगति होने के कारण सांस्कृतिक आदान-प्रदान तथा अवसर के साधन बढ़ते जाने के कारण सांस्कृतिक क्षेत्र की सीमा रेखाएं और भी अनिश्चित होती जा रही हैं। आधुनिक समाज की संस्कृति का वास्तविक भौगोलिक क्षेत्र या सांस्कृतिक क्षेत्र तो सारी दुनिया है, जिसे भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया के रूप में समझा जा सकता है।

अभ्यास प्रश्न

निम्न पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए

- (क) सांस्कृतिक तत्व की व्याख्या कीजिए।
(ख) संस्कृति संकुल से आप क्या समझते हैं?
(ग) सांस्कृतिक क्षेत्र के बारे में बताइये।
- निम्न कथनों के सामने 'सही' और 'गलत' का उल्लेख कीजिए
(क) सांस्कृतिक ढांचे की सबसे छोटी इकाई सांस्कृतिक तत्व है।
(ख) गतिशीलता सांस्कृतिक तत्व की एक प्रमुख विशेषता है।
(ग) भाषा एक संस्कृति संकुल नहीं है।
(घ) संस्कृति संकुलों के विशिष्ट ढंग से व्यवस्थित हो जाने से संस्कृति प्रतिमान बनता है।

1.5 सभ्यता और संस्कृति

सभ्यता (सिविलाइजेशन) और संस्कृति (कल्चर) दोनों शब्द प्रायः पर्याय के रूप में प्रयुक्त किए जाते हैं, फिर भी दोनों में मौलिक भिन्नता है। संस्कृति का संबंध व्यक्ति एवं समाज में निहित संस्कारों से है और उसका निवास उसके मानस में होता है। दूसरी ओर सभ्यता का क्षेत्र व्यक्ति और समाज के बाह्य रूप से है। इसलिए सभ्यता समाज के सामूहिक स्वरूप को आकार देती है। टायलर के अनुसार सभ्यता और संस्कृति पर्यायवाची शब्द हैं। वह लिखते हैं "संस्कृति अथवा सभ्यता वह जटिल तत्व है, जिसमें ज्ञान, नीति, कानून, रीति-रिवाजों तथा दूसरी उन योग्यताओं और आदतों का समावेश है, जिन्हें मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के नाते प्राप्त करता है।" हर्सकोविट्ज के अनुसार "सभ्यता और संस्कृति एक दूसरे के पर्याय हैं और संस्कृति के लिए एक शब्द है "परम्परा" और दूसरा "सभ्यता"। इसके विपरीत मैलिनोव्स्की का मत है कि "सभ्यता और संस्कृति शब्दों का प्रयोग भिन्न अर्थों में होना चाहिए। उनका कथन है कि "ऊँची संस्कृति के एक खास पहलू को सभ्यता कहते हैं।...संस्कृति सामाजिक विरासत है जिसमें परंपरा से पाया हुआ कला, कौशल, वास्तु सामग्री, यांत्रिक क्रियाएं, विचार, आदतें और मूल्यों का समावेश होता है।" हुमायूँ कबीर के

मत में "संस्कृति सभ्यता की उपलब्धि है। संस्कृति का जन्म तभी हुआ जब सभ्यता ने मानव अस्तित्व की समस्या हल कर ली या जब सभ्यता ने मनुष्य को दैनिक जीवन की आवश्यकताओं से मुक्ति दे दी।" ओसवाल्ड स्पेंगलर ने संस्कृति और सभ्यता में विभेद माना है। उनका मत है कि सभ्यता किसी संस्कृति की चरम अवस्था और अनिवार्य परिणति है। हर संस्कृति की अपनी सभ्यता होती है। संस्कृति विस्तार है तो सभ्यता कठोर स्थिरता।" ट्वायनबी ने संस्कृति शब्द का प्रयोग नहीं किया, बल्कि सभ्यता शब्द का प्रयोग किया। यांत्रिक व्यवस्था और सभ्यता में अन्तर मानते हुए उन्होंने कहा है कि "यांत्रिक उन्नति न तो सांस्कृतिक उन्नति के लिए आवश्यक है और न उसकी सहकारी ही है। कभी-कभी यांत्रिक प्रगति सभ्यता के अवरोध तथा अवनति के सहयोग से होती है, उसके साथ-साथ होती है।" इतिहास में ऐसे अवसर हुए हैं जबकि यांत्रिक प्रगति हो रही है और सभ्यता की प्रगति या तो नहीं हो रही है अथवा उसमें अवनति हो रही है। उदाहरण के लिए कई स्थानों में कृषि शिल्प की उन्नति सभ्यता की अवनति के साथ देखी गई है। टी. एस. इलियट के अनुसार "शिष्ट व्यवहार, ज्ञानार्जन, कलाओं का सेवन आदि के अतिरिक्त किसी जाति अथवा राष्ट्र की वे समस्त क्रियाएं व कार्य, जो उसे विशिष्ट बनाते हैं, उसकी संस्कृति के अंग हैं, जैसे घुड़दौड़, नावों की प्रतियोगिता, खान-पान का प्रकार, संगीत नृत्य आदि।" उन्होंने अपनी पुस्तक 'नोट्स टुवर्ड्स डेफिनिशन ऑफ कल्चर' में लिखा है कि "व्यक्ति की संस्कृति समूह या वर्ग की संस्कृति पर और वर्ग की संस्कृति उससे पूर्ण समाज की संस्कृति पर, जिसका वह अंग है, निर्भर करती है। परिवार संस्कृति के विकास में बड़ा कार्य करता है। यह व्यक्ति को मुख्य रूप से दैनिक शिष्टाचार, खान-पान एवं रहन-सहन के तरीकों की शिक्षा देता है और अपने सदस्यों में विभिन्न तरीकों का भी विकास करता है।" ये सब संस्कृति के महत्वपूर्ण अंग हैं।

1.5.1 सभ्यता का अर्थ

मनुष्य की समस्त प्रगति सभ्यता (सिविलाइजेशन) कहलाती है। अंग्रेजी भाषा के Civilization शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के ब्यअपजें और ब्यअपे शब्द से हुई है जिसका अर्थ 'नगर' या 'नगर निवासी' है। जे. एच. फिचर के अनुसार "एक सभ्य समाज के लोग यायावर जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा बड़ी संख्या में स्थायी निवास बनाकर रहते हैं। उनकी लिखित भाषा होती है, उसमें कार्य विभाजन और विशेषीकरण पाया जाता है। उसका व्यवहार औपचारिक रूप से आदिम समाजों की अपेक्षा संस्थाकृत एवं जटिल होता है।" टायलर का मत है कि "सभ्यता मानव जाति की वह विकसित अवस्था है, जिसमें उच्च श्रेणी के वैयक्तिक एवं सामाजिक संगठन पाए जाते हैं, जिसका उद्देश्य मानव के गुणों, शक्ति और प्रसन्नता में वृद्धि करना है।" गिलिन और गिलिन ने संस्कृति के अधिक जटिल और विकसित रूप को ही सभ्यता कहा है। मैकाइवर एंड पेज के अनुसार "सभ्यता का तात्पर्य उस समग्र प्रक्रिया और संगठन से है, जिसे मनुष्य ने अपनी जीवन की परिस्थितियों को नियंत्रित करने के लिए निर्मित किया है। एस. एम. फेयरचाइल्ड का तर्क है कि "यह सांस्कृतिक विकास की एक उच्चतर अवस्था है, जिसकी विशेषता बौद्धिक, सौन्दर्यात्मक, तकनीकी एवं आध्यात्मिक उपलब्धियों के कारण है।" बी. एन. लूनिया 'प्राचीन भारतीय संस्कृति' में लिखते हैं "सभ्यता से तात्पर्य उन सब उपकरणों, कलाकौशल के तंत्र, भौतिक सामग्री, संस्थाओं और तरीकों से है, जिनके द्वारा मनुष्य उन जीवन स्थितियों का सृजन करता है, जिनमें रहकर वह अपनी मूल आवश्यकताओं को स्वतंत्रतापूर्वक और सरलतापूर्वक पूरा कर सके। सभ्यता द्वारा मनुष्य अपनी परिस्थितियों को इस प्रकार नियंत्रित और परिवर्तित करता है कि वह अधिकाधिक व्यक्तियों के लिए स्वतंत्रतापूर्वक रहने की स्थितियां प्रस्तुत कर सके। सभ्यता मानव क्रिया-कलापों से उत्पन्न होने वाली उन वस्तुओं का नाम है जो मनुष्य की सुरक्षा और स्वतंत्रता का कारण होती हैं। सभ्यता का निर्माण करके मनुष्य ने जीवित रहने की कठिन

क्रिया को रोचक तथा संपूर्ण बना लिया है और उन आवश्यकताओं को , जो उसके कष्ट का कारण थीं , आनन्द तथा रस का स्रोत बना दिया है।”

1.5.2 सभ्यता और संस्कृति में अन्तर

मनुष्य तीन स्तरों पर जीता और व्यवहार करता है— भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक। जबकि सामाजिक और राजनीतिक रूप से जीवन जीने के उत्तरोत्तर उत्तम तरीकों को तथा चारों ओर की प्रकृति के बेहतर उपयोग को 'सभ्यता' कहा सकता है और जब एक व्यक्ति की बुद्धि और अंतरात्मा के गहन स्तरों की अभिव्यक्ति होती है, तब उसे संस्कृति कहा जा सकता है। सभ्यता से मनुष्य के भौतिक क्षेत्र की प्रगति सूचित होती है, जबकि संस्कृति से मानसिक क्षेत्र की। मनुष्य की जिज्ञासा का परिणाम धर्म और दर्शन हैं। सौन्दर्य की खोज करते हुए वह संगीत, साहित्य, मूर्ति, चित्र, वास्तु आदि अनेक कलाओं व शिल्पों को उन्नत करता है। सामाजिक और राजनीतिक संगठनों का निर्माण करता है। इस प्रकार मानसिक क्षेत्र में उन्नति की सूचक उसकी प्रत्येक सम्यक कृति संस्कृति का अंग बनती है। इसमें प्रमुख रूप से धर्म, दर्शन, सभी ज्ञान विज्ञानों व कलाओं, सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाओं और प्रथाओं का समावेश होता है।

मैकाइवर और पेज ने इन दोनों के विभेद को इस प्रकार प्रकट किया है—1. सभ्यता को मापना सरल है, क्योंकि उसका सम्बन्ध वस्तुओं की भौतिक उपयोगिता से है। पर संस्कृति को नहीं, क्योंकि प्रत्येक समाज की अपनी मूल्य व्यवस्था होती है। मूल्यों में भिन्नता के कारण कोई ऐसा सर्वमान्य पैमाना नहीं जिसके आधार किसी संस्कृति को मापा जा सके और एक की तुलना में दूसरी को अच्छी या बुरी कहा जा सके। 2. सभ्यता उन्नतिशील है और वह एक दिशा में उस समय तक निरन्तर प्रगति करती है, जब तक उसके मार्ग में कोई बाधा न आए। आविष्कारों और नई खोजों के कारण सभ्यता में कई नए तत्व जुड़े हैं और पहले की अपेक्षा वह अधिक समृद्ध है। किन्तु संस्कृति के बारे में यह बात नहीं कही जा सकती। 3. एक समाज से दूसरे समाज में सभ्यता का हस्तांतरण बिना किसी परिवर्तन के किया जा सकता है, किन्तु संस्कृति का नहीं। उदाहरण के लिए रेल, वायुयान, मोटर, टाइपराइटर, कम्प्यूटर, उत्पादन की मशीनें आदि का एक समाज से दूसरे समाज में यथावत हस्तांतरण हो सकता है, परंतु एक समाज के रीति-रिवाजों, धर्म, दर्शन, मूल्यों, कला, विचारों और विश्वासों को बिल्कुल उसी रूप में हस्तांतरित नहीं किया जा सकता। उनमें थोड़ा बहुत परिवर्तन आ जाता है। 4. सभ्यता साधन है और संस्कृति साध्य। उदाहरणार्थ कला एवं संगीत हमें मानसिक शान्ति एवं आनन्द प्रदान करते हैं तो इन्हें प्राप्त करने के लिए हम कई उपकरणों व वाद्य यंत्रों का प्रयोग करते हैं जो सभ्यता के अंग हैं। 5. सभ्यता का संबन्ध जीवन की भौतिक वस्तुओं से है, जो मानव के बाह्य जीवन और व्यवहार से संबन्धित हैं। इस कारण इसमें परिवर्तन और सुधार संस्कृति की अपेक्षा सरल है। संस्कृति का संबन्ध मानव के आन्तरिक गुणों, विचारों, विश्वासों, मूल्यों, भावनाओं एवं आदर्शों से है। अतः कठिन परिश्रम के बिना संस्कृति में परिवर्तन एवं सुधार संभव नहीं है। सभ्यता की भांति संस्कृति में प्रतिस्पर्धा नहीं पाई जाती। गिसबर्ट (लपेइमतज) का कथन है कि सभ्यता यह बताती है कि हमारे पास क्या है, जबकि संस्कृति यह बताती है कि हम क्या हैं। 6. सभ्यता मूर्त है, जबकि संस्कृति अमूर्त है।

1.5.3 सभ्यता और संस्कृति का संबन्ध

सभ्यता के द्वारा ही संस्कृति एक समाज से दूसरे समाज को एवं एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित की जाती है। सभ्यता का निर्माण करके ही मनुष्य सांस्कृतिक विकास के पथ पर अग्रसर होता है। प्रायः मनुष्य की उपयोगिता से संबन्ध रखने वाली तथा निरुपयोगी रुचियां एक दूसरे से मिली रहती हैं। जब मनुष्य खेतों में काम करता है, तबवह गीत भी गाता है। उपयोगी वस्तुओं को बनाते हुए वह प्रयास करता है किये वस्तुएं सुन्दर भी हों। जब मनुष्य भवनों का निर्माण करता है, तब उन्हें उपयोगी बनाते हुए सुन्दर बनाने का प्रयत्न भी करता है। मनुष्य के उपयोगी क्रिया-कलापों पर उसके नैतिक तथा दार्शनिक

विचारों और निष्ठाओं का प्रभाव पड़ता है। वास्तविक जीवन में मनुष्य के उपयोगी और सांस्कृतिक क्रिया-कलाप परस्पर मिश्रित हो जाते हैं।

प्रत्येक सभ्यता, प्रत्येक संस्कृति अपने आप में पूर्ण होती है। उसके सभी अंश एक-दूसरे पर अवलम्बित और किसी एक केन्द्र से संलग्न होते हैं। सभ्यता का संबन्ध उपयोगिता के क्षेत्र से है और संस्कृति का मूल्यों के क्षेत्र से है। मैकाइवर तथा हुमायूँ कबीर के मतानुसार सभ्यता और संस्कृति में वही संबन्ध है, जो साध्य और साधनों में होता है। परंतु जिस प्रकार साध्य और साधनों को एक-दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार सभ्यता तथा संस्कृति को भी एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। मनुष्य की कल्पना के कुछ क्षेत्र जैसे कला, काव्य और साहित्य, जहां सौन्दर्य और उपयोगिता के पहलू एक-दूसरे से अनिवार्य रूप से सम्मिश्रित हो जाते हैं, वहां सभ्यता और संस्कृति दोनों का ही समन्वय हो जाता है। डी.डी. कोसंबी का कथन है कि "कुछ लोग संस्कृति को धर्म, दर्शन, कानून व्यवस्था, साहित्य, कला, संगीत आदि के साथ जोड़कर नितांत बौद्धिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों के रूप में ही ग्रहण करते हैं। कभी-कभी इसका विस्तार करके शासक वर्ग के शिष्टाचारों का भी इसमें समावेश कर लिया जाता है। परंतु इस प्रकार की संस्कृति को इतिहास का प्रेरणास्रोत मानने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। किसी भी समुन्नत संस्कृति का मूलाधार है अनाज की सुलभता और वह भी वास्तविक अनाज उत्पादक की अपनी निजी आवश्यकता की पूर्ति के बाद बचे हुए अनाज की सुलभता। मेसोपोटामिया के भव्य जिक्कुरात मन्दिर, चीन की महान दीवार, मिस्र के पिरामिड या आधुनिक गगनचुम्बी इमारतें खड़ी करने के लिए उस काल में अतिरिक्त अनाज की उतनी ही अधिक सुलभता भी अवश्य रही होगी।"

सभ्यता और संस्कृति मनुष्य के सृजनात्मक क्रियाकलापों के ही परिणाम हैं। जब ये क्रियाकलाप मूलभावना, चेतना और कल्पना को प्रबुद्ध करते हैं, तब संस्कृति का उदय होता है। किन्तु वैज्ञानिक चिन्तन तथा सामाजिक और राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में उपयोगिता, मूल भावना, चेतना और कल्पना के पहलू परस्पर मिल जाते हैं। जब एक वैज्ञानिक अपने प्रयोगों और अन्वेषणों में सत्य की खोज करता है, तब उसके क्रियाकलाप सांस्कृतिक हैं। परंतु जब वह एक आविष्कारक और निर्माता के रूप में प्राकृतिक शक्तियों को मनुष्य की उपयोगिता के लिए नियंत्रित करता है, तब वह सभ्यता का सृजन करता है। मनुष्य स्वभावतः प्रगतिशील प्राणी है। वह बुद्धि के प्रयोग से अपने चारों ओर की प्राकृतिक परिस्थिति को निरंतर सुधारता और उन्नत करता रहता है। ऐसे समाज, जाति या वर्ग जो सांस्कृतिक दृष्टि से उन्नत या श्रेष्ठ नहीं हैं, उच्च कोटि की सभ्यता को जन्म नहीं दे सकते हैं। जब तक लोग संस्कृति के एक विशिष्ट स्तर तक नहीं आ जाते, तब तक वे लोकतंत्र, समाजवाद और साम्यवाद जैसे जटिल सामाजिक और आर्थिक संगठनों तथा संस्थाओं को आयोजित या विकसित नहीं कर सकते।

इस प्रकार आप समझ पाए होंगे कि सांस्कृतिक क्रियाकलापों से सभ्यता विकसित होती है। संस्कृति के अभाव में सभ्यता अपना अस्तित्व बनाए नहीं रख सकती। संस्कृति और सभ्यता की प्रगति अधिकतर एक साथ होती है और दोनों का एक-दूसरे पर प्रभाव भी पड़ता है। संस्कृति मनुष्य के जीवन और अस्तित्व को अधिक सचेतन, व्यापक और समृद्ध बनाती है, उसकी आध्यात्मिकता में वृद्धि करती है, धर्म और दर्शन का विकास करती है, संस्कृति की यह सार्थकता है। अक्सर हम सभ्यता और संस्कृति शब्दों का प्रयोग अपने व्यवहार में प्रायः एक ही अर्थ में करते हैं। पर समाजशास्त्रियों ने इन दोनों में विभेद भी किया है। सभ्यता का तात्पर्य प्रायः उच्च आदर्शों और मूल्यों से युक्त समाज के अर्थ में किया जाता है। पर कई मानवशास्त्रीय अध्ययनों से यह निष्कर्ष भी निकले हैं कि बहुत से आदिम समाजों के अपने जीवन मूल्य, धारणाएं, विश्वास, नियम, धर्म तथा परंपराएं रही हैं। समय के साथ-साथ उन्होंने भी प्रकृति के सापेक्ष अपनी जीवन पद्धति में कुछ परिवर्तन किए, जो आधुनिक संदर्भों में उनकी संस्कृति की विशेषता थी।

अभ्यास प्रश्न

निम्न पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए

1. (क) सभ्यता से आप क्या समझते हैं?
(ख) सभ्यता और संस्कृति में अन्तर बताइये।
2. निम्न कथनों के सामने 'सही' और 'गलत' का उल्लेख कीजिए
(क) टायलर के अनुसार 'सभ्यता और संस्कृति पर्यायवाची शब्द हैं'।
(ख) हर्सकोविट्ज ने संस्कृति और सभ्यता को एक दूसरे का पर्याय बताया है।

1.6 सारांश

इस प्रकार उपर्युक्त अध्ययन से आप समझ पाए होंगे कि संस्कृति किसी समाज में गहराई से व्याप्त गुणों के समग्र रूप का नाम है, जो उस समाज के सोचने, विचारने, कार्य करने, खाने-पीने, बोलने, संगीत, नृत्य, गायन, साहित्य, कला, वास्तु शिल्प, दर्शन, धर्म और विज्ञान, रीति-रिवाज, परंपराओं, पर्व, जीने के तरीके और जीवन के विभिन्न पक्षों पर व्यक्ति विशेष के अपने दृष्टिकोण आदि में परिलक्षित होते हैं। मानव का शारीरिक-मानसिक अस्तित्व जिन साधनों से बना रहता है, उन साधनों की समग्रता को ही संस्कृति कहते हैं। वास्तव में जहां व्यक्ति सांस्कृतिक प्रक्रियाओं का परिणाम है, वहां संस्कृति भी व्यक्ति की प्रक्रियाओं का परिणाम है। इसके अन्तर्गत वे बौद्धिक, कलात्मक और सामाजिक आदर्श तथा संस्थाएं सम्मिलित हैं, जिन्हें समाज के सदस्य अपनाते हैं। संक्षेप में आप यह समझ सकते हैं कि संस्कृति किसी समाज के वे सूक्ष्म संस्कार हैं, जिनके माध्यम से लोग परस्पर संप्रेषण करते हैं, विचार करते हैं और जीवन के विषय में अपनी अभिवृत्तियों और ज्ञान को दिशा देते हैं। प्रत्येक संस्कृति के कुछ जीवन मूल्य होते हैं, जिनका पालन करने की अपेक्षा उस सांस्कृतिक परिवेश से जुड़े समाज के सदस्यों द्वारा की जाती है। इसी प्रकार विभिन्न संस्कृतियों में विभिन्न प्रकार की धारणाएं और विश्वास भी प्रचलित होते हैं। संस्कृति में जो सन्तुलन और संगठन होता है, वह अनेक छोटे-बड़े तत्वों, इकाइयों, भागों और उपभागों के पारस्परिक संबन्ध तथा अन्तर्निर्भरता के कारण बनता है। विभिन्न संस्कृतियों में निहित तत्वों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि विभिन्न समूहों में एक दूसरे के विचारों और परंपराओं का आदान-प्रदान भी होता रहा है। संस्कृति के विभिन्न उपादानों को, जिनसे उसके ढांचे का निर्माण होता है, सांस्कृतिक तत्व, संस्कृति संकुल, संस्कृति प्रतिमान और सांस्कृतिक क्षेत्र कहा जाता है।

संस्कृति अर्जित व्यवहार तथा समाज में रहने वाले व्यक्तियों का विचार है। संस्कृति की विशेषताओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि संस्कृति अमूर्त है। इसका संबन्ध समाज और व्यक्ति से है। दूसरी ओर सभ्यता में हम मानव निर्मित भौतिक वस्तुओं को सम्मिलित करते हैं। सभ्यता शब्द का प्रयोग मानव समाज के एक सकारात्मक, प्रगतिशील और समावेशी विकास को इंगित करने के लिए किया जाता है। सभ्यता और संस्कृति में विभेद होते हुए भी दोनों की प्रगति अधिकतर एक साथ होती है। दोनों एक दूसरे को प्रभावित करती हैं और परस्पर प्रभावित भी होती हैं। प्रायः प्रत्येक समाज में राजनीतिक और आर्थिक रूप से प्रभुत्व सम्पन्न समूह ही सभ्यता का प्रतीक होता है। लोग अपनी अपनी सामर्थ्य के अनुसार उनके रहन-सहन, आचार-विचार, वेश-भूषा आदि का अनुकरण करने लगते हैं। उनकी भाषा सभ्य और सुशिक्षित होने की पहचान का मानक और शिक्षा ज्ञान, विधान और प्रशासन का माध्यम बन जाती है।

1.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

खण्ड 1.2 के उत्तर

1. (क) व (ख) देखें 1.2
2. (क) देखें 1.2(सही) (ख) देखें 1.2 (गलत)

खण्ड 1.3 के उत्तर

1. (क) देखें 1.3.1 (ख) देखें 1.3.1
2. (क) देखें 1.3.1 (सही) (ख) देखें 1.4.1 (गलत)

खण्ड 1.4 के उत्तर

1. (क) देखें 1.4.1 (ख) देखें 1.4.1 (ग) देखें 1.4.4
2. (क) देखें 1.4.1 (सही) (ख) देखें 1.4.1 (सही)
(क) देखें 1.4.2 (गलत) (ख) देखें 1.4.3 (सही)

खण्ड 1.5 के उत्तर

1. (क) देखें 1.5 (ख) देखें 1.5.2
2. (क) देखें 1.5 (सही) (ख) देखें 1.5 (सही)

1.8 निबन्धात्मक प्रश्न

1. संस्कृति का अर्थ स्पष्ट करते हुए बताइये कि संस्कृति से आप क्या समझते हैं?
2. संस्कृति की प्रकृति की विस्तार से व्याख्या कीजिए।
3. संस्कृति के तत्वों की विवेचना कीजिए।
4. सभ्यता और संस्कृति पर एक निबन्ध लिखिए।

1.9 उपयोगी पाठ्य सामग्री एवं संदर्भ ग्रन्थ

1. मैकाइवर—पेज, सोसायटी एन इंट्रोडक्टरी एनेलिसिस, न्यूयॉर्क 1909
2. रवीन्द्रनाथ मुखर्जी, सामाजिक मानवशास्त्र की रूपरेखा, दिल्ली 2007
4. एन. के. बोस, कल्चर एंड सोसाइटी इन इण्डिया, 1967, बॉम्बे
5. बी. एन. लूनिया, प्राचीन भारतीय संस्कृति, आगरा, 1966, 1977
6. टी. एस. इलियट, नोट्स टुवर्ड्स द डेफिनिशन ऑफ कल्चर, 1948, इंग्लैण्ड,
7. मेनस्प्रिंग्स ऑफ सिविलाइजेशन, ई. हंटिंग्टन, न्यूयॉर्क, 1945
8. रुथ बेनेडिक्ट, पैटर्न्स ऑफ कल्चर, बोस्टन, 1934
9. रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पटना, 1956

ब्लॉक एक

इकाई दो: भारतीय संस्कृति की विशेषताएं

2.0 प्रस्तावना

2.1 उद्देश्य

2.2 भारतीय संस्कृति और भौगोलिक परिदृश्य

2.3 समन्वयवादी संस्कृति

2.3.1 भारतीय संस्कृति पर विभिन्न जातियों और संस्कृतियों का प्रभाव

2.4 बहुदेववाद एवं अवतारवाद

2.5 कर्म व पुनर्जन्म का सिद्धान्त

2.6 वर्ण एवं जाति प्रथा

2.7 भाषागत विशेषताएं

2.8 हिन्दू धर्म व संस्कृति

2.9 सारांश

2.10 तकनीकी शब्दावली

2.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

2.12 सहायक पाठ्य सामग्री

2.13 निबंधात्मक प्रश्न

2.0 प्रस्तावना

प्रत्येक संस्कृति का विकास एक निश्चित भौगोलिक, आर्थिक परिवेश में होता है। अपने परिवेश से अनुकूलन करने अथवा उसे अपने अनुकूल बनाने और जीवन के लिए आवश्यक सुविधाओं को जुटाने के प्रयास में मानव समुदायों में विशेष प्रकार की जीवन पद्धति का विकास होता है। उनका खान, पान, सन्निवेशों का स्वरूप, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, प्रशासनिक व्यवस्था, संस्थाएं, धारणाएं सब की सब एक निश्चित भौगोलिक परिस्थिति की देन होती हैं। भौगोलिक परिस्थितियों में परिवर्तन आने पर सभ्यताओं का अवसान होने लगता है अथवा वहां रहने वाले लोग अपने क्षेत्र को छोड़कर अन्य क्षेत्रों की ओर संक्रमित

होने के लिए बाध्य होते हैं। संक्रमण की यह प्रक्रिया सभ्यताओं के अभ्युदय और अवसान दोनों में चलती रहती है। इस संक्रमण या संस्कृतियों के बीच संपर्क के कारण विभिन्न समुदायों की भाषा, धर्म, रीति-रिवाज, राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। कार्ल सौएर के अनुसार प्रत्येक सांस्कृतिक क्षेत्र मूलतः एक आर्थिक क्षेत्र होता है और उसका गठन तथा ऐतिहासिक विकास क्षेत्र के भौतिक संसाधनों द्वारा निर्धारित होता है (इंसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशियल साइंसेज , न्यूयॉर्क, 1953, खण्ड 5)। भारतीय भूभाग को देखें तो यह एक विशिष्ट भौगोलिक, प्राकृतिक और उनसे निर्मित सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्र है। दूसरे शब्दों में कहें तो किसी देश के इतिहास और उसके निवासियों के जीवन को उस क्षेत्र की भौगोलिक परिस्थितियां प्रभावित करने वाला कारक होती हैं। यह भूगोल उन निवासियों की शारीरिक बनावट, मानसिक तथा शारीरिक विकास एवं कार्यों, रहन-सहन, रीति-रिवाज, वेश-भूषा, भोजन, उद्योग-धंधे, सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं पर भी प्रभाव डालता है।

2.1 उद्देश्य

•पिछले अध्याय में आप संस्कृति के अर्थ और प्रकृति के बारे में विस्तार से पढ़ चुके हैं। यहां आप भारतीय संस्कृति की विशेषताओं का अवगाहन करेंगे। साथ ही अन्य संस्कृतियों के साथ इसके सम्पर्क से होने वाले परस्पर प्रभाव की भी समीक्षा करने में सक्षम होंगे।

•सांस्कृतिक परंपराओं पर ऐतिहासिक एवं वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण अपनाकर ही आप भारतीय संस्कृति की विशेषताओं को समुचित ढंग से परिभाषित कर सकेंगे।

•आप यह भी समझ पाएंगे कि प्रत्येक संस्कृति में कुछ तत्व ऐसे होते हैं, जो किसी काल-विशेष में किसी भू-भाग के समाज के लिए देशकाल और परिस्थिति के अनुरूप सम्मिलित किए गए, पर वर्तमान में अप्रासंगिक हो गए हैं। उदाहरण के लिए वर्ण और जाति व्यवस्था एक समय शायद स्वाभाविक थी और आज भारतीय संस्कृति की मानववादी परंपराओं के लिए अनुचित भी है।

•आप यह भी समझेंगे कि भारतीय संस्कृति किसी एक धर्म या संप्रदाय की संस्कृति का प्रतिनिधित्व नहीं करती, अपितु प्रागैतिहासिक काल से लेकर वर्तमान तक इस संस्कृति में विभिन्न धाराओं का समावेश हुआ और इन सभी की विशेषताओं से मिलकर इस बहुरंगी संस्कृति ने जन्म लिया।

2.2 भारतीय संस्कृति और भौगोलिक परिदृश्य

भारत की भौगोलिक परिस्थितियों ने उसके ऐतिहासिक और सांस्कृतिक स्वरूप को विकसित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। भारतीय संस्कृति की विशेषताओं को समझने से पूर्व आपके लिए भारत की भौगोलिक संरचना को समझना आवश्यक है। उसी के प्रकाश में आप समझ पाएंगे इस विशाल भूभाग में भौगोलिक संरचनात्मक विविधता के साथ ही सांस्कृतिक रूप से भी विविधता दिखाई देती है।

उत्तर में महाहिमालय की विस्तीर्ण पर्वतमालाओं से लेकर दक्षिण के समुद्रतटीय क्षेत्र और पश्चिम में राजस्थान के मरुस्थलीय इलाकों से लेकर पूर्व में बंगाल की खाड़ी तक भारतीय संस्कृति में विविधताओं का निदर्शन होता है। इन क्षेत्रों में रहने वाले लोगों ने अपने क्षेत्र की परिस्थितियों के अनुरूप ही विशिष्ट जीवन पद्धति का विकास किया है। प्रायः सभी आरंभिक सन्निवेशों का विकास उन नदी घाटियों में हुआ जहां जमीन अधिक उपजाऊ थी और सिंचाई तथा आवागमन के साधन सुलभ थे। इसीलिए प्राचीन काल के

नागर सन्निवेशों के अवशेष प्रायः इन्हीं क्षेत्रों में मिलते हैं। जनसंख्या में वृद्धि होने के साथ ही अन्य उपजाऊ क्षेत्रों की तलाश में संक्रमण प्रारंभ हुआ। फलतः जिन क्षेत्रों में जमीन अधिक उपजाऊ थी, वहां जनसंख्या का घनत्व अधिक हुआ। दुर्गम एवं भौगोलिक जटिलताओं तथा विषम जलवायु वाले क्षेत्रों में कृषि विस्तार की संभावनाएं काफी कम होने से स्थायी जीवन पद्धति का विकास नहीं हो पाया। उन क्षेत्रों में व्यापार वाणिज्य का अधिक विकास हुआ और प्रव्रजनशीलता बनी रही। इस संचरणशील जीवन की छाया संबन्धित क्षेत्र के लोकगीतों में भी मिलती है। भौगोलिक परिस्थितियों के अनुरूप ही छोटे और बड़े राज्यों का भी विकास हुआ। समुद्र से उत्तर और हिमालय से दक्षिण वाला भूभाग यहां सदा से एक इकाई माना जाता रहा। वायु पुराण में उल्लेख है कि,

“उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्

वर्षं तद्भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः।”

अभ्यास प्रश्न

निम्न पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए

1. भारत के भूगोल ने उसकी संस्कृति को किस प्रकार प्रभावित किया है?

2.3 समन्वयवादी संस्कृति

भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता है इसका समन्वयवाद। ऐतिहासिक कालक्रम में अनेक सभ्य व बर्बर कबीलों ने भी भारत की सीमाएं लांघ कर यहां प्रवेश किया, चाहे वे आक्रान्ता के रूप में आए या व्यापारी के रूप में, यहां के सामाजिक ताने-बाने में अपनी संस्कृति की छाप छोड़ी और स्वयं इसमें विलीन हो गए। भारतीय संस्कृति ने उनकी सांस्कृतिक उपलब्धियों को अंगीकार कर सबको अपने में समाहित कर लिया और हजारों वर्ष पुरानी इस संस्कृति का निरन्तर विकास किया। डी.डी. कोसंबी ने उचित ही कहा है कि “भारतीय संस्कृति की संभवतः सबसे बड़ी विशेषता है— अपने ही देश में इसकी निरंतरता।”

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी लिखा है—

“हेथाय आर्य, हेथाय अनार्य, हेथाय द्रविड़ चीन,
शक, हूण, दल,पाठान, मोगल एकदेहेहलोलीन”

भगवत शरण उपाध्याय के अनुसार “भारतीय संस्कृति अन्तहीन विभिन्न जातीय इकाइयों के सुदीर्घ संलयन का प्रतिफलन है। इसके निर्माण में विभिन्न जातियों का अत्यंत विविध, व्यापक और गहन योग रहा है। विश्व संस्कृति को भारत ने जितना दिया है, उतना संभवतः किसी अन्य अकेले राष्ट्र ने नहीं दिया। लेकिन विभिन्न संस्कृतियों की विशेषताओं को आत्मसात भी किया है, चाहे ऑस्ट्रिक, सुमेरी और असुरी, आर्य और ईरानी, यूनानी और शक, कुषाण और आभीरी, गुर्जरी और हूण, इस्लामी और यूरोपीय, प्रायः सभी ने भारत को विचारों का एक नया समुच्चय प्रदान किया।” जवाहर लाल नेहरू ने रामधारी सिंह दिनकर के ग्रंथ ‘संस्कृति के चार अध्याय’ की प्रस्तावना में लिखा है कि “कुछ लोगों ने हिन्दू, मुस्लिम और ईसाई संस्कृति की चर्चा की है। यद्यपि यह सच है कि जातियों और राष्ट्र की संस्कृतियों पर बड़े बड़े धार्मिक

आन्दोलनों का असर पड़ा है। भारत की ओर देखने पर मुझे लगता है, जैसा कि दिनकर ने भी जोर देकर दिखलाया है कि भारतीय जनता की संस्कृति का रूप सामासिक है और उसका विकास धीरे-धीरे हुआ है। एक ओर इस संस्कृति का मूल आर्यों से पूर्व मोहनजोदरो आदि की सभ्यता तथा द्रविड़ों की महान सभ्यता तक पहुंचता है। दूसरी ओर इस संस्कृति पर आर्यों की बहुत गहरी छाप है, जो भारत में मध्य एशिया से आए थे। पीछे चलकर यह संस्कृति उत्तर पश्चिम से आने वाले तथा फिर समुद्र की राह से पश्चिम से आने वाले लोगों से बार-बार प्रभावित हुई। इस प्रकार हमारी संस्कृति ने धीरे-धीरे बढ़कर अपना आकार ग्रहण किया। इस संस्कृति में समन्वयन तथा नए उपकरणों को पचाकर आत्मसात करने की अद्भुत योग्यता थी। जब तक इसका यह गुण शेष रहा, यह संस्कृति जीवित और गतिशील रही। लेकिन बाद में सामन्तों और मठाधीशों के निहित स्वार्थ और प्रतिद्वन्द्विता के कारण इसकी गतिशीलता जाती रही, जिससे यह जड़ हो गई और उसके सारे पहलू कमजोर पड़ गए। भारत के समग्र इतिहास में हम दो परस्पर विरोधी और प्रतिद्वन्द्वी शक्तियों को काम करते देखते हैं। एक तो वह शक्ति है, जो बाहरी उपकरणों को पचाकर समन्वय और सामंजस्य पैदा करने की कोशिश करती है और दूसरी वह जो विभाजन को प्रोत्साहन देती है, जो एक बात को दूसरी से अलग करने की प्रवृत्ति बढ़ाती है।”

इस समन्वयवादी संस्कृति के विकास में अनेक प्रजातियों और उनकी संस्कृतियों का संगम रहा है। ईसा पूर्व की दूसरी सहस्राब्दि के मध्य में आक्रमण कर विजय प्राप्त करने वाले आर्य कबीलों का भारतीय सभ्यता पर तीव्र प्रभाव पड़ा। इन्होंने अपने शत्रुओं को दस्यु, अनासा (चपटी नाक वाले), अदेववादी, यज्ञ विरहित, लिंग पूजक तथा दास जैसी उपाधियां दीं। किन्तु शीघ्र ही आर्यों के सामाजिक ढांचे में द्रविड़ सभ्यता के प्रभाव से तेजी से परिवर्तन हुआ। कालान्तर में हम देखते हैं कि आर्यों ने सिन्धु सभ्यता की अनेक विशेषताओं को अपना लिया। दिनकर के अनुसार “ इस भारत ने केवल उन्हें ही नहीं पचाया, जो आर्यों के बाद आए थे, उसने आर्यों को भी पचाकर उन्हें प्राग्वैदिक भारत का अंग बना दिया।” वे आगे लिखते हैं “अगर ईसाइयों और मुसलमानों को छोड़ दें, तब भी इस देश में एक के बाद एक कम से कम ग्यारह प्रजातियों के आगमन और समागम का प्रमाण मिलता है।.....नीग्रो, ऑस्ट्रिक, द्रविड़, आर्य, यूनानी, यूची, शक, आभीर, हूण, मंगोल और मुस्लिम आक्रमण के पूर्व आने वाले तुर्क इन सभी जातियों के लोग कई झुण्डों में इस देश में आए और हिन्दू समाज में दाखिल होकर सब के सब उसके अंग हो गए।” .कर्मकांड की जटिलता और बहुलता और ब्राह्मण वर्ग के सामाजिक जीवन पर हावी हो जाने के कारण तत्कालीन धार्मिक परंपराओं के भीतर से ही उसके विरुद्ध एक प्रचंड सांस्कृतिक विद्रोह उठा, जिसे एक प्रकार से शास्त्रीय परंपराओं के विरुद्ध लोक परंपराओं का विद्रोह भी कहा जा सकता है। इस विद्रोह ने धार्मिक उपासना का सरलीकरण किया। वेदों की सर्वाच्चता को नकारा, धार्मिक भाषा के रूप में संस्कृत के स्थान पर जनभाषाओं को महत्व दिया। वेदों की सत्ता को नकारने के कारण इन्हें नास्तिक परंपरा भी कहा जाता है। इनमें बौद्ध और जैन धर्म प्रमुख हैं। कालान्तर में ब्राह्मण परंपरा ने बुद्ध को अवतार मान लिया और धीरे-धीरे बौद्ध धर्म भी कुछ नये देवरूपों और स्मारकों का योगदान दे कर ब्राह्मण परंपरा में ही समा गया।

उत्तरी क्षेत्र की भौगोलिक दुर्गमता के कारण आर्यों के बाद बाहर से आव्रजन करने वाले लोग इस्लाम की तरह की किसी विशिष्ट धार्मिक परंपरा से जुड़े नहीं थे और वे कालान्तर में भारतीय संस्कृति में ही विलीन हो गये। सिथियन और हूण तथा उसके बाद भारत आने वाली कुछ अन्य जातियों के लोग राजपूतों की शाखाओं में शामिल हो गए। इस सम्मिलन से एक ओर विचारों और सिद्धांतों में उसने उदार होने का दावा किया, तो दूसरी ओर जाति प्रथा, छुआछूत जैसी कुप्रथाओं के चलते संकीर्णता में भी वृद्धि हुई। इस प्रकार न केवल मध्य एशिया के खानाबदोशों ने, जिनके पास अपनी कोई सामाजिक व्यवस्था या

सभ्यता न थी, भारत में प्रवेश किया और भारतीय जीवन को प्रभावित किया, ईसाई जीवन दर्शन और विश्वासों वाले लोग भी आए और इस देश में बस गए। दिनकर के मतानुसार "यहां तक कि इस्लाम जो अपने को स्वतंत्र रखने का मंसूबा लेकर चला था, वह भी भारत में आकर कुछ परिवर्तित हो गया। यद्यपि भारतीय मुसलमान धर्म के मामले में अपनी सत्ता को स्वतंत्र रखने में बहुत दूर तक कामयाब हुए, लेकिन संस्कृति की दृष्टि से वे भी अब भारतीय हैं।"

2.3.1 भारतीय संस्कृति पर विभिन्न जातियों और संस्कृतियों का प्रभाव

भारत में आकर बसने तथा यायावर जीवन का परित्याग करने के साथ ही आर्यों ने ऋग्वेद में दूसरे देशों के जो साहित्यिक और सांस्कृतिक शब्द सम्मिलित किए, उससे उनकी संस्कृति के समन्वित होने के संकेत मिलते हैं। भगवत शरण उपाध्याय के विवेचन से ज्ञात होता है कि विभिन्न परंपराएं जैसे शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित जल प्रलय की कहानी असुर जाति के जरिए सुमेरी परंपरा से ली गई। असुर जाति जिसने ईराक में फरात और दजला के ऊपरी भागों के अपने आवासों से निकल कर साम्राज्य विस्तार किया, ने वास्तुकला तथा विभिन्न ललित कलाओं के क्षेत्र में प्राचीन भारत को प्रभावित किया। महाभारत तथा पुराणों में असुर मय की चर्चा आचार्य और असाधारण वास्तुकार के रूप में हुई है। असुर, फिनीशियन, सुमेरी आदि के साथ व्यापारिक आदान-प्रदान से आर्थिक क्षेत्र में प्रभाव पड़ा। भारत और ईरान के संबन्ध भी अत्यंत प्राचीन रहे। समान उपासना शब्द बहुत अधिक संख्या में ऋग्वेद में प्रयुक्त हुए हैं। उन्होंने ही पश्चिम में प्राचीन यूनानियों से लेकर पूर्व में शायद भारतीयों तक फैले आर्य कबीलों को वर्णमाला दी। इस संपर्क ने न केवल व्यापारिक क्षेत्र को बल्कि शासन पद्धति को भी प्रभावित किया। द्रविड़ों की अनसिली पोशाकें, धोती और दुपट्टा जैसी पोशाकों ने आर्यों की व्यक्तिगत ऊनी पोशाकों को समृद्ध किया। परवर्ती युगों में ईरानी पद्धति ने न केवल कला एवं वास्तुकला के क्षेत्र में अपितु दरबारी रस्मों, दायें से बायें लिखी जाने वाली खरोष्ठी लिपि, शिलालेखों एवं स्तंभों पर आलेखों के अंकन में भी भारतीय संस्कृति को प्रभावित किया। एशिया में मिस्र से लेकर पाटलिपुत्र तक चार हजार ईसापूर्व से लेकर तीसरी सदी ई. पू. तक मिस्र-सुमेरिया, असुरिया-फारस, फारस-भारत की कड़ी अविच्छिन्न बनी रही। वास्तुकला के क्षेत्र में स्तूप सुमेर और बाबुल के जगगुरत तथा मिस्र के पिरामिड और मिनारा आदि में खोद कर निकाले गए मकबरे उन स्तूपों के पर्ववर्ती नमूने थे, जो गांधार, पश्चिमी पंजाब और सिंध में ईरानी प्रभुत्व के समय बने थे। मूर्तिकला के क्षेत्र में और भी महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। कनिष्क ने अपने सिक्कों में फारस के देवी-देवताओं के नामों का उल्लेख किया। जन्म कुण्डली के लिए संस्कृत में कोई शब्द नहीं है, भारतीय ज्योतिषि इसके लिए होड़ाचक्र का प्रयोग करते थे जो यूनानी शब्द होरस(सूर्य देवता) से बना है। सिकन्दर के अभियान के बाद भारतीय-यूनानी, भारतीय-पहलव, शक और कुषाणों ने यहां की राजनीति, सामाजिक आचार-व्यवहार तथा दर्शन एवं विचारों, खगोल विद्या, कला, सिक्के ढालने की कला, भारतीय शब्दावली (जैसे यवनिका) पर गहरा प्रभाव डाला। ज्योतिष में यूनानी प्रभाव का पता गार्गी संहिता और वाराहमिहिर से भी लगता है। गांधार कला के रूप में बुद्ध की मूर्तियों पर यूनानी प्रभाव स्पष्ट है। यूनानी संपर्क से भारत पश्चिमी जगत के संपर्क में आया। गुप्त काल में (चौथी से छठी शताब्दी तक) भारत में रोमन बस्तियां बसने लगीं। भारत के बाजारों में रोमन दीनार का प्रचलन हुआ। ज्योतिष पर रोमन प्रभाव भी है। रोमन सम्राटों के समकालीन प्रारंभिक कुषाण शासकों के सिक्कों पर रोम के मानदण्डों का प्रभाव है। यूनानियों द्वारा आरंभ की गई गांधार शैली को विकसित और प्रचलित करने का कार्य शकों और कुषाणों ने किया। शकों से शक संवत् प्राप्त हुआ (जिसकी स्थापना 78 ई. में कनिष्क ने की)। पांचवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में आए आभीर(अहीर) और गुर्जरो ने लोकप्रिय बोलियों प्राकृत और अपभ्रंश को प्रभावित किया और महत्वपूर्ण प्राकृत गुर्जरी से आधुनिक गुजराती भाषा का

जन्म हुआ। गुप्त काल में अनेक ईसाई बस्तियों का भी उदय हो चुका था। अरबों ने यूनानियों के दर्शन और विज्ञान को यूरोप के लिए संरक्षित किया और भारत से गणित तथा औषधि विज्ञान और चीन से कागज तथा छापे की मशीन पश्चिम में ले जाकर उसे प्रबुद्ध किया। अरबों से भारत में खगोलीय गणना का नया तरीका पंचांग और ताजिकिस्तान में फारसी भाषा में तैयार किए गए ताजिकी ग्रंथ के अन्तर्गत ढेर सारे विज्ञान लिए गए। इस्लाम का भाषा, साहित्य, कला, विज्ञान के क्षेत्र में प्रभाव पड़ा। इस्लामी प्रभाव का एक प्रमुख परिणाम था, मुस्लिम सूफी संतों का हिन्दू जनता से संपर्क। सूफी मत इस्लामी मत की कट्टरता के विरुद्ध प्रतिक्रिया से उत्पन्न हुआ था और उदार संतों ने इस नए आन्दोलन का नेतृत्व किया। इस्लाम ने हिन्दू समारोहों, सामाजिक रीतियों, वेशभूषा, भाषा, विचार और आदर्शों, और साहित्य, ललित कलाओं, वास्तु शिल्प तथा संगीत और विज्ञान को गहरे रूप में प्रभावित किया। वास्तुकला में दोनों शैलियों के मिश्रण से एक नई शैली का जन्म हुआ। इसी प्रकार चित्रकला में मुगल कलम का प्रादुर्भाव हुआ और स्थापत्य की तरह ही मुस्लिम तथा हिन्दू संस्कृतियों के मेल से यह पूर्णतः भारतीय हो गई। भाषा में अनेक अरबी, फारसी, तुर्की शब्दों का समावेश हुआ। उर्दू भाषा का जन्म इन्हीं सब का परिणाम था। भारतीय संस्कृति पर यूरोपीय, मुख्यतः अंग्रेजों के संपर्क से राष्ट्रवाद का बोध, राजनैतिक, भौगोलिक एकता, स्वतंत्रता का विचार आया और भारतीय पश्चिमी शिक्षा, ज्ञान, विज्ञान और आधुनिक विचारों से अवगत हुए। अंग्रेजों और इससे पूर्व आए आक्रान्ताओं में एक मूल अंतर यह था कि अंग्रेज यहां बसने नहीं अपितु औपनिवेशिक हितों की पूर्ति के लिए आए थे। उन्होंने जहां एक ओर भारतीय अर्थव्यवस्था का शोषण किया, वहीं दूसरी ओर उनके प्रयत्नों से अतीत का गौरव भी उद्घाटित हुआ। भारतीय कला, साहित्य, संगीत, शिक्षा, सामाजिक रीति रिवाजों आदि भी यूरोपीय प्रभाव से अछूते नहीं रहे।

कुल मिलाकर आप ये समझ पाए होंगे कि इन सभी ने स्थानीय साहित्य, कला, विज्ञान और संस्कृति को प्रभावित किया और मिली-जुली संस्कृति पर गहरी छाप छोड़ी और उस समन्वयवादी, विविधताओं से भरी संस्कृति को जन्म दिया जिसे आज हम भारतीय संस्कृति के नाम से जानते हैं।

अभ्यास प्रश्न

निम्न पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए

1. (क) भारतीय संस्कृति एक समन्वयवादी संस्कृति रही है।

(ख) भारतीय संस्कृति पर विभिन्न जातियों और संस्कृतियों का प्रभाव।

2. निम्न कथनों के सामने 'सही' और 'गलत' का उल्लेख कीजिए

(क) भारतीय संस्कृति विभिन्न प्रजातियों और उनकी संस्कृतियों के मिश्रण से निर्मित है।

(ख) आर्यों के सामाजिक ढांचे पर द्रविड़ सभ्यता का प्रभाव पड़ा।

(ग) खरोष्ठी लिपि बायें से दायें लिखी जाती थी।

(घ) गांधार कला के रूप में बुद्ध की मूर्तियों पर यूनानी प्रभाव है।

धर्म के क्षेत्र में देखें तो हिन्दू मत में बहुदेववाद की अवधारणा है, इस्लाम एकेश्वरवादी है, तो बुद्ध अनीश्वरवाद को मानते दिखाई देते हैं। हिन्दू मत में कुछ देवता वे हैं, जिनकी कल्पना वेदों ने की, कुछ प्राक्वैदिक भारत में पूजे जाते थे और बाद में वैदिक धर्म में प्रवेश पा गए। तीसरे प्रकार के देवता आर्य द्रविड़ मिश्रण के बहुत बाद बाहर से आने वाली नई जातियों के साथ आए होंगे। विभिन्न देवी-देवताओं की उपासना के साथ ही यह भी माना गया कि विभिन्न नामों से पुकारे जाने पर भी सब एक ही हैं। यास्क ने कहा कि व्यक्ति रूप से भिन्न होते हुए भी, जैसे असंख्य मनुष्य राष्ट्र रूप में एक हैं, वैसे ही विविध रूपों में प्रकट होने पर भी देवों में एक ही परमात्मा व्याप्त हैं। इन्हीं परमात्मा को याज्ञिकों और ब्राह्मण ग्रंथों ने प्रजापति कहा है। सभी देवता इन्हीं प्रजापति के विशिष्ट अंग माने गए हैं।

खण्ड 2.3 में भारतीय संस्कृति के समन्वयवादी रूप के अध्ययन से आप विभिन्न प्रजातियों की परस्पर अन्तःक्रिया व अन्तर्सम्बन्धों के परिणामस्वरूप विकसित हुए सांस्कृतिक परिदृश्य को समझ पाए होंगे। यह समन्वय हमें धार्मिक क्षेत्र में भी दिखाई देता है। डी.डी.कोसंबी के अनुसार “ब्राह्मणों ने धीरे धीरे बची-खुची कबीलाई व श्रेणी जातियों में भी प्रवेश किया, यह प्रक्रिया आज तक चालू है। इसका अर्थ था नए देवताओं की पूजा। कबीलाई देवताओं को ब्राह्मण धर्म के प्रतिष्ठित देवताओं के समकक्ष मान लिया गया और जिन कबीलाई देवताओं को आत्मसात करना कठिन था, उन्हें प्रतिष्ठित बनाने के लिए नए ब्राह्मण धर्म ग्रंथों की रचना की गई। इन नए देवताओं के साथ नए अनुष्ठान भी अस्तित्व में आए। इस समूची प्रक्रिया के बारे में महाभारत, रामायण तथा पुराणों में भरपूर सामग्री मिलती है। न केवल कृष्ण को बल्कि बुद्ध और आदिम मत्स्य, कच्छप तथा वराह जैसे टोटेम मूलक देवताओं को भी विष्णु नारायण का अवतार घोषित कर दिया गया। इसी प्रकार हनुमान, शेषनाग, नन्दी आदि को उपासना में स्थान मिला। आदिम देवताओं की पूजा संस्कृतियों के पारस्परिक आदान-प्रदान की प्रक्रिया का ही अंग थी। मातृसत्तायुगीन तत्वों को आत्मसात किया गया तथा मातृदेवियों को किसी न किसी नर देवता की पत्नी के रूप में स्वीकार किया गया।” लक्ष्मी, पार्वती, सरस्वती आदि के रूप में आप इन्हें देख सकते हैं। शिव की पूजा जिस रूप में हिन्दू समाज में प्रचलित है, वह रूप वेदों में नहीं मिलता। इस पर आर्य समाज के बाहर द्रविड़ और ऑस्ट्रिक प्रभाव स्पष्ट है। कालान्तर में शिव की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई और कुछ समय बाद लिंग पूजा को भी मान्यता प्राप्त हो गई। भण्डारकर के अनुसार “रुद्र शिव का संबन्ध आरंभ में जंगली जातियों से भी रहा होगा या यह भी संभव है कि जंगली जातियों के बीच प्रचलित देवताओं के भी गुण बाद में चलकर रुद्र शिव की कल्पना में आ मिले।” सुनीति कुमार चटर्जी का मत है कि “द्रविड़ लोग भारत में मेडीटेरेनियन समुद्र के पास से आए थे और संभवतः शिव और शक्ति विषयक दार्शनिक भाव भी वहीं से लाए।” डी. डी. कोसंबी का कथन है “वेद के रुद्र और बाद के शिव एक ही हैं।” आर्यों की पूजा आराधना में योग का समावेश हुआ। इसी प्रकार उमा अर्थात् पार्वती की उपासना में परमेश्वरी के रूप से आगे जाकर चामुण्डा, काली आदि विकराल रूपों की कल्पना का भी अपना इतिहास है। सांपों की पूजा, भूत पिशाच का भय, अनेक प्रकार के टोटके आदि के बारे में भी अनुमान है कि वे आर्यतर समाज से हिन्दू धर्म में आकर मिले। आर्यों के प्राकृतिक शक्तियों रूपी देवी-देवताओं के स्थान पर विष्णु और शिव की उपासना के साथ-साथ समाज में ऐसे सैकड़ों व्रत, आचार, अनुष्ठान और रिवाज प्रचलित हुए जिनका उल्लेख वेदों में नहीं मिलता। उत्तर भारत में मुख्य रूप से शिव और उमा की पूजा प्रचलित है, गणेश की प्रतिष्ठा विघ्नहर्ता के रूप में है तो दक्षिण में शिव के पूरे परिवार की पूजा का व्यापक प्रचार है। शिव और उमा के साथ वहां कार्तिकेय और गणेश की पूजा भी बड़े उत्साह के साथ की जाती है। गणेश आर्यतर देवता माने गए हैं। ऋग्वेद में

उल्लिखित विष्णु शब्द 'सूर्य' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। सुनीतिकुमार चटर्जी के अनुसार "आर्यों के सूर्यवाचक देवता विष्णु भारत में आकर द्रविड़ों के एक आकाश देव से मिल गए, जिनका रंग द्रविड़ों के अनुसार आकाश के समान ही नीला अथवा श्याम था।" भण्डारकर लिखते हैं कि प्राचीन काल में वैष्णव धर्म मुख्यतः तीन तत्वों के योग से उत्पन्न हुआ था। पहला वेद में उल्लिखित विष्णु शब्द सूर्य के अर्थ में, दूसरा महाभारत के शान्तिपर्व के नारायणीय उपाख्यान में उल्लिखित नारायण धर्म और तीसरा वासुदेव मत। इन तीन तत्वों ने मिलकर वैष्णव धर्म को उत्पन्न किया।" लेकिन उसमें कृष्ण के ग्वाला रूप और राधा के प्रेम की कथाएं बाद में संभवतः आर्यतर प्रभाव से जुड़ीं (दिनकर)। आगे चलकर इसमें 'वासुदेव धर्म' और 'भागवत धर्म' के रूप हमें मिलते हैं। कृष्ण का प्राचीनतम उल्लेख पहले छान्दोग्य उपनिषद में और फिर महाभारत में मिलता है। ए.एल.बाशम के अनुसार "इन महान देवताओं के अतिरिक्त अल्प महत्व के असंख्य देवता थे। प्रत्येक ग्राम का एक स्थानीय देवी.देवता होता था, जिसे ग्राम देवता कहते थे, जो प्रायः एक अपरिष्कृत आदि देवता की शक्ति के रूप में किसी पूज्य वृक्ष के नीचे स्थापित होता था। स्थानीय देवियों का बहुधा दुर्गा के साथ तादात्म्यीकरण कर दिया गया, किन्तु वे कभी पौराणिक कथाक्रम में सम्पूर्णतः सम्मिलित नहीं की गईं और न ही उन्हें पति प्रदान किए गए थे, जैसे शीतला, मनसा आदि।...इसी प्रकार सर्पात्माएं, यक्ष, गन्धर्व, अप्सराएं, विद्याधर आदि अर्धदेवता थे।...इसके अलावा पीपल, वट, अशोक, तुलसी आदि वृक्ष पूजा के रूप आए।" डॉ राधाकृष्णन के अनुसार "हिन्दुत्व के कुछ गिने हुए सिद्धांतों में कट्टरता से विश्वास करने के बदले, अत्यंत व्यापक उदारता का विकास किया। आदिवासी जनता के पास जो अनेक देवी.देवता थे तथा बाद को जो देवता दूसरी जातियों के साथ बाहर से आए उन सबको हिन्दुत्व ने स्वीकार कर लिया एवं कालक्रम में उसने यह भी सिद्ध कर दिखाया कि ये देवी.देवता हिन्दुत्व के ही हैं।" दिनकर के अनुसार "अनेक जातियों के देवी.देवताओं के आ मिलने के कारण बहुदेववाद हिन्दुत्व का अनिवार्य अंग बन गया। अतएव सब हिन्दू किसी एक देवी देवता को नहीं पूजते हैं। अनेक देवी देवताओं के आने से उनके महात्म्य की भी अनेक कथाएं पुराणों में आ मिलीं। जिन विभिन्न नृवंशों की संततियों को लेकर हिन्दू जाति की रचना हुई, उनके विभिन्न उपासना मार्ग भी हिन्दुत्व के अपने अंग बन गए, अतः हम नहीं कह सकते कि हिन्दुत्व की अपनी उपासना पद्धति कौन सी है.....जिन ग्राम देवता और देवियों के पूजकों को मनु ने अनेक स्थानों पर पतित कहा है, तो गांवों में अब ब्राह्मण भी भूत प्रेत और ग्राम देवता की पूजा करते हैं। आरंभ में इन देवताओं के पुरोहित भी शूद्र रहे होंगे, किन्तु आमदनी का रास्ता देखकर ब्राह्मणों ने उन्हें भी अपदस्थ कर दिया होगा। आर्यतर परंपराओं से वृक्षों, नदियों की पूजा, होली, वसंतोत्सव आदि अनेक उत्सव आदि हिन्दू समाज में आए।" डी. डी. कोसंबी के विवरण से स्पष्ट होता है कि आदिम कबीलाई देवताओं में और गाँवों में निम्न कोटि के देवताओं में कुछ साम्य पाया जाता है। आदिम उत्पत्ति का समर्थन ग्रामीण पूजा पद्धतियों के नामों से भी होता है। सहोद्गम के कुछ चिह्न कभी कभी सामूहिक वार्षिक पूजा में प्रकट होते हैं, विशेषकर मातृदेवियों की पूजा में। किसानों द्वारा कुछ दूसरे उच्च श्रेणी के देवताओं की भी पूजा की जाती है, जो स्थानीय देवताओं से एक सीढ़ी ही ऊपर होते हैं। जैसे एक पत्थर पर उच्चित्रित नाग देवता को क्षेत्रपाल माना जाता है। अन्य छोटे देवताओं को जोताई, बुवाई, कटाई आदि के अवसर पर सन्तुष्ट करना होता है। और भी ऊँचे स्तर पर ब्राह्मण देवता हैं। कभी कभी स्थानीय आदिम देवी या देवता को ब्राह्मण धर्म के ग्रंथों में वर्णित किसी देवी.देवता के रूप में भी पहचाना जा सकता है। पुराने देवताओं को समाप्त नहीं किया गया, उन्हें अपनाकर नए रूप में ढाला गया। इस प्रकार ब्राह्मण धर्म में उन सामाजिक समूहों को कुछ हद तक एकजुट किया गया, जिनमें आपस में कोई एकसूत्रता नहीं थी।"कोसंबी लिखते हैं कि "इस प्रक्रिया का भारतीय इतिहास में निर्णायक महत्व है, क्योंकि प्रथम इसने

देश को कबीले से समाज व्यवस्था की ओर आगे बढ़ाया और फिर इसने देश को अन्धविश्वास के गंदे दलदल में फँसाकर रखा।”

दूसरी ओर अवतारवाद भारतीय संस्कृति की एक प्रमुख विशेषता रही है। विष्णु के दस अवतारों की परिकल्पना की गई। विष्णु के वामनावतार की कथा का संकेत ऋग्वेद के अनेक मंत्रों में पाया जाता है। ईसा से तीन सौ वर्ष पूर्व वासुदेव कृष्ण विष्णु के अवतार माने जाने लगे थे। “कृष्ण की शिशु से लेकर उदात्त रूप तक अनेक रूपों में उपासना प्रारंभ हुई। इसके बाद बाकी अवतार भी विष्णु के अवतार माने जाने लगे तथा उन्हीं दिनों राम का अवतार होना भी प्रचलित हो गया।...बुद्ध विष्णु के अन्तिम अवतार थे “(ए.एल.बाशम)। बौद्ध और जैन साहित्य को छोड़कर और सभी भारतीय साहित्य में राम विष्णु के अवतार के रूप में सामने आते हैं। बौद्ध धर्म के साथ राम कथा का जो रूप भारत से बाहर पहुंचा, उसमें वे विष्णु के अवतार नहीं रहे। दिनकर के अनुसार “राम एक ऐसे चरित्र हैं, जो ब्राह्मण धर्म में विष्णु के अवतार, बौद्ध धर्म में बोधिसत्व तथा जैन धर्म में आठवें बलदेव के रूप में प्रतिष्ठित हुए तथा आगे चलकर जिनकी भक्ति में शिव भक्ति भी समाहित हो गई।” टी.पी.श्रीनिवास आयंगर के अनुसार ऋग्वेद में उल्लिखित इन्द्र के विरुद्ध लड़ने वाले असुर योद्धा और बाद के भारतीय साहित्य के नायक कृष्ण द्रविड़ों के एक यौवन प्रतीक देवता थे। इसी प्रकार हनुमान और ऋग्वेद के कृषाकपि के आदिरूप वास्तव में द्रविड़ों के नर वानर अनमन्ति थे।

अभ्यास प्रश्न

निम्न पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए

1. भारतीय संस्कृति में बहुदेववाद।

2. निम्न कथनों के सामने ‘सही’ और ‘गलत’ का उल्लेख कीजिए

(क) शिव की उपासना पर द्रविड़ और ऑस्ट्रिक प्रभाव है।

(ख) भारतीय उपासना पद्धति एकेश्वरवादी है।

(ग) बुद्ध विष्णु के अन्तिम अवतार माने गए।

2.5 कर्म एवं पुनर्जन्म का सिद्धांत

कर्मवाद का सिद्धांत हिन्दू धर्म का एक अभिन्न अंग था। कर्म पूर्वजन्म के कार्यों का अविज्ञात रूप था और यद्यपि जैन धर्म की भांति हिन्दू धर्म के अन्तर्गत यह कोई तात्त्विक पदार्थ या श्रेणी न था। यह विचार किया जाता था कि उसका संचय होता है और वह व्ययशील है। ए.एल. बाशम के अनुसार “कर्म के द्वारा ही अपर जन्म का दैवी, मानवी, पाशविक अथवा राक्षसी शरीर प्राप्त होता था और कोई पूर्व कर्म मनुष्य के चरित्र, वैभव, सामाजिक वर्ग, सुख और दुख के अधीन नहीं था। प्रत्येक सत्कर्म का सुफल आज हो या कल सुख होता था और प्रत्येक असत्कार्य का परिणाम दुख होता था। हिन्दू धर्म ने पुनर्जन्म से मुक्ति का भाव, जो लगभग समस्त भारतीय विचारधारा में व्यापक है, परंपरा से प्राप्त किया। मुक्ति की अवस्था की कल्पनाएं अथवा मुक्ति और उसे प्राप्त करने के साधनों के सम्बन्ध में विस्तृत भिन्नता थी। यह माना गया कि संसार जो एक शरीर से दूसरे शरीर तक की यात्रा है और बहुधा सतत गतिमान चक्र है।” दिनकर का

कथन है “आत्मा, पुनर्जन्म और कर्मफलवाद के विषय में वैदिक ऋषियों ने अधिक नहीं सोचा था। इनका विकास आगे चलकर उपनिषदों में हुआ सा लगता है। आत्मा शरीर से भिन्न वस्तु है, जो मरणोपरांत परलोक को जाती है, इस सिद्धांत का आभास वैदिक ऋचाओं में मिलता है.....एक मंत्र में कहा गया है कि व्यक्ति का एक अंश जन्म रहित और शाश्वत है तो अन्यत्र जीवात्मा को कर्मफल भोक्ता बताया गया है।” उपनिषदों के आधार पर जो कर्मफलवाद का सिद्धान्त ज्ञात होता है उसके अनुसार मनुष्य जैसा कर्म करता है उसे वैसा फल भोगना पड़ता है। इसलिए मनुष्य को अपने कर्मों को सुधारना चाहिए। कर्म के सुधारने से मनुष्य का अगला जन्म अच्छा होगा और उस जन्म में भी जब वह अच्छे कर्म करेगा, तब उसका तीसरा अगला जन्म और भी अच्छा होगा। इस प्रकार जन्म जन्मान्तर तक साधना करते करते उसकी मुक्ति हो जाएगी अर्थात् वह जन्म मरण के बंधन से मुक्त हो जाएगा। बुद्ध ने भी वैदिक धर्म के जन्मान्तरवाद और कर्मफलवाद को यथावत स्वीकार किया। उनका मत था कि जीवन दुख है और मनुष्य को यह दुख भोगने के लिए बार बार जन्म लेना पड़ता है। वह अपने कर्मों के अनुसार उत्तम या अधम योनि में जन्म लेता है और उन जन्मों में जैसा काम करता है, जैसा संस्कार अर्जित करता है, वे संस्कार उसे नया जन्म लेने को विवश करते हैं। इस प्रकार जन्म मरण का प्रवाह लगातार चलता रहता है। बुद्ध ने इसके लिए मोक्ष का मार्ग बताया जिसे वह निर्वाण कहते हैं। डॉ आनन्द कुमारस्वामी का मत है कि “निर्वाण मृत्यु भी है और जीवन की पूर्णता भी। किन्तु यह कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसे हम स्थान विशेष या काल विशेष में देख सकें।”

अभ्यास प्रश्न

निम्न पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए

1. कर्म और पुनर्जन्म का सिद्धान्त

2. निम्न कथन के सामने ‘सही’ और ‘गलत’ का उल्लेख कीजिए

वैदिक और बौद्ध धर्म दोनों ने ही जन्मान्तरवाद और कर्मफलवाद को स्वीकार किया।

2.6 वर्ण एवं जाति प्रथा

‘भारतीय समाज चार वर्णों वाले विभाजन पर आधारित था, जिसमें जन्म और वंश का महत्व था। अथर्ववेद के रचनाकाल तक चातुर्वर्ण्य व्यवस्था स्थापित हो चुकी थी। चौथा वर्ण शूद्र आर्यों के वर्णक्रम में बड़े पैमाने पर द्रविड़ों के प्रवेश से रूप ग्रहण करने लगा था। बाद में विभिन्न वर्णों के वैवाहिक और अवैवाहिक सम्बन्धों से उत्पन्न होने वाले सिद्धान्त का भी उद्भव हुआ। चार वर्णों के अतिरिक्त विभिन्न कामगारों को जातियों के रूप में मान्यता मिली और विभिन्न व्यवसायों के आधार पर जातियों का निर्धारण हुआ। इन सामाजिक स्थितियों की शास्त्रीय व्याख्याएं ऋग्वेद के पुरुष सूक्त, धर्मसूत्रों और स्मृतियों में व्यापक रूप से की गईं। मनु ने लिखा है –

“ वरं स्वधर्मो विगुणो, न पारक्यः स्वनुष्ठितः,
परधर्मेण जीवन हि सद्यः पतति जातितः।”

(अर्थात् अपना विगुण धर्म भी (पैत्रिक परंपरा से प्राप्त कठिन व्यवसाय भी) दूसरों के धर्म से श्रेष्ठ है। दूसरों का सुविधाजनक व्यवसाय अपनाकर जीने वाला मनुष्य जाति से च्युत हो जाता है)। धीरे-धीरे जाति प्रथा भारतीय समाज की मुख्य विशेषता बन गई और कालक्रम में जाति के बंधन रुढ़ होते चले गए। शक, यवन, पहलव, पारदों आदि को हिन्दू वर्णाश्रम में क्षत्रियों के रूप में सम्मिलित किया गया। चूंकि भारत में प्रवेश करने वाली जातियां विजेताओं के रूप में आई थीं, उनकी अवहेलना अथवा अपमान संभव नहीं था और उनको प्रायः क्षत्रियों के समकक्ष स्थान देना पड़ा। पतंजलि ने शकों को क्षत्रियों के रूप में स्वीकार नहीं किया है और उनको शूद्र कहा है, यद्यपि स्मृतियों में उल्लिखित मूल शूद्रों से भिन्न माना है। वे बौद्ध, शैव और वैष्णव मतों की ओर अधिक आकृष्ट हुए। शक जनसाधारण और शासक वर्ग दोनों ने ही बड़ी संख्या में पूजा की स्थानीय रीतियों और देवी-देवताओं को अपना लिया। किन्तु वास्तविक धरातल पर शास्त्रीय अनुशासनों के विपरीत भी अनेक परिस्थितियां थीं। भारतीय संस्कृति में विदेशी प्रभाव बढ़ने के साथ ही (ई. पू. तीसरी सदी में) सामाजिक दृष्टिकोण में अंतर आने लगा। स्मृतियों और आचार संहिताओं की पुनर्व्याख्या करते हुए जातियों की शुद्धता बनाए रखने के लिए जाति के बंधनों को कठोर कर दिया गया। परंपरागत जाति से कटे हुए, जिन्होंने विदेशियों के प्रभावों या जीवन पद्धति से सम्बन्ध रखा था, को वर्णसंकर या अछूत माना गया। मनु ने इसका बड़ा सूक्ष्म वर्गीकरण किया है (देखें मनुस्मृति)। अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों से उत्पन्न संततियां भी वर्णसंकर मानी जाने लगीं और सब की सब शूद्र जाति में प्रविष्ट हो गईं। इसी प्रकार शक्तिशाली हूणों को अमान्य करना आसान न था और उन्हें भारतीय सामाजिक व्यवस्था में समाविष्ट करने के लिए नए सामाजिक प्रबन्ध किए गए। अग्निदीक्षा के बाद उन्हें क्षत्रिय के रूप में मान्यता दी गई। पृथ्वीराजरासो में उन्हें 36 उच्च राजपूत राजघरानों में बताया गया है। दिनकर लिखते हैं कि "जो वर्ग सुसंस्कृत थे, जिनकी बुद्धि का भरसक विकास हुआ था, वे साधारणतया औद्योगिक कलाओं से दूर ही रहे। इस बात का भारतीयों के बौद्धिक और आर्थिक विकास की दृष्टि से विपरीत और अनिष्टकारी परिणाम हुआ।"

भगवत शरण उपाध्याय के अनुसार " हिमालय की उपत्यकाओं से लेकर पूरब में गंगा और पद्मा तक तथा बर्मी शानों और किरातों से लेकर पूर्वी बंगाल के पश्चिमान्त तक सारा मानव समुदाय जातीय रूप से एक हो गया। जातियां भ्रष्ट और संदेहास्पद हो गईं और दकियानूसों ने पुरोहितों द्वारा गंडक के पूर्व के क्षेत्र को आर्यों के रहने के अयोग्य घोषित किया जाना उचित समझा।

डी.डी. कोसंबी का मत है कि "संस्कृतियों के पारस्परिक आदान प्रदान की इस प्रक्रिया के साथ वर्ग संरचना का , जिसका पहले कोई अस्तित्व नहीं था उदय हुआ।.....बुद्ध और अशोक ने लोगों को सभ्य और सामाजिक बनाने की दिशा में जिस कार्य की शुरुआत की थी, उसे फिर आगे बढ़ाने की कोशिश नहीं हुई। जातिबंधन और जातिगत अलगाव की कठोरता ने ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी कि सभी वर्गों, पेशों, जातियों तथा धर्मों के लिए सर्वमान्य न्याय व समानता को लागू करने की संभावना ही समाप्त हो गई।..... भारतीय समाज की मुख्य विशेषता, जो देहाती इलाकों में सबसे अधिक प्रबल है, जाति प्रथा है। इसका अर्थ है, समाज के ऐसे विभक्त समूह, जो पास-पास रहते हुए भी अक्सर मिल-जुलकर रहते हुए नहीं दिखाई देते। यह आसानी से सिद्ध किया जा सकता है कि अनेक जातियों का निम्न सामाजिक और आर्थिक स्तर इस कारण है कि उन्होंने पहले या आधुनिक काल में अन्न उत्पादन और हल की खेती को अपनाने से इन्कार किया है। निम्नतम जातियां अक्सर अपने अनुष्ठानों , संस्कारों और मिथकों को सुरक्षित रखती हैं। थोड़े ऊंचे स्तर में हम इन धार्मिक अनुष्ठानों और आख्यानों को हम संक्रमण की स्थिति में देखते हैं, अक्सर दूसरी परंपराओं में आत्मसात होते देखते हैं। एक सीढ़ी और ऊपर जाने पर दिखाई देता है कि ब्राह्मणों ने अपनी

सुविधा के लिए और पुरोहित वर्ग ने अपनी जाति का प्रभुत्व जमाने के लिए इन्हें फिर से लिखा है ब्राह्मण धर्म का मुख्य कार्य यही रहा कि उसने आख्यानों को एकत्र किया, इन्हें कथाचक्रों में बांध कर फैलाया और फिर एक अधिक विकसित सामाजिक चौखट में रखकर प्रस्तुत किया।”

उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण भारत में सामाजिक संरचना के तत्वों का उभार देर से हुआ। विशुद्धानंद पाठक ने लिखा है कि “दक्षिण भारत के अभिलेखों में वर्ण, जाति, कुल और गोत्र जैसे शब्द तो प्राप्त होते हैं, पर उनका सामाजिक संरचना संबंधी रूप वह नहीं दिखाई देता जो उत्तर भारत में था। वर्ण के संदर्भ में सर्वाधिक उल्लेख ब्राह्मणों से संबद्ध हैं और गोत्रों के साथ राजाओं के उल्लेख ही प्राप्त होते हैं। साधारण समाज में वर्ण, गोत्र और कुल का कोई महत्व नहीं था।” दोनों के बीच सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक आदान-प्रदान और सांस्कृतिक अंतःक्रिया संचरणशील उत्तर भारतीय ब्राह्मणों के माध्यम से हुई, जिसे दक्षिण भारत के प्रारंभिक इतिहास लेखकों ने आर्यीकरण कहा और बाद में इसके स्थान पर संस्कृतीकरण शब्द का प्रयोग प्रारंभ हुआ।

दूसरी ओर हम देखते हैं कि ज्यों-ज्यों जाति के बंधन जटिल हुए समाज में प्रतिक्रिया भी हुई। बुद्ध ने जाति प्रथा को चुनौती दी और कहा “जाति मत पूछ आचरण पूछ, नीच कुल का मनुष्य भी ज्ञानवान और पापरहित मुनि हो सकता है।” सूफियों और भक्ति संतों के युग में मानव की समानता पर बल दिया गया। जाति का विरोध करते हुए कबीर ने कहा “जात पांत पूछे नहिं कोई, हरि को भजे सो हरि का होई।”

अभ्यास प्रश्न

निम्न पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए

1. भारतीय संस्कृति और जाति प्रथा
2. निम्न कथन के सामने ‘सही’ और ‘गलत’ का उल्लेख कीजिए

(क) जातिगत अलगाव के कारण भारतीय समाज में समानता और परस्पर मेल-जोल की भावना को आघात पहुंचा।

2.7 भाषागत विशेषताएं

भारत में आर्यों और आर्यों से पहले के भारतवासियों, खासकर द्रविड़ों के समन्वय से जो बड़ी संस्कृति उत्पन्न हुई, उसका प्रतिनिधित्व संस्कृत ने किया। संस्कृत शीघ्र ही उच्च वर्ग की विशेष बोली बन गई, जिसे शिक्षित लोग ही समझ पाते थे। इस भाषा में दी जाने वाली विधिवत शिक्षा पर ब्राह्मणों का ही अधिकार रहा। संस्कृत के विकास में उत्तर और दक्षिण दोनों ने योगदान दिया। बाद में दक्षिण के संतों और भक्त कवियों ने उत्तरी भारत के अन्दर तक प्रवेश किया और सांस्कृतिक रूप से इसे समृद्ध बनाया। तमिल और संस्कृत के बीच शब्दों के आदान-प्रदान के प्रमाण मिलते हैं। किटेल की कन्नड़-इंग्लिश डिक्शनरी में ऐसे अनेक शब्दों का उल्लेख है जो तमिल से निकल कर संस्कृत में पहुंचे। इसी प्रकार संस्कृत ने भी तमिल को प्रभावित किया। द्रविड़ भाषाओं की सभी लिपियां ब्राह्मी से निकलीं। वैदिक धर्म के ग्रन्थ भी केवल उत्तर में नहीं लिखे गए। उनमें से अनेक की रचना दक्षिण में हुई। चिन्तकों, विचारकों और विशिष्ट समाज की भाषा दक्षिण में भी संस्कृत थी। उत्तर भारत की सभी भाषाएं संस्कृत से निकल कर

विकसित हुई हैं। ये भी परस्पर भिन्न हैं, परंतु संस्कृत ने हिन्दी को एक खास ढंग से विकसित करके उत्तर भारत को एक ऐसी भाषा दे दी, जो थोड़ी बहुत सभी भाषा क्षेत्रों में समझ ली जाती है। तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम भी प्राचीन तमिल से ही निकली हैं। लेकिन द्रविड़ क्षेत्र में उस परिवार की कोई ऐसी भाषा उत्पन्न नहीं हुई, जो चारों भाषा क्षेत्रों में समझी जा सके। दिनकर के अनुसार “संस्कृत पर आधारित होने के कारण भारत की सभी भाषाएं एक हैं, क्योंकि उनके शब्द एक हैं, उनकी तर्ज और भंगिमाएं एक हैं तथा वे एक ही सपने का आख्यान अलग अलग लिपियों में करती हैं।.....तमिल जो भारत की अर्वाचीन भाषाओं में सबसे प्राचीन है, संस्कृत उससे भी कम से कम दो हजार वर्ष अधिक पुरानी भाषा है। अतः भारत को पहले जो कुछ भी कहना था उसने संस्कृत में कहा। बहुत बाद में जब अर्वाचीन भाषाओं का उदय हुआ, उनमें भी भावानुभूति और चिन्तन की वही प्रक्रिया उद्धृत हो गई, जो संस्कृत में विकसित हुई थी। अतः हिन्दू संस्कृति की मूल भाषा संस्कृत रही।” यह जनता के विचार और धर्म का प्रतीक भी बनी। यद्यपि बुद्ध के समय से ही जनभाषा के रूप में इसका स्थान नहीं रहा। भारतीय इतिहास में गुप्त युग से पूर्व के सहस्राधिक वर्षों में गंगा यमुना के मैदान में ही नहीं, पश्चिम में महाराष्ट्र से लेकर पूर्व में उड़ीसा तक और दक्षिण में आन्ध्र से लेकर हिमालयी राज्यों तक राजभाषा के रूप में उस जनभाषा का वर्चस्व दिखाई देता है, जो क्षेत्रीय भिन्नताओं के बावजूद पूरे देश में समझी जाती थी। गुप्तों के उदय के बाद ब्राह्मण वर्चस्व की स्थापना के साथ ही संस्कृत राजभाषा के पद पर प्रतिष्ठित हुई। ब्राह्मण ग्रंथ संस्कृत में और बौद्ध ग्रंथ पालि में लिखे गए तो जैनों ने प्राकृत के अनेक रूपों का उपयोग करते हुए प्रत्येक काल एवं क्षेत्र में जब जो भाषा प्रचलन में थी, उसी के माध्यम से अपना प्रचार किया। डी.डी. कोसंबी का कथन है कि “इंडो आर्य भाषाएं संस्कृत से विकसित हुई हैं। इस प्रकार आरंभ में विकसित हुई भाषाएं हैं पालि, जो मगध में बोली जाने के कारण मागधी भी कहलाती है और अन्य अनेक प्रांतीय प्राकृत भाषाएं। इन्हीं से हिन्दी, पंजाबी, बंगला, मराठी आदि आधुनिक भाषाएं निकलीं। किन्तु भारत में आर्यतर भाषाओं का भी एक विस्तृत और सांस्कृतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण वर्ग है, जिसमें द्रविड़ भाषा समूह के अन्तर्गत तमिल, तेलुगु, कन्नड़ तथा मलयालम भाषाओं का समावेश होता है। इनके अलावा छोटे छोटे कबीलों की बहुत सारी बोलियां हैं।”

अभ्यास प्रश्न

निम्न पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए

1. भारतीय संस्कृति की भाषागत विशेषताएं
2. निम्न कथनों के सामने 'सही' और 'गलत' का उल्लेख कीजिए
 - (क) संस्कृत को जनभाषा के रूप में मान्यता मिली।
 - (ख) इंडो आर्य भाषाएं संस्कृत से विकसित हुईं (डी.डी. कोसंबी)
 - (ग) बुद्ध, महावीर आदि ने अपनी शिक्षाओं का प्रसार जनभाषा में किया।

2.8 हिन्दू धर्म और संस्कृति

प्रायः भारतीय संस्कृति को हिन्दू संस्कृति के रूप में मान्यता देने की परंपरा रही है। भगवतशरण उपाध्याय के अनुसार “हिन्दू शब्द के उपयोग की शुरुआत 549 तथा 525 ई. पूर्व के बीच हुई। अपने

पुरालेख में ईरान के शासक दारा ने भारत और भारतीयों के अर्थ में पहली बार हिन्दी शब्द का प्रयोग किया, जिसको बहुत बाद में भारतीय साहित्यों ने ग्रहण किया और जिसको हिन्दू के रूप में बार बार दोहराया।" दिनकर ने लिखा है कि "हिन्दू धर्म किसी एक विश्वास पर आधारित नहीं है, बल्कि अनेक विश्वासों का समुदाय है। जिस प्रकार भारतीय जनता की रचना उन अनेक जातियों को लेकर हुई, जो समय-समय पर इस देश में आती रहीं, उसी प्रकार हिन्दुत्व भी इन विभिन्न जातियों के धार्मिक विश्वासों के योग से बना है।देश के अर्थ में हिन्दू शब्द का चलन इस्लाम के जन्म से कोई हजार डेढ़ हजार वर्ष पहले ही शुरू हो गया था। ईरानी लोग 'स' का उच्चारण 'ह' करते थे, अतः 'सिन्धु' को उन्होंने 'हिन्दु' कहा। इसी विकृति से आगे चलकर 'हिन्दू' और 'हिन्दुस्तान' दोनो शब्द निकले। यूनानियों के मुँह से 'ह'के बदले 'अ' निकलता था, अतः हिन्दू को उन्होंने इन्दो (पदकव) कहना शुरू किया। इसी दूसरी विकृति से इंडिया नाम निकला है।" दिनकर आगे लिखते हैं "ईरानियों द्वारा दिया हुआ हिन्दू नाम संस्कृत भाषियों के द्वारा संपूर्ण भारतवासी जनता के समुच्चय नाम के रूप में स्वीकृत हो गया, इसके भी प्रमाण मिलते हैं। नीग्रो, औस्ट्रिक, द्रविड़ और आर्य इन चार जातियों के समन्वय से उत्पन्न हिन्दू संस्कृति में आगे चलकर अनेक धाराएं मिल गईं। उत्तर में जब बौद्ध मत की प्रबलता हुई, तभी से हिन्दू धर्म अपनी पवित्रता की रक्षा के लिए दक्षिण को अपना गढ़ मानने लगा। बाद में विदेशी आक्रमणों के बाद बहुत से हिन्दू दक्षिण की ओर खिसकने लगे थे।.....असल में हम जिसे हिन्दू संस्कृति कहते हैं, वह किसी एक जाति की देन नहीं, बल्कि इन सभी जातियों की संस्कृतियों के मिश्रण का परिणाम है।.....भारतीय संस्कृति भी इस देश में आकर बसने वाली अनेक जातियों की संस्कृतियों के मेल से तैयार हुई है और अब यह पता लगाना बहुत मुश्किल है कि उसके भीतर किस जाति की संस्कृति का कितना अंश है।" सुनीति कुमार चटर्जी के अनुसार " हिन्दू संस्कृति के आधे से अधिक उपादान आर्येतर संस्कृतियों से आए हैं।"

अभ्यास प्रश्न

निम्न पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए

1. हिन्दू धर्म और संस्कृति की अवधारणा

2.9 सारांश

भारतीय संस्कृति वह संस्कृति है जिसने विश्व को न सिर्फ बहुत कुछ दिया, बल्कि दुनिया के विभिन्न कबीलों से, चाहे वे आक्रान्ता के रूप में आए अथवा व्यापारी के रूप में, उनकी सांस्कृतिक उपलब्धियों को ग्रहण किया और अपनी संस्कृति का विकास किया। भगवत शरण उपाध्याय के अनुसार " अनगिनत कबीलों ने सभ्य भी बर्बर भी भारत की सीमाएं लांघ कर इस देश में प्रवेश किया एवं यहां के सामाजिक ताने-बाने में अपनी नयनाभिराम छवियां डालीं स्वयं इसमें विलीन हो गए.....एक ओर भारतीय संस्कृति का मूल आर्यों से पूर्व हड़प्पा तथा द्रविड़ों की सभ्यता तक पहुंचता है, तो दूसरी ओर इस पर आर्य संस्कृति की गहरी छाप है, जो भारत में मध्य एशिया से आए थे। धीरे-धीरे यह संस्कृति उत्तर-पश्चिम से आने वाले तथा फिर समुद्र की राह से पश्चिम से आने वाले लोगों से बार-बार प्रभावित हुई और इस प्रकार धीरे-धीरे राष्ट्रीय संस्कृति ने आकार ग्रहण किया। भारतीय संस्कृति में हम दो परस्पर विरोधी और प्रतिद्वन्दी शक्तियों को काम करते देखते हैं। एक तो वह शक्ति है जो बाहरी तत्वों को आत्मसात कर समन्वय और सामंजस्य पैदा करने की कोशिश करती है और दूसरी वह जो विभाजन को प्रोत्साहन देती है।" विभिन्न संस्कृतियों से संपर्क और अन्तःक्रिया के दौरान ही शास्त्रकारों द्वारा बहुत सी रूढ़ियां भी

भारतीय समाज और परंपरा सम्मिलित हुई, जो इस संस्कृति का एक निर्बल पक्ष है। जाति के बंधन कठोर हुए। एक ओर विचारों और सिद्धांतों में भारतीय संस्कृति का अधिक से अधिक उदार और सहिष्णु रूप सामने प्रदर्शित किया गया तो दूसरी ओर सामाजिक आचार-विचार अत्यंत संकीर्ण होते चले गए।

डी.डी. कोसांबी के शब्दों में “भारतीय संस्कृति की संभवतः सबसे बड़ी विशेषता है— अपने ही देश में इसकी निरंतरता।...देश के सभी भाग एक साथ एक ही अवस्था में नहीं रहे। प्रत्येक अवस्था में, देश के प्रायः हर भाग में, पहले की सभी अवस्थाओं के कई लक्षण जीवित रहे और उनके साथ साथ अनेक पूर्वावस्थाओं के उत्पादन के तरीके और रीति रिवाज भी। ऐसे कुछ लोग हमेशा मौजूद रहे जो पुरानी पद्धति से हठपूर्वक चिपके रहना चाहते थे और चिपके रहे। परंतु हमें उसी एक एक विशिष्ट पद्धति पर ध्यान देना है, जिसका प्रभाव इतना अधिक व्यापक हो गया कि वह देश के अधिकांश हिस्सों पर लागू हो गई।” भारतीय संस्कृति में धर्म, आध्यात्मवाद, ललित कलाएं, ज्ञान-विज्ञान, विविध विधाएं, नीति, विधि-विधान, जीवन-प्रणालियां और वे समस्त क्रियाएं और कार्य हैं जो उसे विशिष्ट बनाते हैं तथा जिन्होंने भारतीयों के सामाजिक-राजनीतिक विचारों, धार्मिक और आर्थिक जीवन, साहित्य, शिष्टाचार और नैतिकता को ढाला है। इसमें भी विकास क्रम के अनुरूप विविध संस्कृतियों के संघर्ष, मिलन और संपर्क से परिवर्तन और आदान-प्रदान तथा विविध श्रेष्ठ सांस्कृतिक तत्वों का संग्रह होता रहा है। इस संस्कृति में दो परस्पर विरोधी विशेषताएं दिखाई देती हैं— विविधता के साथ-साथ एकता। वेश-भूषा, भाषा, उपासना पद्धति, यहां के निवासियों का शारीरिक रंग-रूप, रीति-रिवाज, जीवन स्तर, भोजन, जलवायु, भौगोलिक विशेषताएं— सभी में अधिक से अधिक भिन्नताएं दिखाई देती हैं। एक ही प्रांत, यहां तक कि एक ही जनपद अथवा नगर के भारतीय निवासियों में उतनी ही अधिक सांस्कृतिक असमानता है, जितनी भारत के विभिन्न भागों में प्राकृतिक असमानता। विविधता में एकता की प्रवृत्ति ने विभिन्नताओं से परिपूर्ण इस देश को शताब्दियों से एक सूत्र में पिरोकर रखा है और इसका सांस्कृतिक ताना-बाना ऐतिहासिक कालक्रम में विघटनकारी शक्तियों के प्रभावी होने के बावजूद भी अक्षुण्ण रह पाया है।

2.10 तकनीकी शब्दावली

• **जग्गुरत**— बाबुल तथा अन्य स्थानों पर बनाए गए एक प्रकार के मन्दिर, जिनमें से कुछ सात सात मंजिल के थे और जिनके ठोस बाहरी भाग के चारों ओर ठोस वर्तलाकार सीढ़ियां ऊपर की ओर उठती चली गई थीं। इनको जग्गुरत कहा जाता था। बिना कक्षों वाले मन्दिर के लिए संस्कृत शब्द है ‘जरुक’, जो जग्गुरत का बिगड़ा हुआ रूप है। महाभारत में इन्हें एदुक कहा गया है। इन्हें स्तूप से समीकृत या जा सकता है।

• बाबुल—बेबीलोन / असुरिया—असीरिया / सुमेरिया—सुमेर

ये सभी प्रचीन मेसोपोटामिया (वर्तमान ईराक) की सभ्यता से सम्बन्धित हैं।

2.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

खण्ड 2.3 का उत्तर

1. (क) देखें 2.3(ख) देखें 2.3.1
2. (क) देखें 2.3 (सही) (ख) देखें 2.3 (सही)
- (ग) देखें 2.3.1 (गलत) (घ) देखें 2.3.1 (सही)

खण्ड 2.4 के उत्तर

1. 2.4
 2. (क) देखें 2.4 (सही) (ख) देखें 2.4 (गलत) (ग) देखें 2.4 (सही)
- खण्ड 2.5 के उत्तर
1. देखें 2.5
 2. (क) देखें 2.5 (सही)
- खण्ड 2.6 के उत्तर
1. देखें 2.6
 2. देखें 2.6(सही)
- खण्ड 2.7 के उत्तर
1. देखें 2.7
 2. (क)देखें 2.7 (गलत) (ख)देखें 2.7 (सही) (ग)देखें 2.7 (सही)
- खण्ड 2.8 के उत्तर
1. देखें 2.8

2.12 उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भगवत शरण उपाध्याय, भारतीय संस्कृति के स्रोत, दिल्ली, 1973
2. ए.एल बाशम, अद्भुत भारत, हिन्दी अनुवाद, आगरा 1972
3. दामोदर धर्मानन्द कोसंबी, प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता,नई दिल्ली, पटना, 1964, 1990
4. रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पटना, 1956, 20016
5. विशुद्धानन्द पाठक,दक्षिण भारतीय संस्कृति,लखनऊ 2008
6. राधाकुमुद मुखर्जी, हिन्दू सभ्यता, दिल्ली 1990
7. बी.एन. लूनिया, प्राचीन भारतीय संस्कृति , आगरा 1966

2.13 निबंधात्मक प्रश्न

- 1 भारतीय संस्कृति को आप किस प्रकार समन्वयवादी मानते हैं। विवेचना कीजिए।
- 2 भारतीय संस्कृति की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

- 3.0 प्रस्तावना
- 3.1 उद्देश्य
- 3.2 प्राचीन भारतीय कला की विशेषताएँ
 - 3.2.1 कला का स्वरूप
 - 3.2.2 कला की अर्थ व्यंजना
 - 3.2.3 अलंकरण
 - 3.2.4 कला में अंकित विषय और जन.जीवन/विश्वास और धारणाएं
 - 3.2.4.1 कला के प्रतीकात्मक विषय
 - 3.2.5 अध्यात्म और सौन्दर्य का समन्वय
- 3.3 ललित कलाएँ
 - 3.3.1 वास्तुकला
 - 3.3.1.1 स्तूप
 - 3.3.1.2 गुफा मन्दिर और चैत्य
 - 3.3.1.3 मन्दिर
 - 3.3.1.4 मूर्तिकला
 - 3.3.2 चित्रकला
 - 3.3.3 मुद्रा निर्माण कला
 - 3.3.4 मृद्भाण्ड
 - 3.3.5 संगीत/वाद्य/नृत्य
- 3.4 भारतीय कला पर विविध प्रभाव
- 3.5 कलाकृतियों हेतु प्रयुक्त सामग्री का प्राप्ति स्थान
- 3.6 सारांश
- 3.7 तकनीकी शब्दावली
- 3.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 3.9 उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 3.10 निबन्धात्मक प्रश्न

3.0 प्रस्तावना

“भारतीय कला भारतवर्ष के जीवन दर्शन, धर्म, तत्वज्ञान और संस्कृति का दर्पण है। भारतीय जनजीवन की व्याख्या कला के माध्यम से हुई है। यहाँ के लोगों का रहन-सहन कैसा था, उनके भाव क्या थे, देव तत्व के विषय में उन्होंने क्या सोचा था, उनकी पूजा विधि कैसी थी, उन्होंने कितना निर्माण किया था, इसका अच्छा लेखा-जोखा भारतीय कला में सुरक्षित है। वास्तु, शिल्प, मूर्ति, चित्र, कांस्य प्रतिमा, मिट्टी की प्रतिमाएँ, हाथी दाँत से संबन्धित कर्म, काष्ठकर्म, मणिकर्म, स्वर्ण-रजतकर्म, वस्त्र आदि के रूप में भारतीय कला की सामग्री प्रभूत मात्रा में पाई जाती है। कला की इस प्रगति में अनेक जातियों ने योगदान किया,

किन्तु इसकी मूल प्रेरणा और अर्थ.व्यंजना मुख्यतः भारतीय ही है। भारतीय कला के सम्पूर्ण अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि भारतीय धर्म, दर्शन, और संस्कृति के साथ मिलाकर उसे देखा जाय जिसकी सामग्री वेद, पुराण, काव्य, त्रिपिटक, आगम आदि नानाविध भारतीय साहित्य में पाई जाती है।''(वासुदेवशरण अग्रवाल)

भारतीय कला यहाँ के मस्तिष्क और हस्तकौशल का सर्वोत्तम प्रमाण है। इसकी सामग्री वैसी ही समृद्ध है, जैसी भारतीय साहित्य, धर्म और दर्शन की। भारतीय कला के अवगाहन द्वारा हम यहां के शिल्प, मूर्तियों, चित्रों, संगीत, नृत्यआदि विभिन्न विशेषताओं और उनमें छिपी हुई मानसिक कल्पना एवं प्रतिभा सेभी परिचित हो सकते हैं।

3.1 उद्देश्य

- प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य आपको प्राचीन भारतीय कला की विभिन्न विशेषताओं से परिचित कराना है।
- इस इकाई के अध्ययन द्वारा आप समझ पाएंगे कि भारतीय कला में आध्यात्म और सौन्दर्य का अद्भुत समन्वय हुआ है।
- आप कला के विभिन्न विषयों एवं प्रतीकों की विविधता का विवेचन भी कर पाएंगे।
- भारतीय कला के अध्येता के रूप में आप कला के स्थानीय, प्रादेशिक और राष्ट्रीय सन्दर्भ, रूप, शैली, अलंकरण, प्रभाव और अर्थों को अलग पहचान कर उनकी व्याख्या करने का प्रयास कर सकेंगे।

3.2 प्राचीन भारतीय कला की विशेषताएँ

वासुदेवशरण अग्रवाल ने भारतीय कला का उसकी विशेषताओं के आधार पर निम्नवत कालनिर्धारण किया है— सिन्धु घाटी से लेकर नन्द वंश के पूर्व तक आद्य युग है। उसके बाद मौर्य काल से हर्ष के समय तक मध्य युग, जिसके दो भाग हो जाते हैं— एक के अन्तर्गत मौर्य, शुंग, कण्व और सातवाहन युग की महान कलाकृतियाँ हैं। इस पूर्व युग में कला के अंकुर भिन्न-भिन्न प्रदेशों में उभार ले रहे थे। सारनाथ, भरहुत, सांची, बोधगया, अमरावती, भाजा उसी के केन्द्र हैं। इसके उत्तरार्द्ध में प्रथम शताब्दी ई. से लेकर लगभग सातवीं शताब्दी तक अर्थात् कनिष्क से हर्ष तक की कलाकृतियाँ आती हैं। इस युग में कला की प्रौढ़ता राष्ट्रीय स्तर पर देश के चारों कोनों में फैल जाती है। न केवल देश में किन्तु विदेशों में भी भारतीय कला का प्रभाव दिखाई देता है। इन सात सौ वर्षों में भारत में कला, साहित्य, दर्शन और जीवन का सर्वोच्च विकास हुआ और पुराणों में धारणा बनी कि—पृथ्वी में भारत के समान कोई देश नहीं है। (न भारतसमं वर्ष पृथिव्यामस्ति भो द्विजाः!) हर्ष युग के बाद भारतीय कला का चरम युग आता है, जिसे मध्यकाल (700–1200) भी कहते हैं। उसके भी दो भाग हैं, पूर्व मध्यकाल (700–900ई.) और उत्तर मध्यकाल (900–1200 ई.)।

3.2.1 भारतीय कला का स्वरूप

प्राचीन भारतीय कला को उसकी विशेषताओं के आधार पर धार्मिक और लौकिक दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है। ए.एल. बाशम के अनुसार "प्राचीन भारत के लगभग समस्त कलात्मक अवशेषों का स्वरूप धार्मिक है अथवा उनकी रचना धार्मिक उद्देश्यों से हुई थी। धर्मनिरपेक्ष कला भी अवश्य ही थी,

क्योंकि हमें साहित्य से ज्ञात होता है कि राजा लोग सुन्दर भित्ति चित्रों एवं मूर्तियों से सुसज्जित उत्तम प्रासादों में निवास करते थे। यद्यपि ये सब नष्ट हो गए हैं। अधिकतर भारतीय एवं यूरोपीय विशेषज्ञों ने भारतीय कला के धार्मिक एवं रहस्यात्मक स्वरूप पर एक समान बल दिया है। प्रारंभिक मूर्तिकला के यथार्थवाद एवं लौकिकता को स्वीकार करते हुए अधिकांश आलोचकों ने हमारे समय के कलात्मक अवशेषों में वेदान्त अथवा बौद्ध धर्म के सत्त्यों को पढ़ा है और उन्हें गहन धार्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार किया है।”

कुछ अवशेष तो ऐसी धार्मिक भावना से परिपूर्ण हैं, जो संसार में दुर्लभ हैं, परंतु वस्तुतः प्राचीन भारत की कला में उस काल का पूर्ण एवं क्रियात्मक जीवन ही मुख्य रूप से प्रतिबिम्बित है। प्रारम्भ में प्रत्यक्ष रूप में जैसे कि भरहुत, सांची और अमरावती में और फिर कुछ आदर्शवादिता के साथ जैसे अजन्ता में और अन्त में मध्ययुगों में अनेक मन्दिरों में निर्मित दैवी एवं मानवी असंख्य प्रतिमाओं के रूप में एक अत्यधिक चेतन शक्ति है जो हमें परलोक की अपेक्षा इसी लोक का अधिक स्मरण कराती है। मन्दिरों के शिखर यद्यपि लम्बे हैं पर वे दृढ़ता से भूमि पर आधारित हैं। आदर्श रूप अनियमित रूप से लम्बे न होकर नाटे तथा गठीले हैं। देवता एक समान युवा और सुन्दर हैं। उनके शरीर स्वस्थ एवं परिपुष्ट हैं जो प्रायः यूरोपीय मतानुसार नारीवत् प्रतीत होते हैं। कभी-कभी वे क्रूर अथवा क्रोधपूर्ण मुद्रा में चित्रित किए जाते हैं, परन्तु सामान्य रूप से मुस्कुराते हैं तथा उनमें दुख का चित्रण बहुत ही कम है। नृत्य करते हुए शिव के अतिरिक्त अन्य पवित्र प्रतिमाओं को बैठे हुए दिखाया गया है। समस्त भारतीय मन्दिरों की मूर्तियों में, चाहे हिन्दू हों, बौद्ध हों या जैन सदैव कम वस्त्रों से युक्त तथा लगभग भारतीय सौन्दर्य के स्तर के अनुरूप नारी रूप का उपयोग साज-सज्जा की सामग्री के लिए किया गया है।

प्राचीन भारत की कला उसके धार्मिक साहित्य से विलक्षण रूप में भिन्न है। एक ओर जहां साहित्य व्यवसायों में संलग्न व्यक्तियों, ब्राह्मणों, मुनियों और सन्यासियों का कार्य है तो दूसरी ओर कला मुख्य रूप से उन धर्मनिरपेक्ष कलाकारों के हाथ से निःस्रित हुई, जिन्होंने यद्यपि पुरोहितों के आदेश तथा बढ़ते हुए मूर्ति निर्माण सम्बन्धी शास्त्रीय मानकों के अनुसार कार्य किया, फिर भी वे उस संसार से प्रेम करते थे जिसे वे इतनी गहराई से जानते थे, जो प्रायः उन धार्मिक रूपों में देखी जाती है, जिनमें उन्होंने आत्माभिव्यक्ति की। बाशम का कहना है कि “हमारे विचार में भारतीय कला की सामान्य प्रेरणा परमात्मा की खोज में उतनी नहीं है, जितनी कि कलाकार द्वारा प्राप्त संसार के आनन्द में तथा पृथ्वी पर जीवित प्राणियों के विकास के समान नियमित और चेतन शक्ति युक्त विकास और गति की भावना में है।” वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार “भारतीय विचारधारा के अनुसार रूप वही अच्छा है जो अपने प्रतिरूप का अधिकतम परिचय दे सके। भारतीय शिल्पी ने व्यक्तियों की प्रतिकृति या रूपों से मोह करना नहीं सीखा। उसके शिल्प का निर्माण बहुधा उस भाव जगत में होता है, जिसमें वह सर्वरूप का ध्यान करता है। युग विशेष में स्त्री-पुरुषों के प्रतिमानित सौन्दर्य का ध्यान करके भारतीय शिल्पी उसे चित्र या शिल्प में प्रयुक्त करता है। व्यक्ति विशेष के रूप को वह अपने चित्र में नहीं उतारता। वह समाज में आदर्शभूत सब रूपों का एक बिम्ब कल्पित करता है। मथुरा की यक्षी प्रतिमाएं स्त्री विशेष की प्रतिकृति नहीं, नारी जगत की आदर्श प्रतिकृति हैं, जो उस देश और उस काल में शिल्पी के मन में निष्पन्न हुआ, वही इन रूपों में मूर्त हुआ है। इसी प्रकार बुद्ध मूर्ति देश काल में जन्मे हुए ऐतिहासिक गौतम की प्रतिकृति नहीं है। वह तो दिव्य भावों से सम्पन्न रूप है। योगी के अध्यात्म गुणों से युक्त पुरुष की जो आदर्श आकृति हो सकती है, वही बुद्ध की मूर्ति है। आदर्श मानव का रूप ही भारतीय शिल्प और चित्र में पूजित हुआ है। गुप्त कला में बाह्य रूप की पूर्ण मात्रा को अनुप्राणित करने वाला जो जो अर्थसौन्दर्य है, वह अद्भुत या विलक्षण रूप प्रस्तुत करता है।

कलाकृतियों में जो रमणीयता, सजीवता और आकर्षण है, उसमें मन दिव्य भावों के लोक में विलक्षण आनन्द, शान्ति और प्रकाश का अनुभव करता है।”

3.2.2 भारतीय कला की अर्थ व्यंजना

भारतीय सौन्दर्यशास्त्र के अनुसार कला के चार अंग माने गए हैं— (1) रस (2) अर्थ (3) छन्द (4) रूप (काव्य के लिए रूप के स्थान पर शब्द का प्रयोग होता है।) भारतीय कला में इन सभी तत्वों का समावेश हुआ है।

रस कला की आत्मा है। यह वह अध्यात्म गुण है जिसमें रचना का स्थायी मूल्य निहित रहता है। मनुष्य के मन में जो अनेक प्रकार के भाव जन्म लेते हैं, उन्हें ही कला और काव्य द्वारा व्यक्त किया जाता है। मन में रस या तन्मयता की अनुभूति होने पर कवि या कलाकार उस अर्थ या विषय को चुनते हैं, जिसके द्वारा रस या भाव स्फुटित होते हैं। भारतीय कला की अर्थ संबन्धी विशेषता के अन्तर्गत विविध देव और देवियों का विस्तार है जो विश्व की दिव्य और भौतिक शक्तियों के प्रतीक हैं। इन देव-देवियों के विषय में वेदों और पुराणों में अनेक आख्यान आए हैं। उनका उद्देश्य ज्योति और तम, सत् और असत्, अमृत और मृत्यु के द्वन्द्व की व्याख्या करना है। प्राचीन परिभाषा में इस द्वन्द्व को दैवासुरम कहा गया है अर्थात् देवों और असुरों के शाश्वत संग्राम की परिकल्पना। बुद्ध, महावीर आदि महापुरुष और इन्द्र, शिव, विष्णु आदि देव प्रकाश और सत्य के प्रतीक हैं। इसके विपरीत वृत्र, मार, महिष, त्रिपुरासुर और तारकासुर असत् या अन्धकार के प्रतीक हैं। भारतीय कला का सांस्कृतिक उद्देश्य जानने के लिए उसके अर्थ का परिचय आवश्यक है। अर्थ की जिज्ञासा हमें कला के प्रतीकात्मक स्वरूप के समक्ष ले जाती है, जैसे चक्र, पूर्णघट, स्वस्तिक, पद्म, श्रीलक्ष्मी, अष्टमंगल अथवा अष्टोत्तरशत मंगलचिन्ह एवं गरुड़, नाग, यक्ष आदि कला के प्रतीक द्वारा कलासंबन्धी अध्ययन में सहायक हैं।

3.2.3 कला में अलंकरण

वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार “अलंकरण या साज-सज्जा के अभिप्राय तीन प्रकार के हैं— 1. रेखाकृति प्रधान 2. पत्र-वल्लरी प्रधान और 3. ईहामृग या कल्पनाप्रसूत पशु-पक्षियों की आकृतियां। इन अभिप्रायों के मूल रूप प्राकृतिक जगत से लिए गए हैं, किन्तु कलाकारों ने अपनी कला के बल पर उन्हें अनेक रूपों में विकसित किया है। कहीं गौण आकृति के रूप में, कहीं प्रतिमा को चारों ओर से सुसज्जित करने के लिए, कहीं रिक्त स्थान को रूपाकृति से भर देने के लिए अलंकरणों का विधान किया गया है। उनका उद्देश्य कला में सौन्दर्य की अभिवृद्धि है। किन्तु शोभा के अतिरिक्त अभिप्रायों के दो उद्देश्य और थे— एक तो आरक्षा या मंगल के लिए, दूसरे विशेष अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए। इन अलंकरणों को भारतीय परिभाषा में मांगल्य चिन्ह कहा गया है। भारतीय सौन्दर्यशास्त्र के अनुसार शून्य या रिक्त स्थान में असुरों का वास हो जाता है, किन्तु यदि गुहादिक आवास या देवगृह में मांगलिक चिन्ह लिखे जायँ तो देवी श्री और रक्षा उस स्थान में अवतीर्ण होती हैं। स्वस्तिक, पूर्णघट या कमल के फुल्ले (पदुमक) को जब हम देखते हैं तो उनसे नाना प्रकार के मांगलिक अर्थ मन में भर जाते हैं। उदाहरण के लिए एक गजचिन्ह इन्द्र के श्वेत ऐरावत का द्योतक है, अश्व उच्चैःश्रवा अश्व का प्रतीक है, जो समुद्रमंथन से उत्पन्न हुआ था और स्वर्गलोक का मांगलिक पशु है। सूर्य ही वह विराट अश्व है जो काल या संवत्सर के रूप में सबके जीवन में प्रविष्ट है। इस प्रकार भारतीय कला के सुन्दर अभिप्राय धर्म और संस्कृति की पृष्ठभूमि में सार्थक हैं। गुप्त युग में पत्रलता की सरल और पेचीदा आकृतियां बनाने की बहुत प्रथा थी। उनके कई अच्छे नमूने

धमेख स्तूप के आच्छादन शिलापट्टों पर सुरक्षित हैं। इसका मूल भाव यही था कि जो प्रकृति की विराट प्राणात्मक रचना पद्धति है, उसी के अंग-प्रत्यंग पशु, पक्षी, वृक्ष और फल-फूल, यक्ष, वामन, कुब्जक, मनुष्य आदि हैं। बाणभट्ट ने लिखा है कि रानी विलासवती के प्रसूतिगृह की भित्तियों को पत्रलता की मांगलिक आकृतियों से भर दिया गया था, जिन पर दृष्टि डालने से रानी के नेत्रों को सुख मिलता था और जिनके द्वारा आसुरी शून्यता से उसकी रक्षा होती थी। गुप्तकालीन कला, शिल्प, चित्र और स्थापत्य इस प्रकार के अलंकरणों से बहुत भरे हुए हैं। कुषाणकाल की कला ईहामृग या विकट आकृति के पशुओं से भरी हुई है, क्योंकि इस प्रकार के ऐंठे गेंठे शरीर वाले पशुओं में शकों की स्वयं बहुत रुचि थी।”

3.2.4 कला में अंकितविषय और जन जीवन/ विश्वास और धारणाएं

भारतीय कला की एक विशेषता उसमें अंकित सांस्कृतिक जीवन की सामग्री है। राजा और प्रजा दोनों के ही जीवन का खुल कर चित्रण किया गया है। कला में भारतीय जीवन और रहन-सहन की स्पष्ट छाप है। भारतीय वेशभूषा, केशविन्यास, आभूषण, शयनासन आदि की सामग्री चित्र, शिल्प आदि में मिलती है। छोटी मिट्टी की मूर्तियां भी इस विषय में सहायक हैं। उनमें तो सामान्य जनता को भी स्थान मिला है। भरहुत, सांची, अमरावती, नागार्जुनीकोण्डा आदि के स्तूपों पर इसकी छाप है। भारतीय कला सदा जीवन को साथ लेकर चली है।

समय-समय पर जो धार्मिक आन्दोलन हुए और जिन्होंने लोकजीवन पर गहरा प्रभाव डाला, उनसे भी कला को प्रेरणा मिली और उनकी कथा कला के मूर्त रूपों में सुरक्षित है। इस विषय में कला की सामग्री कहीं तो साहित्य से भी अधिक सहायक है। यक्षों और नागों का बहुत अच्छा परिचय भरहुत, सांची और मथुरा की कला में मिलता है। इसी प्रकार उत्तरकुरु के विषय में जो लोकविश्वास था, उसका भी उत्साहपूर्ण अंकन भाजा, भरहुत, सांची आदि में हुआ है। मिथुन, कल्पवृक्ष, कल्पलता आदि अलंकरण उसी से सम्बन्धित हैं जिनका वर्णन जातक, महाभारत, रामायण आदि में आया है। दुकूल वस्त्र, पनसाकृति पात्रों में भरा हुआ उत्तम मधु, आम्राकृति पात्रों में भरा हुआ लाक्षारस, सिर, कान, ग्रीवा, बाहु और पैरों के आभूषण एवं स्त्री पुरुषों की मिथुन मूर्तियां— सबका कल्पवृक्ष है जिसकी छाया में वह अपनी इच्छा के अनुसार फूलता-फलता है। इसी प्रकार अजंता के गुफा चित्रों को देखें तो इनका विषय सर्वथा धार्मिक है। इनमें अंकित करुणा बुद्ध की भावना का मूर्त रूप है। चित्रकारों ने मनुष्यों के रूपों के भेद और उनका अभिजात्य बड़ी कुशलता से चित्रित किया है, अर्थात् भिक्षुक, ब्राह्मण, वीर सैनिक, सुन्दर राजपरिवार, विश्वसनीय कंचुक और प्रतिहार, निरीह सेवक, क्रूर व्याध, निर्दयी वधिक, शांत तपस्वी, साधुवेशधारी धूर्त, परिचारिका, विरहाकुल राजकुमारी, माता-पुत्र, आदि के भिन्न-भिन्न मुख मुद्राओं आदि की कल्पना उन्होंने बड़ी मार्मिकता से की है। प्रेम, लज्जा, हर्ष, हास, शोक, उत्साह, क्रोध, घृणा, भय, आश्चर्य, चिन्ता, विरक्ति, शान्ति आदि भाव भी बहुत खूबी से दिखाए गए हैं। रेखाओं और वृत्तों की ज्यामितीय आकृतियों का स्थान-स्थान पर उपयोग किया गया है, किन्तु प्रधानता कमल की है, जो अनेकरूप होकर सर्वत्र व्याप्त है। आप इसी इकाई के खण्ड 3.3.1.4 में मूर्तिकला के अन्तर्गत भी कला के विषयों का विस्तार से अवगाहन करेंगे।

3.2.4.1 कला के प्रतीकात्मक विषय

भारतीय कला के जो वर्ण्य विषय हैं, वस्तुतः उनका महत्व सबसे अधिक है। उनमें भारतीय जीवन और विचारों की ही व्याख्या मिलती है। इसकी एक विशेषता यह थी कि सामान्य जनता के धार्मिक विश्वास कला में बुद्ध, महावीर, शिव और विष्णु के उच्चतर धर्मों के साथ मिलकर परिगृहीत हुए। भारतीय धर्म में

एक ओर बुद्ध, शिव-रुद्र या नारायण-विष्णु का तत्त्वज्ञान भी है और दूसरी ओर उन अनेक देवताओं की पूजा मान्यता भी है जो मातृभूमि से संबन्धित थे, जैसे— यक्ष, नाग, नदी, सागर, चन्द्र, सूर्य, इन्द्र, स्कन्द, रुद्र, आदि। देवपूजा के वे प्रकार जैसे लोक में थे वैसे ही कला में भी अपनाए गए। इस प्रकार विशिष्ट और सामान्यजन दोनों की मान्यताओं का चित्रण भारतीय कला में हुआ है। यह प्रागैतिहासिक काल से लेकर ऐतिहासिक युगों तक विभिन्न सभ्यताओं में प्रयुक्त विभिन्न प्रतीकों, अभिप्रायों और विषयों को लेकर चली है। विभिन्न धर्मानुयायी इच्छानुसार कई चिन्हों को एक एक प्रतिमा या मूर्ति में स्वीकार करके पुनः उनके महात्म्य का वर्णन करते थे। विभिन्न देवी-देवताओं के साथ जुड़ जाने से प्रतीक चिन्हों का नया महत्व हो जाता था। उदाहरण के लिए वैदिक सुपर्ण विष्णु का वाहन गरुड़ बन गया, चक्र बुद्ध और महावीर का धर्मचक्र और विष्णु का सुदर्शन चक्र हो गया। इन प्राचीन मांगलिक प्रतीकों के अध्ययन से भारतीय कला के अनेक रूपों को समझा जा सकता है। आपके अध्ययन की सुविधा के लिए इनमें से कुछ का उल्लेख निम्नवत है—

(1) बुद्ध— कला में लोकोत्तर बुद्ध का जीवन लिया गया है और उसका घनिष्ठ सम्बन्ध उन प्रतीकों से था जो मानवीय अर्थों से ऊपर दिव्य अर्थों की ओर संकेत करते हैं। उदाहरण के लिए तुषित स्वर्ग से बुद्ध का अधोगमन, श्वेत हस्ति के रूप में मायादेवी को स्वप्न और गर्भप्रवेश, माता की कुक्षि से तिरश्चीन जन्म, सप्तपद, शीतोष्ण जलधाराओं से प्रथम स्नान, बोधिवृक्ष, वानरों द्वारा मधु का उपहार, लोकपालों द्वारा अर्पित चार पात्रों का बुद्ध द्वारा एक पात्र बनाया जाना, अग्नि और जल सम्बन्धी चमत्कार का प्रदर्शन, धर्मचक्रप्रवर्तन, तैंतीस देशों के स्वर्ग में माता को धर्मोपदेश, सोने, चांदी और तांबे की सीढ़ियों से पुनः पृथ्वी पर आना आदि कला के अंकन बुद्ध के स्वरूप के विषय में प्रतीकात्मक कल्पना प्रस्तुत करते हैं, जिसका संबन्ध ऐतिहासिक बुद्ध से न होकर लोकोत्तर अर्थात् बुद्ध के दिव्य रूप से है। विष्णु और शिव की दिव्य लीलाओं के समान ही इन लीलाओं का आकलन किया गया। महायान बौद्ध धर्म में इन लीलाओं का विस्तार किया गया।

(2) शिव — सिन्धुघाटी से लेकर ऐतिहासिक युगों तक लिंगविग्रह या पुरुषविग्रह के रूप में शिव का अंकन पाया जाता है। इन दोनों का विशेष अर्थ भारतीय धर्म और तत्त्वज्ञान के साथ जुड़ा हुआ है। सिन्धु घाटी में योगी और पशुपति के रूप में रुद्र शिव कई मुद्राओं पर अंकित मिले हैं। यजुर्वेद के शतरुद्रिय अध्याय 16 के अनुसार रुद्र शिव की पूजा देश के उत्तर-पश्चिम भाग में उस समय बहुत प्रचलित थी। एक ओर लोकवार्ता में प्रचलित शिव के स्वरूपों को ग्रहण किया गया, किन्तु दूसरी ओर उनके साथ नए-नए अर्थों को जोड़कर उन्हें धर्म और दर्शन के क्षेत्र में नई प्रतिष्ठा दी गई। कला में शिव के निम्न रूप मिलते हैं— पशुपति, अर्द्धनारीश्वर, नटराज, कामान्तक, गंगाधर, हरिहर, यमान्तक, चन्द्रशेखर, योगेश्वर, नन्दीश्वर, उमामहेश्वर, ज्योतिर्लिंग, रावणानुग्रह, पंचब्रह्म, दक्षिणमूर्ति, अष्टमूर्ति, एकादशरुद्र, मृगव्याध, मृत्युंजय आदि।

(3) देवता — भारतीय कला देवत्व के चरणों में एक समर्पण है। यूप, स्तूप एवं प्रासाद या देवगृह में सर्वत्र देवता निवास करते हैं। स्तूप की हर्मिका, मन्दिर का गर्भगृह एवं यूप का ऊपरी भाग ये तीनों देवसदन हैं। श्री-लक्ष्मी, सूर्य, चन्द्र, वामन- विराट, त्रिविक्रम विष्णु, सुदर्शन चक्र, अर्द्धनारीश्वर, कुमार, गणपति, अदिति, समुद्र, हिरण्यगर्भ, नारायण, दक्ष, अग्नि, ब्रह्म, वसु, रुद्र, आदित्य, अश्विन, गण देवता, सप्तर्षि, नारद, गन्धर्व, अप्सरा, कुम्भाण्ड, नाग, यक्ष, नदी, देवता, सिद्ध, विद्याधर आदि प्रतीक भारतीय संस्कृति व कला में वैदिक युग की जीवन विधि या साहित्य से अपनाए गए।

(4) धार्मिक एवं दार्शनिक भाव— स्वस्तिक, दैवासुर संग्राम, त्रिविक्रम, ज्योतिर्लिंग, वाराह द्वारा पृथ्वी का समुद्र से उद्धरण, सप्तपदी, तिरश्चीन निर्गमन(इन्द्र, बुद्ध और स्कन्द का मातृकुक्षि से तिर्यक जन्म), अग्नि स्कन्ध=ज्योतिर्लिंग (आग का खम्भा) आदि।

(5) पशु पक्षी— एकश्रृंग पशु , महावृषभ, छोटे सींगों वाला नटुआ बैल, महिष, गैंडा, व्याघ्र, हाथी, खरगोश, हिरन, मत्स्य, कूर्म, वराह, मकर, सिंह, नाग, अज, नकुल, व्याल आदि विकट ईहामृग, आदि। धर्म सम्बन्धी काल्पनिक पशु (उदाहरणार्थ एक मुद्रा पर अंकित पुरुष पशु, जिसके पैरों में खुर, सिर पर सींग और पीछे पूंछ है, जो एक काल्पनिक पशु से , जिसके शरीर का अधिकांश व्याघ्र जैसा है, कुश्ती कर रहा है) आदि (हड़प्पा सभ्यता की मुहरों पर अंकित)। दो सिरों वाला बैल, नन्दी, अनन्त (सहस्रशीर्षा शेषनाग), वराह, वृषभधेनु(गाय बैल का जोड़ा), देवजात अश्व, ऐरावत (तुषित स्वर्ग से उतरता हुआ श्वेत हस्ति, जो बुद्ध की माता की कुक्षि में प्रविष्ट हुआ) हंस, गरुड़, सारस आदि।

(6) मानव— मुनि, अष्टकन्याएं, अष्टदिवकुमारिकाएं, चक्रवर्ती, सात बहिनें, नर (कुबेर के विशेष वाहन), शिशु, देवयोनि।

(7) अर्धदेव—नाग, यक्ष, विद्याधर, गन्धर्व, किन्नर, सुपर्ण, कुम्भाण्ड, लोकपाल, अप्सराएं, वृक्षकाएं, चतुर्भारजिकदेव।

(8) विविध वस्तुएं और पदार्थ—वेदिका, पूर्णकुम्भ, चक्र, यूप, स्तम्भ, इन्द्रयष्टि (त्रिभुजांकित ध्वज), वेदिका, त्रिशूल, वज्र, केतु (ध्वज), मण्डल (कुण्डल), चमू (बड़ा घट), मांगलिक रत्न, मधुकोश (कपियों द्वारा बुद्ध को प्रदत्त शहद भरा कटोरा), इन्द्रासन (स्वर्ग में इन्द्र का महान आसन), पात्र, मणि, भद्रमणि, कौस्तुभ, शंख, मुक्ता, अष्टनिधिमाला, कण्ठा, हार, छत्र, रथ, विमान, शकट, पर्वत, नदी, वारुणी, घट, पूर्णघट, कार्षापण, मेखला, चामर, आदर्श (दर्पण), यूप(स्तंभ), स्थूणराज(बड़ा खम्भा), स्तूप, देवगृह (या विमान), कुटी या पर्णशाला, कपिशीर्षक (कंगूरे), रत्न, मुकुट, वीणा, वंशी, मृदंग, मजीरे, देववाद्य आदि।

(9) वृक्ष, लता, वनस्पति और पुष्प पौधे— व्याल युक्त पीपल, पद्म या पुष्कर, कल्पवृक्ष, कल्पलता, पीपल, वट, माला, मुचकुन्द, ताल, पुण्डरीक, आदि।

(10) अन्य— मिथुन (नरनारीमय अलंकरण), सुमेरु पर्वत, द्यावापृथ्वी, विमान (देवगृह), पुर, देवसदन (बौद्ध स्तूपों की हर्मिका), गुहा आदि।

(11) शस्त्र आदि— त्रिशूल, शूल, वज्र, चक्र या रथांग, धनुष, बाण, हल, मूसल, गदा, खड्ग, चर्म, ढाल, कवच आदि।

(12) अभिप्राय और प्रतीक— स्वस्तिक, श्रीवत्स, श्रीचक्र, श्रीवृक्ष, त्रिरत्न, नन्दिपद, चक्र आदि।

3.2.5 अध्यात्म और सौन्दर्य का समन्वय

प्राचीन भारतीय कला में आध्यात्म और सौन्दर्य का सम्मिश्रण दिखाई देता है। मनुष्य की आधिभौतिक प्रगति और आनन्द के साथ-साथ उसकी आध्यात्मिक प्रगति पर भी बल दिया गया। वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार “भारतीय कला के दोनों पक्ष इष्ट थे, अर्थात् सुन्दर वस्तुओं का बाह्य रूप एवं उनका आन्तरिक अर्थ। कला का उद्देश्य जीवन के लिए है। वह उद्देश्यहीन साधना नहीं। दिव्यावदान के

अनुसार कला के अभिप्राय शोभा एवं जीवनरक्षा दोनों के लिए होते हैं।.....प्लेटो के सौन्दर्यतत्व की ही भांति भारतीय सौन्दर्यतत्व में अर्थ का सर्वोपरि महत्व है। बाह्य रूप का भी निजी महत्व है, किन्तु वह भावों की अभिव्यक्ति का साधन मात्र है। अर्थ कला का प्राण है। कला के रूपों के मूल में छिपे हुए सूक्ष्म अर्थ का परिचय प्राप्त करने से कला की सौन्दर्यानुभूति पूर्ण और गंभीर बनती है। अध्यात्म के बिना केवल सौन्दर्य सौभाग्यविहीन है। केवल रूप को कवि ने निन्दित कहा है, किन्तु अध्यात्म अर्थ के साथ वही पूजनीय बन जाता है। कलाकार ध्यान और मन की शक्ति से ही कला के सौन्दर्य का पूरा फल प्राप्त कर सकता है। प्रत्येक मूर्ति का आदि अन्त धार्मिक या आध्यात्मिक अभिव्यक्ति में है, अर्थात् वह देवतत्व की प्रतीक मात्र है।” आनन्द कुमारस्वामी का कथन है “मदमूल जीज पदकपंद ।तज पे चपतपजनंस तजएपज कवमे दवज उमंद पज पे दवज मदेनेंण्मतीचे पज पे उवतम मदेनवने जीद चपतपजनंस”(द डांस ऑफ शिवाचच 147)। अधिकांश भारतीय धार्मिक साहित्य में सन्यास एवं आत्मनिषेध के विभिन्न रूपों की प्रशंसा की गई है, परंतु मूर्तियों में प्रस्तुत सन्यासी सामान्यतः पर्याप्त रूप से भोजन किए हुए एवं प्रसन्न लगते हैं। उदाहरण के लिए मैसूर में श्रवणबेलगोला की चट्टान काटकर बनाई गई गोमतेश्वर की प्रतिमा को देखा जा सकता है। वे ध्यान की कायोत्सर्ग मुद्रा में पृथ्वी पर पैर जमाए , हाथों को नीचे किए जो शरीर को स्पर्श नहीं करते , पूर्ण रूप से सीधे खड़े हैं तथा मृदु मुस्कान से युक्त हैं। कहा जाता है कि सन्त ध्यान में इतने समय तक निमग्न खड़े रहे कि उनके गतिहीन चरणों के चारों ओर लताएं लिपट गईं और ये लताएं मूर्ति में दिखाई गई हैं। परंतु ये लताएं यद्यपि उनकी पवित्रता चित्रित करने के अभिप्राय से हैं, फिर भी वे इसी बात पर बल देती हैं कि वह इसी पृथ्वी का प्राणी है, जिसे पृथ्वी पीछे खींचती है।

अभ्यास प्रश्न

निम्न पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए

1. (क) प्राचीन भारतीय कला का स्वरूप

(ख) प्राचीन भारतीय कला में अंकित विषय

2. निम्न कथनों के सामने 'सही' और 'गलत' का उल्लेख कीजिए

(क) भारतीय कला का स्वरूप पूर्णतः धार्मिक है।

(ख) भारतीय कला में अध्यात्म और सौन्दर्य का समन्वय हुआ है।

3.3 ललित कलाएं

भारत में ललित कलाओं के विकास के पीछे समय-समय पर यहां की धार्मिक स्थितियों और धार्मिक भावनाओं की समसामयिक छाप स्पष्ट दिखाई देती है। मौर्य और मौर्योत्तर युग में भारत के अधिकतर भागों में बौद्ध धर्म पूरी तरह फल-फूल रहा था और उत्तरी तथा पूर्वी दक्कन में उस काल की जो प्रतिनिधि रूपावलियां प्राप्त होती हैं, वे बुद्ध, बुद्ध के जीवन की घटनाओं और बौद्ध विश्वासों के इर्द-गिर्द ही घूमती हुई दिखाई देती हैं। वास्तुकला को एक ललित कला माना गया है। चित्रकला, मूर्तिकला, साहित्य, संगीत तथा नाट्य अन्य मुख्य ललित कलाएं हैं।

3.3.1 वास्तुकला

वास्तुकला को उसकी विशेषताओं के आधार पर दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है— धार्मिक वास्तु और लौकिक वास्तु। मन्दिर धार्मिक वास्तु के मुख्य प्रतीक हैं। प्राचीन साहित्य तथा पुरातात्विक अवशेषों से कला के लौकिक पक्ष की पुष्टि होती है। “ग्रामों और पुरों के सन्निवेश तथा विभिन्न प्रकार के भवन, सड़कों, दुर्गों आदि के निर्माण लौकिक स्थापत्य के अन्तर्गत थे। रामायण, महाभारत, बौद्ध और जैन साहित्य, मानसार, समरांगणसूत्रधार आदि ग्रंथों में नगर या पुर निर्माण के विस्तृत विवरण मिलते हैं (कृष्णदत्त बाजपेयी, भारतीय वास्तुकला का इतिहास)। प्रागैतिहासिक वास्तुकला में सिन्धु घाटी सभ्यता के ईंटों से निर्मित भवनों के ध्वंसावशेष, सड़कें, लोथल का बन्दरगाह, मोहेंजोदारो का बृहत् स्नानागार एवं परकोटे, गोपुरद्वार और अट्टालिकाओं से युक्त दुर्ग, हड़प्पा का अन्नागार आदि प्रमुख हैं। हड़प्पा सभ्यता के बाद एक अन्तराल मिलता है। राधाकुमुद मुखर्जी के अनुसार “325 ई. पू. के उत्तरकाल के अवशेष संख्या में कम और अन्य ऐतिहासिक सामग्री की अपेक्षा महत्व में भी न्यून हैं। वास्तु के अवशेषों की कम संख्या का कारण यह है कि उनकी निर्माण सामग्री विनाशशील थी, क्योंकि उनमें से अधिकांश मिट्टी, लकड़ी, चूना, बांस या लट्टों से बनाए जाते थे। वैदिक यज्ञों के लिए आवश्यक यज्ञवेदी और यज्ञशालाओं के निर्माण के साथ स्थापत्य का मूलारंभ हुआ।” वैदिक साहित्य में वास्तुकला संबन्धी अनेक शब्द मिलते हैं, जैसे स्कम्भ (स्तंभ), गृह, महाशाला(उपनिषद्), सहस्रस्थूप घर(ऋग्वेद) आदि। प्राचीन पाटलिपुत्र या कुमराहार में चन्द्रगुप्त सभा के जो अवशेष मिले हैं, उनमें अस्सी खम्भों वाला मण्डप लगभग वैदिक साहित्य के शतभुजी सदन के अनुरूप है। इनमें अन्तर यह है कि ये खम्भे मौर्यकालीन चमकीले पत्थर के हैं। मण्डप के दक्षिण की ओर सात काष्ठ मंच भी प्राप्त हुए हैं। मौर्य युगीन काष्ठ निर्मित राजप्रसाद एवं ठोस पाषाण निर्मित स्तंभ कला के उत्तम नमूने हैं, पर अवशेष रूप में हैं।

अशोककालीन कला का उत्कृष्ट नमूना हम स्तंभों के रूप में देखते हैं। फाहियान ने छः तथा ह्वेनत्सांग ने पन्द्रह स्तंभों का उल्लेख किया है। इन स्तंभों के पाँच भाग हैं— 1. ऊपर की फुनगी पर धर्मचक्र 2. चार सहपृष्ठ सिंह 3. चार चक्र और चार पशुओं से अंकित गोल अंड 4. पद्मपत्र युक्त पूर्णघट और 5. ऊर्ध्व यष्टि। इनकी रचना में एक ऊँची मध्य यष्टि या डंडी और ऊपर शीर्षक लगाया गया है। लाट की ऊँचाई 40 से 50 फुट के लगभग है। लाट के ऊपर पशु की आकृति का शीर्षक है। वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार “ रामपुरवा के सिंहशीर्षक स्तंभ और सांची के स्तंभ तक पहुंचते-पहुंचते शिल्पियों के हाथ मंज गए थे। उसके बाद सारनाथ के सिंह स्तंभ में शिल्पियों ने अपनी कला की पराकाष्ठा प्राप्त कर ली।” इस संबन्ध में मार्शल ने लिखा है “ईसवी शती पूर्व के संसार में सारनाथ के सिंह स्तंभ जैसी श्रेष्ठ कलाकृति कहीं नहीं मिलती। शिल्पी ने समझ बूझकर सिंहों के निर्माण में ऐसी गुणवत्ता भर दी है कि वे पूरे स्तंभ का अविभाज्य अंग जान पड़ते हैं।”

स्तूप, गुफा मन्दिर और चैत्य तथा विभिन्न कालों में निर्मित मन्दिरों की कला के अध्ययन से आप प्राचीन भारतीय वास्तुकला की विशेषताओं को समझ सकते हैं।

3.3.1.1 स्तूप

स्तूप का प्रारंभ शव को गाड़ने वाले मृत्तिका निर्मित के टीले के रूप में हुआ, जिसका स्थानीय जनता द्वारा आदर होता था। प्राचीन भारतीय वास्तुकला के क्षेत्र में बुद्ध के सम्मान में स्तूप निर्माण हुआ। स्तूप दो प्रकार के हैं— एक तो स्मारक के रूप में ईंट और पत्थरों के बने ठोस ढांचे, जो बुद्ध या महावीर

के जीवन की किसी घटना के किसी स्मारक में खड़े किए गए थे और दूसरे अस्थि संचायक अन्दर से खोखले आकार के स्तूप, जहां अवशेष रखे जाते थे। प्रारंभिक स्तूप विशाल गोलाकार गुम्बदों के रूप में थे, जिनमें एक केन्द्रीय कक्ष में बुद्ध के स्मारक चिन्ह प्रायः सुन्दरता से स्फटिक जड़ित एक छोटी मंजूषा में रखे रहते थे। स्तूप का हीर कच्ची ईंट का था और बाहरी भाग पक्की ईंटों का, जिस पर पलस्तर की गहरी तह होती थी। स्तूप के ऊपर काष्ठ अथवा पाषाण का छत्र रहता था और वह लकड़ी की चाहरदीवारी से घिरा रहता था, जिसमें विधिपूर्वक प्रदक्षिणा के लिए स्थान रहता था। अब तक मिले हुए स्तूपों में नेपाल की सीमा में लगा हुआ ईंटों से निर्मित पिपरहवा का स्तूप सबसे प्राचीन है। इसके भीतर की मंजूषा पर यह लेख उत्कीर्ण था "भगवान बुद्ध की शरीर धातुओं का यह पवित्र स्मारक शाक्यों ने, उनके भ्राताओं ने अपनी भगिनी और पुत्र दाराओं के साथ मिलकर बनवाया।" शुंगकालीन स्तूपों में भरहुत और सांची उल्लेखनीय हैं। भरहुत स्तूप अपनी मूर्तिकला के लिए प्रसिद्ध है। 1873 में जब कनिंघम ने उसे देखा तो लगभग पूरा स्तूप नष्ट हो चुका था। इसकी तोरण वेदिका पर लगभग 20 जातक दृश्य, 6 ऐतिहासिक दृश्य, 30 से ऊपर यक्ष-यक्षी, देवता, नागराजाओं आदि की कढ़ी हुई बड़ी मूर्तियां और अनेक प्रकार के वृक्ष और पशुओं की मूर्तियां हैं। इनमें से बहुतों पर उनके नाम खुदे हैं। इनके अतिरिक्त नौका, अश्वरथ, गोरथ और कई प्रकार के वाद्य, कई प्रकार की ध्वजाएं तथा अन्य राजचिन्ह अंकित हैं। सांची का स्तूप वास्तुविद्या के एक उत्कृष्ट अवशेषों में से है। इसके द्वार प्रवेशों की एक प्रमुख विशेषता इसके चार तोरण द्वार हैं। स्तूप में बुद्ध के जीवन की चार घटनाएं, यक्ष मूर्तियां, पशु पक्षियों की मूर्तियां और फूल पत्तियों के अंकन हैं। बुद्ध के जीवन दृश्यों में उनका जन्म, संबोधि, धर्मचक्रप्रवर्तन और महापरिनिर्वाण हैं। विशुद्धानन्द पाठक ने लिखा है कि "सांची के स्तूप के निर्माण हेतु दक्षिणापथ से प्रशिक्षित कारीगर बुलाए गए थे, इसके आभिलेखिक प्रमाण भी प्राप्त हैं।" स्तूप की हर्मिका के ऊपर निर्मित छत्र के संबन्ध में मार्शल ने लिखा है कि "किसी भी देश के शिल्प कर्म में इससे बढ़कर उत्तम काम नहीं पाया गया।" धीरे-धीरे स्तूपों की वास्तुकला अधिक अलंकृत होती चली गई। आन्ध्र सातवाहन युग के स्तूपों में अमरावती और नागार्जुनीकोण्ड के स्तूप प्रमुख हैं। आन्ध्र स्तूपों की तीन विशेषताएं थीं— संगमरमर जैसा मक्खन के रंग का श्वेत पाषाण, अनेक प्रकार से उत्कीर्ण शिलापट्टों पर रूप और अलंकरण तथा धातुगर्भ से निकलते हुई मंजूषा सदृश चार आयक (आयागपट्ट के समान) मंच, जिनसे कालान्तर में ब्राह्मण देव मन्दिरों की रथिकाओं का विकास हुआ। आन्ध्र कला में शरीर की बहुसंख्यक विभिन्न मुद्राओं का विन्यास उसकी विशेषता है। अमरावती का स्तूप सांची के स्तूप से बड़ा और नक्काशीदार था। इस स्तूप से बची हुई मूर्तियों की संख्या आन्ध्र स्तूपों में सबसे अधिक है। कला की दृष्टि से ये अत्यंत सुन्दर और विभिन्न अभिप्रायों से युक्त हैं, जिनमें लगभग पाँच सौ वर्षों के विकास की साक्षी उपलब्ध है। सारनाथ और नालन्दा उत्तरकालीन भारतीय स्तूपों में अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

3.3.1.2 गुफा मन्दिर और चैत्य

वास्तुकला का दूसरा नमूना थे गुफा मन्दिर और चैत्य। सौराष्ट्र से लेकर कलिंग तक और अजन्ता से बराबर पहाड़ी तक की गुफाओं के रूप में इसका प्रसार देखा जाता है। इस विशाल क्षेत्र में चट्टान काटकर गुफाओं के बनाने की एक जैसी प्रक्रिया सर्वत्र प्राप्त हुई है। केवल शैली के स्थानीय भेद अवश्य हैं, जो उनके मुखपट्ट, अलंकरण, स्तम्भ, मूर्तियों, भीतरी मण्डप की आकृति और परिमाण, छत एवं गर्भगृहों के क्रम में दिखाई देते हैं। लगभग तीसरी शती ई. पू. में अशोककालीन हीनयान युग से लेकर महायान युग की सातवीं शताब्दी तक पर्वत में गुफाओं का तक्षण होता रहा और इस दीर्घकाल में लगभग 1200 गुफाएं निर्मित की गईं। स्तूपों, उनके चारों ओर के प्रवेश द्वारों एवं चाहरदीवारी के अतिरिक्त गुप्त वंश से शताब्दियों पूर्व के वास्तु विद्या के मुख्य अवशेष कृत्रिम गुफाएं हैं, जो धार्मिक कार्यों के लिए खोदी गई थीं।

इनमें अशोक द्वारा आजीविक भिक्षुओं को समर्पित गया के समीप बराबर की पहाड़ी की गुफाएं तथा नागार्जुनी पहाड़ियों की गुफाएं प्रमुख हैं। गुफाओं की भित्तियों पर भलीभांति पॉलिश की गई है। बराबर की सुदामा गुफा का अशोक के राज्यकाल के बारहवें वर्ष में तथा कर्णचौपड़ गुफा 19वें राज्य वर्ष में निर्माण किया गया था। तीसरी लोमस ऋषि गुफा तथा चौथी विश्वज्ञोपड़ी गुफा कहलाती है। नागार्जुनी समूह में गोपी गुफा और एक अन्य गुफा का निर्माण अशोक के पौत्र दशरथ ने करवाया। इनमें अशोककालीन गुहाशिल्प परम्परा की पूर्णतः रक्षा की गई है। उत्तरकालीन गुफा मन्दिरों में सातवाहन राज्य और उसके उत्तराधिकारियों के समय में सबसे अधिक और प्रसिद्ध कृत्रिम गुफाएं खोदी गई हैं। इनमें पूना के निकट भाजा की प्राचीनतम दक्षिण की गुफा में ठोस चट्टान से कटा हुआ एक गहरा अर्धवृत्ताकार विशाल कक्ष है, जिसमें भित्तियों के समीप सादे अष्टभुजी स्तंभों की पंक्ति है, जो एक काष्ठ भवन की ढोलाकार छत को प्रदर्शित करने के लिए खुदी हुई वक्राकार पटरियों को संभाले हुए है। विशाल कक्ष के सिरे पर ठोस चट्टान से कटा एक छोटा स्तूप है। शुंग काल में निर्मित उड़ीसा के उदयगिरि की पहाड़ी में 19 (रानी गुम्फा, हाथी गुम्फा आदि) और खंडगिरि में 16 (नवमुनि गुम्फा, देवसभा आदि) गुफाएं हैं। ये गुम्फाएं जैन भिक्षुओं के लिए बनाई गई थीं। इनके संरक्षक कलिंग के सम्राट खारवेल थे। इन गुम्फाओं में सुन्दर आकृति की और वास्तु सम्बन्धी कई विशेषताओं से युक्त स्तंभों पर आश्रित सामने की ओर निकली हुई ऊँची खुली छतें हैं। महाराष्ट्र में चट्टान में काट कर निर्मित कार्ले का चैत्य, अजन्ता की प्रसिद्ध 27 गुफाएं, एलोरा के उत्तरकालीन गुफा मन्दिर, जिसमें पांचवीं से आठवीं शताब्दी तक निर्मित कम से कम 64 गुफाएं (अधिकांश हिन्दुओं की तथा कुछ बौद्धों की और कुछ जैनियों की हैं) आदि प्रमुख गुफाएं हैं। सभी गुफाओं का निर्माण चट्टानों को काटकर किया गया है। अजन्ता में उत्कीर्ण चैत्यगृह और विहार वास्तु सम्बन्धी कला के उत्कृष्ट रूप हैं। इनमें चित्र, शिल्प और वास्तु विद्या सम्बन्धी दीर्घकालीन प्रयत्न व्यक्त हुआ है, जिसकी अवधि दूसरी शती ई. पू. से लगभग एक सहस्र वर्षों की है। अजन्ता में कुल 29 गुफाएं हैं, जिनमें चार चैत्यगृह और शेष 25 विहार गुफाएं हैं। इसके अलावा महाराष्ट्र में नासिक, बेडसा, जुन्नार व कार्ले के चैत्य तथा कन्हेरी की गुफाएं विशेष उल्लेखनीय हैं। कार्ले के चैत्यगृह के भीतर और बाहर कई लेख उत्कीर्ण हैं। दो लम्बे प्रदक्षिणापथ तथा दो ऊँचे चतुर्मुख दर्शन वाले स्तंभ या लाट, जिनके सिरे पर सिंह शीर्षक हैं, प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त पल्लवकालीन मामल्लपुरम के मन्दिर तथा मुंबई के समीप एलीफेंटा के गुफा मन्दिर प्रमुख हैं। इन गुफा मन्दिरों में प्रायः सभी निर्मितियां चट्टानों को काटकर उत्कीर्ण की गई हैं, यद्यपि प्रारंभिक नमूनों में काष्ठकला का प्रयोग हुआ है। इनमें उत्कृष्ट मूर्तिकला, सुन्दर चित्रकारी एवं अलंकरण हैं।

3.3.1.3 मन्दिर

“मन्दिर भारतीय स्थापत्य कला के सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्मारक हैं। मन्दिरों के वास्तुशिल्प में परिवर्धन, मूर्ति पूजा तथा संबन्धित पूजार्चन कर्मकाण्ड के संस्थापन के बाद ही संभव हुआ” (के.आर. श्रीनिवासन, दक्षिण भारत के मन्दिर)। प्राचीनतम स्वतंत्र रूप से स्थित धार्मिक भवन, जिसके चिन्ह मिलते हैं, तीसरी शताब्दी ई.पू. में ईटों व काष्ठ से निर्मित जयपुर के निकट बैराट में एक छोटा वृत्ताकार कक्ष है। गुप्तकाल से पूर्व स्वतंत्ररूप से निर्मित हिन्दू मन्दिरों के कोई अवशेष नहीं हैं, यद्यपि इस काल तक उनका काष्ठ, मिट्टी तथा ईटों से अवश्य ही निर्माण हुआ होगा। गुप्तकाल से मन्दिरों के अनेक उदाहरण विद्यमान हैं, विशेष रूप से पश्चिमी भारत में, जिनमें सबमें एक सी सामान्य शैली है। सामान्यतः स्तंभ अलंकृत होते थे जिनके शीर्ष भारी घण्टी के आकार के होते थे, जिनके ऊपर पशुओं की आकृतियां बनी रहती थीं और प्रवेशद्वारों पर पौराणिक दृश्य एवं आकृतियां खुदी रहती थीं। समस्त गुप्तकालीन मन्दिर छोटे थे और उनमें से अधिकतर की छतें समतल थीं। उनके ईंट और पत्थर के भवन बिना गारे के रुके हुए थे और उनमें प्रयुक्त

ईंट पत्थर अपेक्षाकृत छोटे भवनों के लिए आवश्यक सामग्री से कहीं अधिक और मोटे थे। संभवतः छठी शताब्दी में निर्मित झांसी के निकट देवगढ़ का मन्दिर गुप्तकाल का सर्वश्रेष्ठ मन्दिर है। बाशम के अनुसार “ छठी शताब्दी से आज तक प्रचलित हिन्दू मन्दिर का आदर्श रूप प्राचीन यूनानी मन्दिरों के रूप से सिद्धांततः भिन्न न था।” मन्दिर का मध्य भाग एक छोटा अंधकारपूर्ण पूजागृह या गर्भगृह होता था, जिसमें मुख्य मूर्ति स्थित रहती थी। यह एक विशाल कक्ष अथवा मण्डप में खुलता था। विशाल कक्ष तक पहुंचने के लिए एक अर्धमण्डप से होकर जाना होता था। गर्भगृह के ऊपर एक मीनार होती थी तथा भवन के अन्य भागों से छोटी छोटी मीनारें उठी रहती थीं। पूरा मन्दिर एक आयताकार आंगन में स्थित रहता था, जिसमें छोटे मन्दिर भी होते थे और प्रायः वह एक उठे हुए चबूतरे पर बना रहता था। कश्मीर में यूनानी वास्तु से प्रभावित स्तंभ तथा विशिष्ट पिरामिड आकार की नुकीली वलभी छतों और मेहराबों का मध्ययुग में निरंतर उपयोग होता था। बाशम के अनुसार ‘कश्मीर शैली लगभग गोथिक शैली सी प्रतीत होती है। कश्मीर के प्रारंभिक मन्दिरों में आठवीं शताब्दी का मार्तण्ड स्थित सूर्य मन्दिर सर्वाधिक प्रसिद्ध है।

भूमि के आकार की दृष्टि से भारतीय मन्दिर की वास्तुकला विशेष रूप से एक समान है। मन्दिर स्थापत्य के क्षेत्र में उत्तर भारत में नागर शैली तथा दक्षिण भारत द्रविड़ शैली का विकास हुआ और इन दोनों के मेल से बेसर शैली विकसित हुई। नागर शैली के मन्दिरों की पहचान आधार से लेकर सर्वोच्च अंश तक इसका चतुष्कोण होना है। विकसित नागर मन्दिर में गर्भगृह, उसके समक्ष क्रमशः अन्तराल, मण्डप तथा अर्द्धमण्डप प्राप्त होते हैं। द्रविड़ शैली में मन्दिर का आधार भाग वर्गाकार होता है तथा गर्भगृह के ऊपर का भाग पिरामिडनुमा सीधा होता है, जिसमें अनेक मंजिलें होती हैं। इस शैली के मन्दिरों की प्रमुख विशेषता यह है कि ये काफी ऊँचे तथा विशाल प्रांगण से घिरे होते हैं। बेसर शैली विन्यास में द्रविड़ शैली तथा रूप में नागर जैसी होती है। इस शैली के मन्दिर विन्ध्य पर्वतमाला से कृष्णा नदी के बीच निर्मित हैं। छठी से आठवीं शताब्दी के बीच मन्दिर निर्माण को पल्लव तथा चालुक्य वंश के राजाओं का पर्याप्त संरक्षण प्राप्त हुआ। दोनों शैलियों से काष्ठकला तथा गुफा वास्तुकला से क्रमशः मुक्ति स्पष्ट दिखाई देती है। पल्लव शैली आठवीं शताब्दी के प्रारंभ में निर्मित मामल्लपुरम के शोर मन्दिर तथा कांची के कैलाशनाथ मन्दिर में सर्वोच्च शिखर पर पहुंच गई। 10 वीं से 12वीं शताब्दी के बीच चोल राजाओं के समय पल्लवों की शैली का और अधिक विकास हुआ। 10 वीं से 13 वीं शताब्दी तक उड़ीसा शैली प्रस्फुटित हुई, जिसमें पुरी का जगन्नाथ मन्दिर तथा कोणार्क का सूर्य मन्दिर प्रमुख हैं। इसी प्रकार 10वीं 12वीं शताब्दियों में बुन्देलखण्ड के चन्देल राजाओं के समय में निर्मित खजुराहो मन्दिर समूह है, जिसमें कण्डरिया महादेव मन्दिर सर्वाधिक प्रसिद्ध है। कोणार्क व खजुराहो में मन्दिर वास्तु की अन्य विशेषताओं के साथ-साथ अत्यधिक स्पष्ट श्रृंगारिक चित्रण भी हुआ है।

3.3.1.4 मूर्तिकला

जिस वस्तु का हमें ज्ञान होता है अथवा जिसकी रचना की जाती है, उस सबको मूर्ति कहते हैं। मूर्त विश्व ही कला का क्षेत्र है। ऐतिहासिक काल की प्रारंभिक मूर्तिकला में हड़प्पा की मूर्तिकला से व्यापक समानता मिलती है। सिन्धु घाटी में पाषाण शिल्प की 11 मूर्तियां प्राप्त हुई हैं। इनमें त्रिफुलिया अलंकरण से युक्त उत्तरीय ओढ़े हुए पुजारी की प्रतिमा से सभी परिचित हैं। ताम्र मूर्तियों में नर्तकी की प्रसिद्ध मूर्ति है। सिन्धु घाटी की मानव मूर्तियों की अपनी अलग विशेषता है। सुमेर से प्राप्त मूर्तियों में नेत्रों की आकृति गोल है तो हड़प्पा में लम्बी और अधमुंदी पलकों वाली हैं। मिट्टी की मूर्तियों में मनुष्यों और पशुओं की अनेक मूर्तियां हैं। सिन्धु घाटी के नगरों के बाद अशोक स्तंभों के शीर्ष मूर्तिकला के प्रारंभिक उदाहरण हैं।

सारनाथ के स्तंभ के प्रसिद्ध सिंह तथा रामपुरवा के स्तंभ का कम प्रसिद्ध परंतु अधिक सुंदर वृषभ, यथार्थवादी मूर्तिकारों की कृतियां हैं, जो कुछ न कुछ ईरानी और यूनानी परंपरा के ऋणी हैं। बाशम के अनुसार “स्तंभों पर बनी हुई पशु आकृतियां सिन्धु घाटी की मुद्राएं खोदने वालों की शैली से प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित थी, जिनमें एक यथार्थवादी दृष्टिकोण भी मिलता है।” सजीव स्थिति में पशु, बुद्ध तथा मौर्य विश्व सम्राट का प्रतिनिधित्व करने वाले चक्र, फूल पत्तियों से बनी चित्राकृतियां, जिनमें आदर्शभूत भारतीय विचार पश्चिम से लिए गए विचारों के साथ प्रकट किए गए हैं। स्तंभों के अतिरिक्त मौर्य शैली के कुछ अन्य स्मारक हैं, जिनमें उत्कृष्ट पॉलिश और फिनिशिंग है। हाथ में चंवर से युक्त दीदारगंज की यक्षी में मौर्य शैली की विशिष्ट चमकदार पॉलिश है। लोककला की परंपरा का प्रमाण उन महाकाय यक्ष मूर्तियों द्वारा प्राप्त होता है, जो मथुरा से उड़ीसा, वाराणसी से विदिशा और पाटलिपुत्र से शूर्पारक तक के विस्तृत क्षेत्र में पाई जाती हैं। मथुरा से प्राप्त परखम यक्ष की मूर्ति तथा पटना के दीदारगंज से मिली आदमकद यक्षी प्रतिमा विशेष उल्लेखनीय हैं। सबसे महत्वपूर्ण परखम यक्ष जैसी महाप्राण और बलशाली मूर्तियां थीं। कुमारस्वामी का मत है कि “मथुरा की महाकाय बोधिसत्व मूर्तियों का विकास परखम यक्ष जैसी महाप्राण यक्ष मूर्तियों से हुआ। कला की दृष्टि से भी परखम यक्ष और सारनाथ बोधिसत्व की शैली में बहुत सादृश्य है।” यक्ष मूर्तियों के कलात्मक सौन्दर्य के विषय में कुमारस्वामी लिखते हैं कि “ये आश्चर्यजनक शारीरिक बल की प्रतीक हैं, जिनका प्रभाव इनकी शिल्पगत अपरिष्कृतता से कुंठित नहीं होता। इनकी कला पुरुष प्राकृतिक है, जिसमें पशुओं जैसी दृढ़ता है, कहीं भी आध्यात्मिकता या अन्तर्मुखी वृत्ति नहीं है और न इनमें विचार प्रवणता या आन्तरिक भावों की कोई झलक है। शैली की दृष्टि ये मूर्तियां महाप्राण या महाकाय हैं।” राधाकुमुद मुखर्जी के अनुसार “यही आदर्श बाद में कुषाणकालीन महाविशाल प्रतिमाओं में आविर्भूत हुआ, जैसे लखनऊ संग्रहालय की मथुरा से प्राप्त बोधिसत्व प्रतिमाएं अथवा बोधिसत्व शाक्यमुनि की सारनाथ मूर्ति में, जिसे लेख के अनुसार मथुरा के भिक्षु बल ने प्रतिष्ठापित किया था।” उत्तरी भारत में मथुरा कला का बड़ा केन्द्र था। सांची, सारनाथ, कौशाम्बी, श्रावस्ती, पंजाब, राजस्थान का बैराट प्रदेश, बंगाल, अहिच्छत्र, कोसम आदि स्थानों में मथुरा के लाल चकत्तेदार पत्थर की मूर्तियां पाई गई हैं। मथुरा बौद्ध, जैन और ब्राह्मण तीनों धर्मों का केन्द्र था, अतः तीनों कलाओं के अवशेष वहां मिले हैं। उत्तर मौर्यकाल में भरहुत, गया और सांची के बौद्ध स्थलों की पाषाण वेष्टिनियां और प्रवेश द्वारों पर खुदी यक्षों-यक्षिणियों की मूर्तियां हैं। सांची स्तूप में हाथी दांत पर कार्य कुशलता, बुद्ध एवं जातक कथाओं के चित्र, हाथी व घोड़ों पर सवार निकलते जुलूस, मन्दिर में पूजा करते स्त्री पुरुष, जंगलों में घूमते हाथी, शेर, मोर, यक्षी, नाग, पौराणिक कथाओं में वर्णित पशु और अलंकारों से युक्त पुष्पों की चित्रकारी है, आदि प्रमुख हैं। भरहुत, गया और सांची में और वस्तुतः इस समय की समस्त बौद्ध मूर्तिकला में स्वयं बुद्ध का प्रदर्शन कभी नहीं किया गया है। एक चक्र, रिक्त राजसिंहासन, चरण चिन्हों अथवा एक पीपल वृक्ष जैसे संकेतों द्वारा उन्हें प्रकट किया गया है।

कुषाण राजाओं के समय में विकसित गांधार और मथुरा शैली के अन्तर्गत बुद्ध और बोधिसत्वों की सुंदर मूर्तियों का निर्माण हुआ। जैन तीर्थकरों की भी अनेक मूर्तियां बनीं। ये दो प्रकार की हैं— एक खड़ी हुई और दूसरी बैठी मुद्रा में। मथुरा शैली की उत्तरकालीन मूर्तियों में सौन्दर्य और धार्मिक भावना का विकास दिखाई देता है। मथुरा शैली ने प्रारंभिक शताब्दियों की दृष्ट-पुष्ट यक्ष मूर्तियों तथा ध्यानावस्थित जैन तीर्थकरों की मूर्तियों से प्रेरणा प्राप्त की। मथुरा की जैन कला की एक प्रमुख विशेषता थी आयागपट्ट (पूजा शिलाएं)। स्तूप के चतुर्दिक इस प्रकार की पूजा शिलाएं स्थापित की जाती थीं। कला की दृष्टि से ये अत्यंत सुन्दर हैं। मथुरा कला के वेदिका स्तंभों की शालभंजिकाएं उद्यान क्रीड़ा और सलिल क्रीड़ा की विविध

मुद्राओं में दिखाई गई हैं। जैन वेदिका स्तंभों पर बनी हुई शालभंजिका मूर्तियां वैसी ही मुद्राओं में हैं, जैसी बौद्ध स्तूपों में।

गांधार और मथुरा से प्राप्त बुद्ध की बहुसंख्यक मूर्तियों में एकभी कनिष्क से पूर्वकाल की नहीं है। कुषाण काल के आरंभ में ब्राह्मण धर्म के देवताओं की अनेक मूर्तियां मथुरा शिल्प में बनाई जाने लगीं। धीरे-धीरे इनकी संख्या बढ़ी और गुप्त काल में अपने पूरे विकास पर पहुंच गई। गांधार शैली रोमन कला से प्रभावित है। स्वात, काबुल और सिंधु इन तीन नदियों की द्रोणियों में घिरा हुआ प्रदेश गांधार था। इसके सात केन्द्र थे— तक्षशिला, पुष्कलावती, नगरहार, स्वात घाटी, कपिशा, बामियां, वाह्लीक या बैक्ट्रिया। गांधार कला की मूर्तियों की विशेषताएं हैं— बुद्ध के जीवन की घटनाएं, बुद्ध और बोधिसत्वों की मूर्तियां, जातक कथाएं, यूनानी देवी देवताओं और गाथाओं के दृश्य, भारतीय देवता और देवियां, वास्तु सम्बन्धी विदेशी विन्यास, भारतीय अलंकरण एवं यूनानी, ईरानी और भारतीय अभिप्राय एवं अलंकरण। गांधार कला में बुद्ध की जीवन घटनाओं के शिलापट्ट अत्यधिक हैं। बुद्ध की जीवन लीला और जातक कथाओं का अंकन मध्यदेश की कला से ग्रहण करने के साथ-साथ गांधार के शिल्पियों ने ईरानी और यूनानी कला के अनेक प्रभाव और अलंकरण स्वीकार किए। स्वभावतः इसमें भारत, ईरान एवं यूनान, रोम की कलाओं के प्रभावों का सम्मिलन हुआ। इस कला में मथुरा कला से कुछ अभिप्राय लेते हुए शालभंजिका मुद्रा में खड़ी वृक्षका स्त्रियों का भी अंकन किया गया। गचकारी के मस्तक और बुद्ध तथा बोधिसत्व की मूर्तियां बहुत प्रशंसित हुईं। उनमें से कुछ उत्तनी ही श्रेष्ठ हैं, जितनी बुद्ध कला की सर्वोत्तम मूर्तियां। गांधार शैली के इस स्वरूप का उत्थान चौथी-पांचवीं शताब्दी में हुआ। अग्रवाल के अनुसार” यह स्वीकार करना आवश्यक है कि गान्धारकला में बुद्ध और बोधिसत्व के मुख अध्यात्म भावना से शून्य हैं और उनमें योगीश्वर बुद्ध की उस छवि का अभाव है, जो मथुरा की अन्तर्मुखी बुद्ध मूर्तियों में पाई जाती हैं। (कला पर विविध प्रभावों का अध्ययन आप इसी इकाई में खण्ड 3.4 के अंतर्गत करेंगे।) इनके अलावा भाजा की गुफा में और उड़ीसा में उदयगिरि में प्राप्त अत्यंत प्राचीन मूर्तियां हैं। सातवाहन काल (दूसरी से तीसरी शताब्दी) में अमरावती के स्तूप में उत्कीर्ण बुद्ध के जीवन के दृश्य हैं और उनके चारों ओर मुक्त रूप से खड़ी हुई बुद्ध की आकृतियां हैं। चौथी से छठी तथा सातवीं शताब्दियों का उत्तरार्द्ध गुप्तकाल में सम्मिलित किया जाता है। बाशम के अनुसार “यदि भरहुत, सांची और मथुरा की शैलियों से ऐन्द्रिय पार्थिवता प्रकट होती है तथा अमरावती की शैली से शक्ति एवं तीव्र गति, तो गुप्तकालीन मूर्तिकला निर्मलता, सुरक्षा एवं निश्चितता की भावना प्रकट करती है। इसी समय भारत ने अपनी कुछ वास्तविक धार्मिक कलाकृतियों की रचना की, विशेष रूप से सारनाथ की सुन्दर बुद्ध मूर्तियों की।” इनके अलावा गुप्त कालीन ग्वालियर, झांसी की उत्कृष्ट शैली, हिन्दू देवता तथा पौराणिक दृश्यों से युक्त देवगढ़ के मन्दिर की नक्काशीदार मूर्तियां, उदयगिरि की एक गुफा के प्रवेशद्वार पर नक्काशीदार रूप में उत्कीर्ण बाराह की मूर्ति, आठवीं से बारहवीं शताब्दी तक बिहार और बंगाल के पाल व सेन राजाओं के शासन में स्थानीय काले पत्थर से निर्मित सुन्दर मूर्तियां, उड़ीसा में भुवनेश्वर तथा कोणार्क की सुन्दर मूर्तियां, खजुराहो के मन्दिरों की युगल मूर्तियां प्रमुख हैं। दक्षिण में ऐहोल और बादामी के मन्दिरों में पांचवीं शताब्दी और उसके आगे की उत्कृष्ट कलाकृतियां हैं। कांची के पल्लव राजाओं द्वारा निर्मित मामल्लपुरम की मूर्तियां, जिनमें सबसे अद्भुत गंगावतरण की विशाल उभरी हुई आकृति है तथा अन्य सुन्दर उभरी हुई मूर्तियां हैं। मामल्लपुरम, एलोरा और एलीफँटा के बाद पाषाण की अनेक मूर्तियां निर्मित हुईं, परंतु प्रायः अधिक श्रेष्ठ होते हुए भी उनमें प्रारंभिक शैलियों की गंभीरता एवं सौन्दर्य का अभाव है।

भारतीय कला में मिट्टी की मूर्तियों का भी महत्वपूर्ण स्थान है। इसकी सामग्री बहुत है और प्राचीन भी है तथा मूर्तियों में ढाले गए विषय भी विविध प्रकार के हैं। सिन्धु सभ्यता से लेकर विभिन्न कालों में इन मूर्तियों और खिलौनों का प्रचलन रहा है। उत्तरी भारत के कई ऐतिहासिक स्थानों की खुदाई में मनुष्य और पशुओं की आकृति के बहुत से खिलौने और बड़ी मूर्तियां भी मिली हैं। महाभारत और उत्तरकालीन साहित्य में मृण्मय मूर्तियों के उल्लेख पाए जाते हैं। मार्कण्डेय पुराण में दुर्गा की मिट्टी की मूर्ति का उल्लेख है। गुप्त काल में कला की दृष्टि से सुन्दर खिलौने बनते थे। पत्थर की प्रतिमाओं के समान ही बड़े आकार की मिट्टी की मूर्तियां भी बनाई जाने लगीं। मिट्टी के सबसे प्राचीन खिलौने लगभग 2500 ई.पू. हड़प्पा सभ्यता में पाए गए हैं, जिनके निर्माण में साँचों का प्रयोग नहीं हुआ है। इनमें स्त्री मूर्तियाँ और पशु-पक्षी के रूप हैं। स्त्री मूर्तियाँ मातृदेवी की हैं। मातृ मूर्तियों की यह परंपरा सिन्धु युग के बाद भी चलती रही। मथुरा, अहिच्छत्र, कौशाम्बी, तक्षशिला आदि स्थानों से मौर्य-शुंग युग की पुरानी मातृ मूर्तियाँ मिली हैं, वे उसी परंपरा में हैं। ऐतिहासिक युग के खिलौने सिन्धु काल से लगभग दो सहस्र वर्ष बाद के हैं, फिर भी शैली और विषय की दृष्टि से अपने पूर्ववर्ती खिलौनों से सम्बन्धित हैं। मौर्य युग के वास्तविक खिलौनों की प्रामाणिक सामग्री सीमित है। इनमें सबसे विशिष्ट वे मूर्तियाँ हैं जो पाटलिपुत्र से मिली थीं और विशेष प्रकार की प्रभावशाली नर्तकी या नाट्य स्त्रियों की मुद्रा में हैं। शुंग काल से साँचे मिलते हैं और तीसरी-दूसरी शताब्दी ई. पू. के लगभग साँचे काम में आने लगे थे। बसाढ़ (वैशाली), कोसम(कौशाम्बी) शुंग कालीन खिलौनों के प्रमुख केन्द्र थे। शक-सातवाहन युग (प्रथम-द्वितीय शताब्दी) में दक्षिणापथ में मिट्टी की मूर्तियों में विशेष सौन्दर्य दिखाई देता है। गुप्त युग के आरंभ से उत्तर भारत के अनेक केन्द्रों में कलात्मक मूर्तियां बनने लगीं। इनमें ब्राह्मण धर्म संबन्धी देवी-देवताओं की मूर्तियां, सुन्दर स्त्री-पुरुषों की मूर्तियों से अंकित टिकरे या मस्तक जो साँचों से बने हैं तथा पौराणिक आख्यानों और अलंकरण के विषय से संबन्धित फलक प्रमुख हैं।

3.3.2 चित्रकला

रायकृष्ण दास के अनुसार "चित्रण की प्रवृत्ति मनुष्य में वन्य अवस्था से ही थी। अपना सांस्कृतिक विकास करने के लिए उसने संस्कृति के जिन अंगों से श्रीगणेश किया, उनमें चित्रकला भी एक थी। संसार भर में आदिम मनुष्य के अंकित चित्र मिलते हैं। ये विषय, शैली तथा सामग्री की दृष्टि से उस समय के मानव जीवन के प्रतीक हैं। इनके विषय मुख्यतः जानवर, उनका आखेट करते हुए मनुष्य, आपस में युद्ध करते हुए मनुष्य एवं पूजनीय आकृतियां हैं।" ये रेखाचित्र प्रायः तत्कालीन मानव का निवास स्थल बनी प्राकृतिक कन्दराओं-जिन्हें लोकभाषा में आज भी दरी कहा जाता है, की दीवारों पर लाल गेरू या धाऊ पत्थर (हेमेटाइट) से बनाए गए हैं और लोकभाषा में उन्हीं के लिए रक्त की पुतरियां शब्द प्रचलित है। इन स्थलों में भोपाल के समीप भीमबेटका, महादेव पहाड़ी के पचमढ़ी नामक स्थान के इर्द-गिर्द, रायगढ़ के समीप सिंघनपुर और काबरा पहाड़ के चित्र, मिर्जापुर क्षेत्र में लिखुनिया दरी, कोहबर दरी, मेहरिया दरी आदि मुख्य हैं। प्रागैतिहासिक काल में ही आगे चलकर हड़प्पा सभ्यता अर्थात् सिन्धु घाटी की सभ्यता के अन्तर्गत हमें विविध चित्रांकनों का निदर्शन होता है। दिनकर लिखते हैं कि "सिन्धु सभ्यता में रंगे भाण्डों और ठीकरों पर जो चित्रकारी हुई है, वह प्रायः पांच हजार वर्ष पहले के पूर्वजों के चित्र प्रेम की साख भरती है। इन भाण्डों और ठीकरों पर अनेक प्रकार की ज्यामितिक आकृतियां मिलती हैं, जो मुख्यतः काले और फीरोजी रंगों से बनी हैं।"

हड़प्पा सभ्यता में उपलब्ध लगभग 1200 से अधिक घीया पत्थर की बनाई हुई मुहरें कला और लेखों की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। अधिकांश पर एकश्रृंग पशु अंकित है, जिसकी पहचान ऋग्वेद के

शृंगवृष से की जा सकती है। अन्य पशुओं में महावृषभ, छोटे सींगों वाला नटुआ बैल, महिष, गैंडा, व्याघ्र, हाथी, खरगोश, हिरन, गरुड़, मगरमच्छ आदि हैं। इनमें अंकित आकृतियों में एक शृंग मुद्राओं पर स्तंभ भी प्रमुख हैं। स्तंभ के ऊपर कटोरा या वीरपात्र और उसके ऊपर वेदिका की खुली वेष्टनी या अण्डाकृति गूमठ— इन सबकी सम्मिलित कल्पना किसी देवता के ध्वजचिन्ह के रूप में की गई होगी। ऐतिहासिक युग के स्तंभों में सबसे ऊपर का भाग धर्मचक्र या सिंह, हाथी जैसे पशुओं से अलंकृत है। हड़प्पा सभ्यता की मुद्राओं में वह स्थान वेदिकामय भाग का है, संभवतः इन स्तंभों पर भी वह भाग परवर्ती युगों की भांति वह देवसदन या विश्वदेवों का स्थान माना जाता था। स्तंभ के कई भागों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए ज्ञात होता है कि उसका सर्वप्रथम रूप सिन्धुघाटी की मुद्राओं पर है। स्तंभ पूजा की धार्मिक प्रथा का संबन्ध इन्द्र, प्रजापति एवं अन्य कई देवों से था (वासुदेवशरण अग्रवाल)। डॉ आनन्द कुमार स्वामी के अनुसार “वेदों के समय भी चित्रों का चलन भारतवर्ष में था। ऋग्वेद में अग्नि के चित्र का हवाला है, जो चमड़े पर बना रहा होगा। उत्तर वैदिक वाङ्मय में हम ऐसे शब्दों को पाने लगते हैं, जो पीछे चलकर चित्र के प्रसंग में प्रयुक्त हुए हैं। इनमें से एक शब्द छायातप है जो जगत के द्वन्द्व को परिलक्षित कराने में प्रयुक्त हुआ है। जातकों में जिस समाज का वर्णन है उसे हम चित्रकला में पूर्ण रूप से व्याप्त पाते हैं। जातकों में शिक्षा के अट्टारह विषयों का उल्लेख है, जिनमें चित्रकला भी एक थी। बुद्ध के समय चित्र इतने मोहक बनते थे कि बुद्ध ने भिक्षुओं को चित्र देखने की मनाही कर दी थी।” तीसरी चौथी शताब्दी ई.पू. के बौद्ध ग्रंथ विनय पिटक तथा थेरी गाथा में चित्रों का उल्लेख है।

वात्स्यायन के कामसूत्र में चित्र के छः अंग माने गए हैं, जो निम्न श्लोक में वर्णित हैं—

“ रूपभेदाः प्रमाणानि भावलावण्ययोजनम् ।

सदृश्यं वर्णिकाभंगं इति चित्र षडंगकम् ”

(इन छः अंगों की व्याख्या के लिए देखें, रायकृष्णदास, भारतीय चित्रकला)

मानसोल्लास, कुमार विहार, शिल्परत्न, उत्तररामचरित, जैन ग्रंथ नायधम्मकला में चित्रकला के संकेत हैं। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में तो चित्रकला की विधिवत सांगोपांग व्याख्या ही उपलब्ध है।

प्रत्येक घर चित्र से अलंकृत होता था और उसकी भित्ति पर चित्र बने होते थे। भित्ति चित्र का इस देश में इतना अधिक प्रचार था कि भित्ति शब्द ही यहां चित्रों के आधार के लिए रूढ़ हो गया, जैसे यूरोप में चित्रों का आधार कैनवस समझा जाता है। चित्र तीन प्रकार के फलकों पर बनाए जाते थे। प्रथम फलक भित्ति या दीवार थी। दूसरा फलक धर्म या वस्त्र था और तीसरा फलक लकड़ी, तालपत्र, पत्थर और हाथी के दांत होते थे। भारत में पुराने चित्रों के उदाहरण दीवारों पर मिलते हैं एवं उनकी अपेक्षा नवीन चित्र ताल पत्रों और कागज पर। भित्ति चित्र के जो उदाहरण भारत में उपलब्ध हैं, उनका वातावरण धार्मिक है। पहाड़ों को काटकर यहां चैत्य, विहार और मन्दिर बनाने की प्रथा थी एवं उन्हीं की दीवारों पर पलस्तर लगाकर चूने जैसे किसी पदार्थ की घुटाई करके उस पर चित्र बनाए जाते थे। ऐसी गुफाओं में सबसे प्राचीन जोगीमारा की गुफा है। अजन्ता की गुफाओं के चित्रों के विषय बौद्ध धर्म से संबन्धित हैं। गौतम बुद्ध की जीवन घटनाएं, मातृ पोषक जातक, विश्वान्तर जातक, षडदन्त जातक, रूह जातक और महाहंस जातक आदि बारह जातकों में वर्णित गौतम बुद्ध की पूर्वजन्म की कथाएं, धार्मिक इतिहास तथा बुद्ध के दृश्य और राजकीय एवं लौकिक चित्र अंकित हैं। अजन्ता के समान ही उदाहरण सिगिरिया(श्रीलंका) तथा बाघ की गुफाओं में भी उपलब्ध हैं। दिनकर के अनुसार “अजन्ता, सिगिरिया और बाघ में जो चित्र उपलब्ध है, उन्हीं में हम भारतीय चित्रकला की परिणति के प्रमाण देखते हैं। बौद्ध धर्म के साथ-साथ भारत की संस्कृति

और कला भी भारत के बाहर पहुंचने के कारण सीलोन, जावा, स्याम, बर्मा, नेपाल, तिब्बत, जापान, हिन्द चीन और चीन में भी भारतीय चित्रकारी के नमूने उपलब्ध हैं एवं उनके अध्ययन के बिना भारतीय कला का अध्ययन पूरा नहीं कहा जा सकता। "गुप्त काल के बाद से चित्रकला का धीरे-धीरे ह्रास प्रारंभ हो हुआ। पाल शासन में बने चित्र अपेक्षाकृत उत्तम कोटि के थे।

दक्षिणापथ के चित्रों को देखें तो प्रारंभिक चित्रकला में जो मानव आकृतियां अथवा देवी-देवताओं के चित्र बनाए गए हैं, वे पूरी तरह वहां की नृतात्विक विशेषताओं के अनुरूप वहां के आदिवासियों की शारीरिक बनावट वाली हैं। शकों और पहलवों की जो आकृतियां दानदाताओं के रूप में चित्रित हैं, वे अपने उष्णीषों, कपड़ों और जूतों के कारण पूरी तरह पहचानी जा सकती हैं। किन्तु आंध्रों का शासनकाल समाप्त होते ही जब दक्षिणापथ में वाकाटकों का युग प्रारंभ हुआ तो उनके समय ये स्थानीय प्रभाव नहीं दिखाई देते। वाकाटक उत्तरी भारत के गुप्त सम्राटों से वैवाहिक और सांस्कृतिक सम्बन्धों में बंधे हुए थे।

3.3.3 मुद्रा निर्माण कला

प्रागैतिहासिक कालीन मुद्राओं/मोहरों की कला के संबन्ध में आप इसी खण्ड के उपखण्ड 3.3.2 में हड़प्पा सभ्यता की मोहरों के चित्रांकन में पढ़ चुके हैं। मुद्राओं के दूसरे नमूने हमें आहत मुद्राओं (पंचमार्क कॉइन्स)के रूप में मिलते हैं। भारत के सबसे प्राचीन सिक्के निशान लगाने के कारण ही पंचमार्क के नाम से पुकारे जाते थे। चाँदी की प्राचीन आहत मुद्राएं तक्षशिला से मैसूर तक मिली हैं। इन पर लगभग 500 चिन्ह बने हैं, जिन्हें रूप कहा जाता था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में आहत मुद्राओं का वर्णन मिलता है। इनमें सूर्य, षडभुजी चिन्ह, चतुश्रुत पंक्ति जिनमें हाथी, सिंह, वृषभ और कहीं-कहीं तुरग है, चोटी पर अर्धचन्द्र से युक्त मेरु पर्वत, चक्र, वेदिका से घिरा हुआ चैत्य वृक्ष, जिस पर पक्षियों के घोंसले हैं या नहीं भी हैं, मछलियों से भरा हुआ सरोवर, शशक, मोर, मेंढक, कछुआ, धनुष बाण, नन्दिपद, स्वस्तिक गर्भित चौकोरे, त्रिभुज, चौखटे में अंकित तीन मानवाकृति आदि। चिन्हों में एक ओर वैदिक प्रतीक हैं, दूसरी ओर ज्यामितीय रेखाओं से बने हुए पशु-पक्षी और फूल-पत्तियों के अनेक अलंकरण हैं। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में विदेशियों के अनुकरण पर लेख सिक्कों पर अंकित किए जाने लगे। कुषाण शासकों ने स्वयं सिक्कों को तैयार कराया और उपाधि सहित अपना नाम खुदवाया। कुषाण शासक विम कडफिस के सिक्कों पर केवल शिव और नन्दी बैल की मूर्ति थी। कनिष्क ने ईरानी, यूनानी, ब्राह्मण और बौद्ध धर्म के देवताओं को अपने सिक्कों में स्थान दिया। "ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी से सांचे में ढालकर सिक्के बनाने का पता चलता है। सांचे मिट्टी को पकाकर तैयार किए जाते थे। सांचे बनाने से पूर्व मिट्टी में अक्सर धान का छिलका मिलाया जाता था। टप्पे से भी सिक्के तैयार किए जाते थे। इस रीति से गरम धातु के टुकड़े पर टप्पे के दबाव से चिन्ह तथा लेख गहराई में अंकित हो जाते थे। एक ओर टप्पे के निशान से सिक्के तैयार करने की प्रथा ढालने के काम में लाई गई। ईरानी सिक्कों के आधार पर दोनों तरफ टप्पा मारने का दोहरा प्रयोग किया गया। कुणिन्द, औदुम्बर, नाग तथा यौधेय गणों के गोलाकार सिक्के पाए जाते हैं। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी से ही आहत (पंचमार्क) सिक्के तैयार करने की पुरानी रीति का टप्पा ने अंत कर दिया। गुप्त कालीन सिक्कों में कला का सूक्ष्म प्रदर्शन किया गया। राजलक्ष्मी, शेर, घोड़े, कमल आदि को उनके प्राकृतिक रूप में दिखलाया गया है। समुद्रगुप्त को स्वाभाविक ढंग से वीणा बजाते हुए अंकित किया गया है। स्कन्दगुप्त के समय में हूण आक्रमण के कारण साम्राज्य के अवनति की ओर अग्रसर होने के कारण सिक्कों की कला में भी ह्रास दिखाई देता है।" (वासुदेव उपाध्याय, भारतीय सिक्के)।

3.3.4 मृद्भाण्ड

हड़प्पा सभ्यता में कुम्हार की चाक पर बने कुछ बर्तन सादे हैं और कुछ पर लाल पोत देकर काली रेखाओं से चित्र बनाए गए हैं। इन पर रंग चढ़ाने के लिए लाल गेरू या हिरमिजी मिट्टी का प्रयोग हुआ है। इनमें कुछ विशेष प्रकार के बर्तन उल्लेखनीय हैं, जैसे नारियल की आकृति के नुकीली पेंदी के मिट्टी के कुल्हड़, दो इंच से लेकर चालीस इंच तक के उठान वाले बहुछिद्र युक्त भांड, संभवतः सुगंधित तेल व श्रृंगार सामग्री रखने के लिए बनाए गए आधे इंच से डेढ़ दो इंच तक के वामनाकृति भाण्ड, खुदे हुए बर्तन भाण्ड, पशु आकृति के बर्तन, नुकीली आकृति के अनाज रखने के बर्तन, शव निखात पात्र आदि। इन पर अंकित चित्रों में भंगिमा युक्त टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएं, लहरिया रेखाएं, कंधा, सूर्य, तारे, बाणमुख, चौफुलियाज्यामितिक आकृतियां, फूल.पत्तियों की पंक्तियां, पशु. पक्षी, मछली, पीपल का वृक्ष, मोर,मृगया का चित्र आदि प्रमुख हैं। हमें तीन प्रकार के मृद्भाण्डों का परिचय मिलता है 1. गेरू या लाल रंग से रंगे बर्तन 2. भूरे रंग के बर्तन जिन पर काली रेखाओं के चित्र हैं (1200ई. पू. से 600 ई. पू.) 3. उत्तरी काली पॉलिश वाले बर्तन (नॉर्दर्न ब्लैक पेंटेड वेयर) (600 से 200 ई. पू.)। इनमें से तीसरे प्रकार के चमकीले भाण्ड सारे भारत में प्राक्मौर्य और लगभग मौर्यकालीन स्थानों पर पाए गए हैं।

3.3.5 संगीत, वाद्य,नृत्य

कुछ प्रमाण मिलता है ,जिससे ज्ञात होता है कि आर्य लोग सप्त स्वरों (सरगम) से परिचित थे और सामवेद की ऋचाओं के गायन के निर्देश यह बताते हैं कि वैदिक काल में भक्ति संबन्धी गायन शैली मध्यकालीन सरल स्त्रोत पाठ शैली की भांति थी। “स्त्री. पुरुष दोनों ही झांझ. मजीरे के वाद्यों के साथ नृत्य में भाग लेते थे। उस समय तीनों ही प्रकार के वाद्यों का आविष्कार हो चुका था— अवनद्ध वाद्य जैसे दुन्दुभि, तंतुवाद्य जैसे कर्करि अथवा वाण या वीणा, जिसके सप्त स्वरों की ठीक पहचान हो चुकी थी और सुषिर वाद्य जिसे नाळी कहा जाता था (राधाकुमुद मुखर्जी, हिन्दू सभ्यता)।

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में तीस से ऊपर रागों का उल्लेख है। प्रमुख वाद्य यंत्र वीणा था। गुप्त काल के अन्त तक इस वाद्य यंत्र का प्रचलन समाप्त होना प्रारंभ हो गया और उसका स्थान एक नारंगी के आकार की सारंगी ने ले लिया जो या तो उंगलियों से अथवा गज से बजाई जाती थी। इसका स्थान क्रमशः आठवीं शताब्दी में वर्तमान वीणा के प्रारंभिक रूप ने लिया, जिसमें एक लम्बा अंगुलीय पट तथा छोटी गोलाकार आकृति होती थी , जो प्रायः सूखी लौकी से बनाई जाती थी। विभिन्न प्रकार की बांसुरी तथा नरकुल के वाद्ययंत्रों का प्रचार था परंतु तुरही के यंत्रों का प्रयोग संदेशों एवं घोषणाओं के अतिरिक्त प्रायः नहीं होता था। सबसे अधिक वर्णन शंख का प्राप्त होता है, जो युद्ध से पूर्व घिसे हुए सिरे द्वारा देवता के आह्वान के रूप में और प्रायः आवश्यक अवसरों पर बजाया जाता था। संगीत की भांति भारतीय नृत्य का भी नाट्य से घनिष्ठ संबन्ध था। नृत्य और नाट्य एक ही कला अर्थात् अभिनय के रूप हैं। नाट्य ने मुख्यतः शब्द एवं मुद्रा का प्रयोग किया, जबकि नृत्य ने मुख्यतः संगीत एवं मुद्रा का। बाघ के गुफा चित्र में एक दृश्य नृत्य समाज का है, जिसमें नर्तकी मंडल बांधकर छोटे. छोटे डंडे लड़ाकर नृत्य कर रही है।

अभ्यास प्रश्न

निम्न पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए

1. (क) स्तूप की विशेषताएं

(ख) गुफा मन्दिर व चैत्य स्तूपों से किस प्रकार भिन्न हैं?

(ग) प्राचीन भारतीय कला में मन्दिरों का स्वरूप

(घ) मूर्तिकला की विशेषताएं

(च) प्राचीन भारतीय चित्रकला की विशेषताएं

2. निम्न कथनों के सामने 'सही' और 'गलत' का उल्लेख कीजिए

(क) सांची व सारनाथ के स्तूप जैन धर्म की कला के उत्कृष्ट नमूने हैं।

(ख) मन्दिर वास्तु की नागर शैली का विकास दक्षिण भारत में हुआ।

(ग) कोणार्क का सूर्य मन्दिर उड़ीसा में है।

(घ) हड़प्पा सभ्यता से प्राप्त मुहरों पर अंकित एकशृंग पशु की पहचान ऋग्वेद के शृंगवृष से की जा सकती है।

(च) अजंता की गुफा में बौद्ध धर्म से सम्बन्धित चित्र अधिक हैं।

(छ) कौटिल्य के अर्थशास्त्र में आहत मुद्राओं का उल्लेख मिलता है।

3.4 भारतीय कला पर विविध प्रभाव

भारत और पश्चिमी एशिया के पारस्परिक संबन्धों के साक्ष्य हड़प्पा सभ्यता के साथ ही मिलने लगते हैं। आरंभयुगीन संपर्कों का प्रभाव कला के रूपों में पाया जाता है, जो पश्चिमी एशिया से भारत तक फैले हुए थे और जिनकी कल्पना में दोनों संस्कृतियों ने भाग लिया (वासुदेव शरण अग्रवाल)। दोनों के सहयोग से उत्पन्न अभिप्राय थे— सपक्ष सिंह, महोरग (समुद्री व्याल/अंग्रेजी ट्राइटन), दो सिर और चार सींगों वाला भैंसा (ऋग्वेद), एक सिर और दस शरीरों वाले वत्स (अथर्ववेद), पशु पक्षियों के मुख वाले रूप, कल्पनाजन्य पशु (ईहामृग) आदि। इनके समानान्तर या मिलते-जुलते बहुत से रूप सुमेर, खत्ती, असीरिया, मेसोपोटामिया, क्रीट, ट्राय, फीनिशिया, हखमनी और शक संस्कृतियों आदि की कलाओं में प्राप्त होते हैं। भरहुत, सांची और मथुरा की कला में ईहामृग पशुओं की सजावट है। मथुरा में लम्बे खिंचे हुए टेढ़े-मेढ़े शरीरों वाले पशुओं का बहुतायत से चित्रण पाया जाता है। भगवतशरण उपाध्याय के अनुसार "भारत में शिलाओं और स्तंभों पर आलेख अंकित करने की कला ईरान होकर भारत पहुंची। वास्तुकला के संस्कृत ग्रंथों और महाभारत तथा पुराणों में असुर मय की चर्चा आचार्य और असाधारण वास्तुकार के रूप में हुई है। ई. बी. हेवेल ने कुछ पुराने असीरियन मन्दिरों के जो पुनर्निर्मितचित्र प्रस्तुत किये हैं, उनसे हमारे मन्दिर के शिखरों का सम्बन्ध सीधे उनसे स्थापित हो जाता है। इसी प्रकार उनके द्वारा स्तम्भ निर्माण में किए गए

प्रयोगों से फारसियों और यूनानियों के आयोनीय खम्भों का विकास हुआ और आगे चलकर वे तक्षशिला पहुंचे। वे महान कारीगर थे तथा ललित कलाओं के उदाहरण उपस्थित करने में अनुपम थे। उनकी कलात्मक उपलब्धियां महलों के इर्द-गिर्द केन्द्रित थीं। फर्श बनाने की उनकी विशेषता उस चमक में थी, जिसके कारण जहां जल था वहां थल प्रतीत होता था और जहां थल था, वहां जल। असुर कलाकार मय ने महाभारत के युधिष्ठिर के महल में यही चमत्कार उत्पन्न किया था। इसी प्रकार स्पूनर ने आधुनिक पटना के निकट एक गांव कुमरहार में चन्द्रगुप्त मौर्य के राजमहल के अवशेष खोजे, जिसमें ढाई फुट गोलाई वाले, दस फुट ऊँचे स्तंभों की दो पंक्तियों के ऊपर बनाया गया एक स्तंभ कक्ष था। पर्सिपोलिस में दारा और क्षयार्थ (जेरेक्सीज) के महल में भी सौ स्तंभ दस पंक्तियों में खड़े किए गए थे। मेगस्थनीज ने चन्द्रगुप्त मौर्य के महल की समानता शुषा और एकबताना के महलों से की थी। वासुदेव शरण अग्रवाल का मत है कि "हखमनी कला के स्तंभों और मौर्य कला के स्तंभों में आकाश पाताल का अन्तर है। ईरान के राजप्रासादों की अपेक्षा पाटलिपुत्र का राजप्रासाद कहीं अधिक उत्कृष्ट था। ईलियन के अनुसार "सूसा और एकबताना के राजप्रासाद किसी भांति पाटलिपुत्र के राजप्रासाद से स्पष्ट नहीं कर सकते थे।"

भगवतशरण उपाध्याय ने आगे लिखा है कि "अशोक के काल से पहले भारत में शिलाओं और स्तंभों पर आलेख कभी अंकित नहीं किए गए थे। बुद्ध के अवशेषों वाले पात्रों पर कुछ इंच लम्बे आलेख, जैसा एक पिपरहवा के स्तूप में प्राप्त हुए हैं, बुद्ध काल के नहीं हैं, क्योंकि उनको अशोक काल की ब्राह्मी लिपि में अंकित किया गया है। अपनी विजय के आलेख चट्टानों और स्तंभों पर अंकित करना फारस के सम्राटों में आम प्रथा थी। उससे पहले असीरिया में, उससे पहले मिस्र, सुमेरिया और बेबीलोनिया में थी।" इसके विपरीत अग्रवाल का मत है कि "अशोक ने अपना मौलिक विचार स्तंभ शीर्षकों के रूप में प्रकट किया। स्तूप, वेदिका, छत्र, बोधिमंड, एकाश्मक स्तंभ शीर्षक, पर्वत में उत्कीर्ण गुफाएं और धौली में उत्कीर्ण गजतम— ये सब कला के रूप भारतीय भूमि की उपज थे। इस बृहत सूची से केवल स्तंभों को अलग करके उन्हें विदेशी प्रभाव से प्रभावित मानना युक्तिसंगत नहीं है।" वे आगे लिखते हैं "पर्सि ब्राउन ने लिखा है कि 3000 ई. पू. में ऊर नामक स्थान में चन्द्र मन्दिर के सामने ऐसे स्तम्भ थे। (चट्टान में उत्कीर्ण गुफाओं के सामने के कीर्ति स्तम्भ) उनका मानना है कि मिस्र के मन्दिरों के सामने भी ऐसी ही लाटें थीं और येरूसलम के सोलोमन के मन्दिर के सामने भी दो पीतल के स्तम्भ थे, जिनका प्रभाव कार्ले के कीर्तिस्तम्भों पर पड़ा। किन्तु ऐसे स्तम्भों की कल्पना के लिए भारत से बाहर जाने की आवश्यकता नहीं। यज्ञीय भूमि में और श्मशानों में इस प्रकार के स्तम्भों को स्थापित करने का रिवाज बहुत पुराने समय से था। ऋग्वेद में ही इसका उल्लेख है और लौरियानन्दनगढ़ के मिट्टी के थूहों में ऐसे स्तंभों के स्पष्ट प्रमाण मिले हैं। सांची के महाचैत्य में तोरण के सामने ऐसा ही स्तंभ है।"

"भारतीय वास्तुकला में स्तूप एक विदेशी देन थी। स्तूप जैसे दोनों प्रकार के ढांचे पश्चिमी एशिया और मिस्र में कब के खड़े किए जा चुके थे। बेबीलोन तथा अन्य स्थानों पर एक प्रकार के मन्दिर बनाए गए थे, जिनमें से कुछ सात सात मंजिल के थे और जिनके टोस बाहरी भाग के चारों ओर वर्तुलाकार सीढ़ियां ऊपर की ओर उठती चली गई थीं। इनको जग्गुरत कहा जाता था। बिना कक्षों वाले मन्दिर के लिए संस्कृत शब्द है जरुक, जो जग्गुरत का बिगड़ा हुआ रूप है। महाभारत में इसे एदुक कहा गया है। अवशेष संचय के लिए निर्मित दूसरे प्रकार के स्तूप की तुलना और संबन्ध मिस्र के पिरामिडों से किया जा सकता है। डॉ. आनन्द कुमारस्वामी ने अपनी पुस्तक 'भारतीय और इंडोनेशियाई कला का इतिहास' में लिखा है और उसकी पुष्टि लौरिया में ब्लॉख द्वारा की गई खुदाई से हुई है कि उत्तरी बिहार में लौरियानन्दनगढ़ में आठवीं सातवीं सदी ई.पू. के समय के एक मकबरे का अस्तित्व था। डॉ. कुमारस्वामी ने भारत में चट्टानों में

काटकर बनाए गए बड़े प्राचीन चैत्य कक्षों और एशिया माइनर के दक्षिणी तट के किनारे पिनारा और जेन्थस नगरों के पहाड़ों में तराश कर बनाए गए मकबरों के बीच समानता बताई है। "इस प्रकार स्पष्ट है कि सुमेरिया और बाबुल (बेबीलोन) के जग्गुरत और मिस्र के पिरामिड तथा पिनारा और जेन्थस में खोद कर निकाले गए मकबरे उन स्तूपों के पूर्ववर्ती नमूने थे जो गांधार, पश्चिमी पंजाब और सिंध में ईरानियों के प्रभुत्व के समय बने थे" (भगवतशरण उपाध्याय)। के. आर. श्रीनिवासन का मत है कि "वैदिक, बौद्ध तथा जैन धर्म मूलतः भारतीय होने के कारण उनके मन्दिरों के आकार-प्रकार में उन पर कोई बाहरी प्रभाव नहीं है। जो कुछ भी उन्होंने लिया है, वह अपने ही देश की परंपरा से प्राप्त किया है। यही कारण है कि तीनों प्रकार के मन्दिरों की बनावट और उनका स्थापत्य शुद्ध देशीय सिद्धांतों और स्थापत्य की परंपरागत शैली के अनुसार ही है। अपनी विभिन्न आस्था और विश्वासों के अनुसार पहचान की दृष्टि से अपने मतों के लिए विशिष्ट महत्व रखने वाले कुछ परिवर्तन अवश्य किए गए"।

मूर्तिकला के क्षेत्र में यह प्रभाव और भी महत्वपूर्ण है। अशोक से पन्द्रह शताब्दी पहले की सुदूर सिन्धु सभ्यता की मूर्तियों और परखम यक्ष जैसे कुछ अन्य 'क्रूड' नमूनों को छोड़कर जो अशोक से थोड़े ही पहले के हैं, अशोक से पहले की कोई मूर्ति नहीं मिलती। अशोक के स्मारकों की चमत्कारी पॉलिश जिससे वे धातु के बने प्रतीत होते हैं और जिसका उन्हीं के साथ अन्त भी हो जाता है, परखम, पवाया और बड़ौदा में प्राप्त किस्म के स्थानीय नमूनों से भिन्न है। भगवतशरण उपाध्याय का मानना है कि "वह पॉलिश भी और स्तंभों तथा उनके शिखरस्थ पशुओं की परिकल्पना वहीं से आई जहां से अरमई लिपि, अशोक के शिलालेखों के प्रारंभिक अंश आए थे। अशोक के स्मारकों के तात्कालिक पूर्ववर्तियों का भी हम्मुराबी के स्तंभों से असुरबनीपाल तथा उसके असीरियाई उत्तराधिकारियों के पाषाण स्तंभों तथा हखमनी सम्राट दारा तक और दारा से अशोक के सिंह स्तंभों तक एक अविच्छिन्न सातत्य था। सांची और भरहुत के स्तंभों की शृंगकालीन रेलिंग उत्कृष्ट हैं। मौर्यकालीन स्तूपों के इर्द-गिर्द सांची और भरहुत की रेलिंगें, जिन पर बड़े सजीव पशु पक्षी अंकित हैं, परवर्ती शृंग युग की उपलब्धियां हैं। शृंगकालीन कला में बौद्ध प्रतीकों के ऊपर भी छत्र लगाए जाने लगे थे। मस्तक के पीछे तेजोचक्र या प्रभामण्डल आरंभ से ही बुद्ध मूर्ति का लक्षण माना गया। इस लक्षण को ईरान के धार्मिक देवताओं से अपनाया गया, जहां सिक्कों पर उन देवों की मूर्तियों में मस्तक के पीछे प्रभामण्डल पाया जाता है। इसी प्रकार यूनानी मूर्तिकारों ने भारतीय जीवन और गाथाओं को, विशेषकर बुद्ध के जीवन को छोटे-बड़े कई रूपों में अंकित किया। मथुरा के लाल चकत्तेदार पत्थर पर बनी कुछ मूर्तियों में गांधार शैली की बुद्ध मूर्तियों के कई लक्षण हैं, जैसे— कुछ मूर्तियों के चेहरे पर मूंछें हैं। छाती पर जनेऊ की तरह रक्षासूत्र या ताबीजी गण्डे हैं और जो बेंत के ऊँचे मूठे पर बैठी हैं। वे पैरों में यूनानी ढंग की चप्पल पहने हैं। भारतीय परम्परा के अनुसार बुद्ध के चेहरे पर मूंछें कभी नहीं दिखाई जाती। यह लक्षण ईरान की मूर्तियों से लिया गया। ताबीजी माला भी ईरानी या पश्चिमी परंपरा से ली गई। कालान्तर में पंजाब और काबुल घाटी में गांधार, भारतीय, यूनानी, भारतीय-हेलेनी या यूनानी-रोमन कलाके रूप हम देखते हैं। गांधार की प्राचीन राजधानी तक्षशिला में आयोनियाई खम्भों वाले अनेक भवन और मन्दिर मिले हैं। यूनानी कारीगरों और वास्तुशिल्पियों ने अनेक मन्दिर बनाए और कश्मीर के मन्दिरों पर हेलेनी वास्तुशिल्प की अनेक छाप छोड़ीं। हिन्दू यूनानियों के बाद ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के लगभग भारत में प्रवेश करने वाले शक, पहलव, कुषाण, आभीर और गुर्जरों ने भारतीय संस्कृति को प्रभावित किया, जिनमें मध्य एशिया से आई खानाबदोश शक जाति ने भारत में बड़ी संख्या में पूजा की स्थानीय रीतियों व देवी-देवताओं को अपनाया। मथुरा के संग्रहालय में लाल पत्थर की अनेक ऐसी प्रतिमाएं रखी हैं, जो पहली से तीसरी शताब्दी ई. तक की हैं, जिनमें कुछ चार अश्वों के रथ में बैठी दिखाई गई सूर्य की हैं। सूर्य की

उपासना के लिए तैयार इस प्रकार की प्रतिमाएं भारत में इस काल से पहले नहीं दिखाई देतीं। ऋग्वेद में भी सूर्य को प्राकृतिक रूप में पूज्य माना गया कुषाणों से पहले सूर्य की कोई प्रतिमा नहीं मिली है। धोती पहने, उत्तरीय ओढ़े, मुकुट धारी खड़े सूर्य की प्रतिमाएं, (जिनमें उन्हें कमलदल धारण किए हुए अथवा कुहनियों पर से बाहुएं मोड़े दोनो हाथ ऊपर उठाए हुए कमलदलों का स्पर्श करते हुए दिखाया गया है), बाद के मध्यकाल में आईं। भविष्य, शाम्ब तथा अन्य पुराणों में सूर्य की उपासना तथा सूर्य के प्रथम मन्दिर की स्थापना शकद्वीप अर्थात् सिंध के मुल्तान स्थान में बताई गई है, जहां शकों ने भारत में प्रवेश करके अपनी बस्तियांबसाईं थीं। शक और कुषाण सूर्य पूजक थे। कनिष्क के सिक्कों पर सूर्य और चन्द्र की आकृतियां मिलती हैं। भारत में उन्होंने ही सूर्य की उपासना का चलन आरंभ किया और अपने अनुरूप वेशभूषा भी दी। भारत में पहले कुछ एक ही थे। कश्मीर में मार्तण्ड मन्दिर, उड़ीसा में कोणार्क, उत्तर प्रदेश में बहराइच में सूर्य मन्दिर आदि।

प्रसिद्ध ग्रीको भारतीय शैलीगांधार शैली का आरंभ यूनानियों ने किया था, परंतु उसको विकसित करके प्रचलित करने का कार्य शकों और कुषाणों ने किया। फलतः सर्वश्रेष्ठ कलाकृतियां पहली से तीसरी सदी ई. के दौरान बनीं। स्तूपों के स्तंभ, रेलिंग, बुद्ध की मूर्तियों में सिलवटों की लकीरें और सूक्ष्म हुईं। भगवतशरण उपाध्याय के अनुसार “कुषाणों की उपलब्धियों में गांधार कला ने एक स्पष्ट समान शैली को जन्म दिया और महायान के दार्शनिक सिद्धांतों द्वारा समर्थित बुद्ध की मूर्ति के प्रकट होने से बौद्ध मत पश्चिम और पूर्व में समान रूप से विचारकों तथा आम जनता के स्वीकार योग्य बन गया। कला को आम रूप में एक विशिष्ट कुषाण शैली प्राप्त हुई और नाग,नागिनियों, अप्सराओं और यक्षिणियों, सप्तमातृकाओं, मगरमच्छ और कछुए पर सवार गंगा और यमुना, बोधिसत्वों और आयागपटों की मूर्तियों ने मथुरा कला को समृद्ध किया। वासुदेव कृष्ण पहली बार मूर्तिमान हुए। अगर कुषाण तकनीक पहले प्रकट न हुई होती तो गुप्त युग की कला की उपलब्धियां और सूक्ष्मता मात्र स्वप्न बनी रहती।”

अभ्यास प्रश्न

निम्न पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए

1. (क) प्राचीन भारतीय कला पर विभिन्न प्रभाव

(ख) गांधार कला का स्वरूप

2. निम्न कथनों के सामने ‘सही’ और ‘गलत’ का उल्लेख कीजिए

(क) चन्द्रगुप्त के राजमहल के अवशेष पटना के निकट कुमरहार में प्राप्त हुए हैं।

(ख) गांधार कला पर यूनानी प्रभाव है।

3.5 कलाकृतियों हेतु प्रयुक्त सामग्री तथा उसका प्राप्तिस्थान

कला की वस्तु के अध्ययन के लिए अवशेषों प्राप्ति स्थान और तिथिक्रम दोनों से सहायता मिलती है। सिन्धु घाटी में कीरथर पहाड़ी की खदानों का सफेद खड़िया पत्थर (लाइमस्टोन) काम में लाया जाता था। मौर्य कला के लिए चुनार की खदानों का हल्के गुलाबी रंग का ठोस बलुआ पत्थर काम आता था। मथुरा कला में मंजीठी रंग का चित्तीदार बलुआ पत्थर जो सीकरी, बयाना आदि स्थानों में मिलता है, प्रयुक्त

किया गया। गान्धार कला में नीली झलक का सलेटी पत्थर, तथा गुप्त कला में स्थानीय ललछौंह या महावरी पत्थर का प्रयोग होता था। पाल युग में गहरे नीले या काले रंग का पत्थर (ब्लैक बेसाल्ट) , चालुक्य कला में पीले रंग का बलुआ पत्थर, अमरावती एवं नागार्जुनीकोण्डा आदि के स्तूपों में विशेष प्रकार का श्वेत खड़िया पत्थर काम में आता था , जिसे वहां की भाषा में अमृतशिला कहते हैं और जो हमारे यहां के संगमरमर से मिलता है। इसी प्रकार उड़ीसा के मन्दिरों में राजारनिया या मुगनी(क्लोराइट) पत्थर, कहीं कुरथा (ग्रेनाइट) और कहीं दुसरिया पत्थर (लेटराइट) और कहीं सेलखड़ी या संगजराहत (एसबेस्टस) और कहीं संगमरमर काम में लाया गया। इस प्रकार कला में प्रयुक्त सामग्री को देखकर आपको कलात्मक सामग्री के स्थानीय भेदों का निर्देश मिल जाता है। चित्रों की सामग्री को देखें तो आदिम चित्रों की सामग्री में धातु (= खनिज, रंग, मुख्यतः गेरू, रामरज, हिरौंजी) है तथा उत्कीर्णन के स्थान गुहागृह तथा खुली चट्टानें हैं। अजंता के चित्रण विधान में दीवार या चित्रण हेतु प्रयुक्त स्थल का पत्थर टपर कर खुरदुरा बना दिया जाता था, जिय पर गोबर, पत्थर के चूर्ण और कभी कभी धान की भूसी मिले हुए गारे का कलेवा चढ़ाया जाता था। यह कलेवा चूने के पतले पलस्तर से ढका जाता था और इस पर जमीन बांधकर लाल रंग की रेखाओं से चित्र टीपे जाते थे, जो रंग लगाकर तैयार किए जाते थे।

अभ्यास प्रश्न

निम्न पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए

1. (क) विभिन्न कलाकृतियों के निर्माण हेतु प्रयुक्त सामग्री पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

3.6 सारांश

प्राचीन भारतीय कला को उसकी विशेषताओं के आधार पर धार्मिक और लौकिक दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है। कला में जिन धारणाओं और धार्मिक विश्वासों का निरूपण हुआ है, उनमें बुद्ध और बुद्ध के जीवन से जुड़ी घटनाएं, शिव-रुद्र व नारायण-विष्णु को प्रमुख स्थान दिया गया है, तो दूसरी ओर यक्ष, नाग, नदी, सागर, चन्द्र, सूर्य, नदी, स्कन्द आदि मातृभूमि से सम्बन्धित देवताओं व उपासना के प्रतीकों का अंकन हुआ है। देवपूजा के वे प्रकार जैसे लोक में थे, वैसे ही कला में भी अपनाए गए। भारतीय कला के वर्ण्य विषयों में भारतीय जीवन और विचारों की विशद व्याख्या मिलती है। इसमें विशिष्ट और सामान्य जन दोनों का ही अंकन हुआ है। प्रागैतिहासिक काल से लेकर ऐतिहासिक युगों तक यह कला विभिन्न सभ्यताओं में प्रयुक्त विभिन्न प्रतीकों, अभिप्रायों और विषयों को लेकर चली है। अध्यात्म और सौन्दर्य के सम्मिश्रण ने इसे कलात्मक रूप से और अधिक समृद्ध बनाया है।

मन्दिर, स्तूप आदि धार्मिक वास्तु के प्रतीक हैं। गुप्त काल के स्तंभों पर आधारित बिना छत वाले प्रारंभिक मन्दिरों का स्थान धीरे-धीरे छत वाले मन्दिरों ने लिया और कालान्तर में मन्दिर वास्तुकला की तीन शैलियों का विकास हुआ— नागर, बेसर तथा द्रविड़। प्रारंभिक काल में गुफा मन्दिरों और चैत्यों का भी निर्माण हुआ। इन सभी में उत्कृष्ट मूर्तिकला, सुन्दर चित्रकारी एवं अलंकरण हैं। अजंता की चित्रकला विश्वप्रसिद्ध है। इसी प्रकार प्राचीन भारतीय वास्तुकला के क्षेत्र में बुद्ध के सम्मान में स्तूप निर्माण हुआ। ये दो प्रकार के हैं— स्मारक के रूप में बने स्तूप ईंट और पत्थरों के बने ठोस ढांचे थे, जो बुद्ध या महावीर के जीवन की किसी घटना के किसी स्मारक में खड़े किए गए थे। दूसरे अस्थि संचायक स्तूप खोखले आकार के थे, जहां अवशेष रखे जाते थे। प्रारंभिक स्तूप विशाल गोलाकार गुम्बदों के रूप में थे, जिनमें एक केन्द्रीय

कक्ष में बुद्ध के स्मारक चिन्ह प्रायः सुन्दरता से स्फटिक जड़ित एक छोटी मंजूषा में रखे रहते थे। धीरे-धीरे स्तूपों के अलंकरण में भी वृद्धि हुई। कला के लौकिक पक्ष के अन्तर्गत ग्रामों और पुरों के सन्निवेश, विभिन्न प्रकार के भवन, दुर्ग आदि का निर्माण, पशु पक्षियों (सिंह, हिरन, मोर आदि), पुष्प (जैसे कमल) वृक्ष(वट, अश्वत्थ आदि), मनुष्यों एवं जनजीवन से सम्बन्धित विभिन्न अंकन हुए हैं और ये अत्यंत सजीव हैं। इस समग्र इकाई के अध्ययन से आप समझ पाए होंगे कि भारतीय कला का स्वरूप जितना स्थानीय था, बाह्य प्रभाव से भी वह अछूती नहीं रही। समय समय पर विभिन्न मानव समूह भारतवर्ष की सीमाएं लांघकर इस भूभाग में प्रविष्ट हुए उनकी कला का प्रभाव भी यहां पड़ा (यद्यपि विद्वानों में इस प्रभाव के बारे में विभिन्न मत हैं) और उनके परस्पर समन्वय से भी भारतीय कला में विविधता का समावेश हुआ। गांधार और मथुरा कला इसका एक प्रमुख उदाहरण हैं।

3.7 तकनीकी शब्दावली

- 1 पत्रवल्लरी/ पत्रलता – पत्तों की बेल
- 2 ईहामृग—काल्पनिक मृग
- 3 अभिप्राय— कला में मोटिफ
- 4 ऐरावत— इन्द्र का हाथी
- 5 भित्तिचित्र – दीवारों पर बनाए जाते थे। इसके अलावा कपड़े और संभवतः चमड़े पर बनाए जाने वाले 'चित्रपट' एवं लकड़ी, कीमती पत्थरों और हाथी दांत पर बनाए जाने वाले "चित्रफलक प्रमुख थे।
- 6 तुषित स्वर्ग— एक स्वर्ग का नाम
- 7 कृक्षि— कोख, गर्भ
- 8 तिरश्चीन— कुटिल, टेढ़ा
- 9 धर्मचक्रप्रवर्तन—ज्ञान प्राप्ति के बाद बुद्ध ने सारनाथ में अपना प्रथम उपदेश दिया, जिसे धर्मचक्रप्रवर्तन कहा जाता है। कला में इसे चक्र के रूप में अंकित किया गया है।
- 14 यूप— यज्ञ का स्तंभ। दिव्यावदान ने यूप को धर्म का चिन्ह कहा है।
- 15 हर्मिका— स्तूप का एक भाग, जिसे शिखर के अस्थिपात्र की रक्षा हेतु निर्मित किया जाता है
- 16 मन्दिर का गर्भगृह—मुख्य पूजा स्थल, जहां उपास्य देव मूर्ति होती है
- 17 कुम्भाण्ड— एक असुर
- 18 प्रदक्षिणा— परिक्रमा

3.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

खण्ड 3.2 के उत्तर

1. (क) देखें 3.2.1(ख) देखें 3.2.4 व 3.2.4.1
2. (क) देखें 3.2.1(गलत) (ख) देखें 3.2.5 (सही)

खण्ड 3.3 के उत्तर

1. (क) देखें 3.3.1.1 (ख) देखें 3.3.1.1 व 3.3.1.2
(ग) देखें 3.3.1.3 (घ) देखें 3.3.1.4
(च) देखें 3.3.2
2. (क) देखें 3.3.1.1 (गलत) (ख) देखें 3.3.1.3 (गलत)
(ग) देखें 3.3.1.3 (सही) (घ) देखें 3.3.2 (सही)
(च) देखें 3.3.2 (सही) (छ) देखें 3.3.3 (सही)

खण्ड 3.4 के उत्तर

1. (क) देखें 3.4 (ख) देखें 3.4
2. (क) देखें 3.4 (सही) (ख) देखें 3.4 (सही)

खण्ड 3.5 के उत्तर

1. (क) देखें 3.5

3.9 उपयोगी पाठ्य सामग्री

- 1 वासुदेव शरण अग्रवाल, भारतीय कला, वाराणसी, 1966
2. राधाकुमुद मुखर्जी, हिन्दू सभ्यता, दिल्ली, 1990
2. आनन्द कुमारस्वामी, इंटरोडक्शन टु इण्डियन एंड इंडोनेशियन आर्ट, केस्सिंगर पब्लिकेशन, 2003
- 3 आनन्द कुमारस्वामी, द डांस ऑफ शिवा— फोर्टीन इण्डियन एसेज न्यूयॉर्क 2003,
- 4 आनन्द कुमारस्वामी, द ट्रांसफॉर्मेशन ऑफ नेचर इन इण्डियन आर्ट, स्टर्लिंग पब्लिकेशन, 1996
- 5ए.एल बाशम, अद्भुत भारत, हिन्दी अनुवाद, आगरा 1972
- 6भगवत शरण उपाध्याय, भारतीय संस्कृति के स्रोत, दिल्ली, 1973

- 7 वासुदेव उपाध्याय, प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा एवं मन्दिर , 1972
- 8 कृष्णदत्त बाजपेयी, भारतीय वास्तुकला का इतिहास, लखनऊ,1972
- 10 राय कृष्णदास, भारत की चित्रकला, इलाहाबाद,1976 (छठा संस्करण)
8. विशुद्धानन्द पाठक, दक्षिण भारतीय संस्कृति, लखनऊ, 2008

3.10 निबन्धात्मक प्रश्न

- 1 प्राचीन भारतीय कला की विशेषताओं पर एक निबन्ध लिखिए।
- 2 प्राचीन भारत में वास्तुकला की विशेषताओं का विवेचन कीजिए।
- 3 प्राचीन भारत में चित्रकला के स्वरूप तथा उसके अन्तर्गत चित्रित विविध विषयों समीक्षा कीजिए।
- 4 प्राचीन भारत में ललित कलाओं के स्वरूप पर एक टिप्पणी लिखिए।

ब्लॉक दो

इकाई – एक: सिन्धु-सभ्यता की साँस्कृतिक विशेषताएँ

- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 उद्देश्य
- 1.3 नगर नियोजन
 - 1.3.1 भवन नियोजन
 - 1.3.2 विशाल अन्नागार
 - 1.3.3 महास्नानागार
 - 1.3.4 सड़कें
 - 1.3.5 नालियाँस्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न
- 1.4 सैन्धव कला
 - 1.4.1 प्रस्तर मूर्ति कला
 - 1.4.2 धातु मूर्तियाँ
 - 1.4.3 मृण्मूर्तियाँ
 - 1.4.4 मुहरें
 - 1.4.5 मनके
 - 1.4.6 मृदभाण्डस्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न
- 1.5 सामाजिक स्थिति
 - 1.5.1 सामाजिक संगठन
 - 1.5.2 स्त्रियों की स्थिति
 - 1.5.3 भोजन
 - 1.5.4 वस्त्राभूषण
 - 1.5.5 श्रृंगार प्रसाधन
 - 1.5.6 मनोरंजन के साधन
 - 1.5.7 अस्त्र – शस्त्र
 - 1.5.8 चिकित्सा एवं औषधियास्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न
- 1.6 धार्मिक – अवस्था
 - 1.6.1 मातृदेवी की पूजा
 - 1.6.2 शिव पूजा
 - 1.6.3 लिंग और योनि पूजा
 - 1.6.4 पशु पूजा
 - 1.6.5 वृक्ष पूजा
 - 1.6.6 जल – पूजा

- 1.6.7 सूर्य पूजा
- 1.6.8 अंतिम संस्कार
 - स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न
 - 1.7 आर्थिक स्थिति
 - 1.7.1 कृषि
 - 1.7.2 पशुपालन
 - 1.7.3 प्रौद्योगिकी
 - 1.7.4 व्यापार – वाणिज्य
 - स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न
- 1.8 राजनीतिक – दशा
- 1.9 सारांश
- 1.10 तकनीकी शब्दावली
- 1.11 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर
- 1.12 संदर्भ ग्रंथ सूची
- 1.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 1.14 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

सिन्धु – सभ्यता की खोज ने भारतीय इतिहास में एक सुनहरा अध्याय जोड़ा है। सैन्धव संस्कृति, भारतीय संस्कृति का इतिहास के पन्नों में अंकित गौरवशाली अध्याय है। सिन्धु – सभ्यता के बारे में सर्वप्रथम चार्ल्स मसौन ने ध्यान दिलाया था। जब उन्होंने 1826 ई० में हड़प्पा के बारे में लिखा। इसके बाद जब 1856 ई० में कराची और लाहौर के बीच रेलवे मार्ग बनाया जा रहा था, तब रावी नदी के तट पर स्थित हड़प्पा के खण्डरों से ईंटें लायी जा रही थीं। तभी इसी प्रक्रिया में प्राप्त अवशेषों के कारण हड़प्पा नामक पुरास्थल प्रकाश में आया। 1856 एवं 1873 ई० में कनिंघम ने हड़प्पा का निरीक्षण किया। किन्तु हड़प्पा की खोज का श्रेय रायबहादुर दयाराम साहनी को दिया जाता है, जब उन्होंने 1921 ई० में सर्वप्रथम हड़प्पा के महत्वपूर्ण अवशेषों का पता लगाया। सन् 1922 ई० में राखलदास बनर्जी ने 'मोहनजोदड़ो' की खोज की। हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ो के उत्खननों एवं संबंधित अन्य पुरास्थलों की खोज से एक समान साँस्कृतिक तत्वों की साम्यता के कारण पुरातत्वविदों ने इसे 'सिन्धु – सभ्यता' का नाम दिया। सिन्धु – सभ्यता का विस्तार उत्तर में जम्मू से लेकर दक्षिण में नर्मदा के मुहाने तक और पश्चिम में बलूचिस्तान के मकरान समुद्र तट से लेकर उत्तर – पूर्व में मेरठ तक विस्तृत था।

1.2 उद्देश्य :

इस इकाई के अध्ययन के उद्देश्य निम्नलिखित हैं –

1. विद्यार्थी सिन्धु – सभ्यता का इतिहास समझ सकेंगे।
 2. विद्यार्थी हड़प्पा के इतिहास को जान सकेंगे।
 3. विद्यार्थी मोहनजोदड़ो के इतिहास को समझेंगे।
 4. विद्यार्थी सिन्धु – सभ्यता के पुरातात्विक महत्व को समझ सकेंगे।
 5. विद्यार्थी सिन्धु – सभ्यता के विभिन्न नगरों के उत्खनन एवं प्राप्त भौतिक सामग्री के ऐतिहासिक महत्व को समझ सकेंगे।
 6. विद्यार्थी सिन्धु – सभ्यता की उत्पत्ति एवं विनाश को जान सकेंगे।
 7. विद्यार्थी सिन्धु – सभ्यता के नगर नियोजन, विज्ञान – प्रौद्योगिकी, कला, धर्म, आदि को जान सकेंगे।
 8. विद्यार्थी सिन्धु – सभ्यता की साँस्कृतिक विशेषताओं को समझ सकेंगे।
-

1.3 नगर नियोजन

सिन्धु – सभ्यता की प्रमुख विशेषता अत्यन्त सुनियोजित नगरों का निर्माण किया जाना है। सिन्धु सभ्यता नगरीय तथा व्यापार प्रधान थी। सिन्धु सभ्यता के प्रमुख नगरों की नगर योजना प्रायः समान है। सिन्धु सभ्यता के प्रमुख नगरों में सुनियोजित सड़कें, नालियों की व्यवस्था एवं सफाई व्यवस्था नगर नियोजन की प्रमुख विशेषताएँ थी। सिन्धु सभ्यता नगर प्रायः दो मुख्य भागों में विभक्त पाये गये हैं, गढ़ी क्षेत्र तथा आवासीय क्षेत्र। गढ़ी क्षेत्र, पश्चिमी टीले पर ऊँचाई पर स्थित आकार में छोटा तथा आवासीय क्षेत्र, पूर्वी टीले पर निचाई पर स्थित आकार में अपेक्षाकृत बड़ा पाया गया है। गढ़ी या दुर्ग क्षेत्र में प्रमुखतः महत्वपूर्ण संस्थान, प्रशासनिक कार्यालय आदि स्थित थे तथा प्रशासनिक प्रमुख, प्रशासनिक अधिकारी, रक्षा एवं प्रमुख सैन्य अधिकारी, पुरोहित वर्ग का निवास स्थित था। आवासीय क्षेत्र में बहु संख्यक सामान्य जन, कामगार वर्ग, शिल्पकार, व्यापारिक वर्ग निवास करता था। सिन्धु सभ्यता के प्रमुख नगरों के गढ़ी क्षेत्र प्रायः रक्षा प्राचीरों से घिरे हुए थे। धौलावीरा, कालीबंगा, लोथल, सुरकोटदा में संपूर्ण क्षेत्र रक्षा प्राचीर से घिरा हुआ था। सिन्धु सभ्यता का चन्हूदड़ों केवल एक ऐसा नगर है, जो दुर्गीकृत नहीं था।

इस उच्चकोटी की नगरीय व्यवस्था का निर्माण कुशल नगर नियोजकों एवं तकनीशियनों द्वारा ही किया गया होगा। सिन्धु सभ्यता के नगर नियोजन की आधार पीठिका सड़कें थी। जो पूर्व से पश्चिम की ओर और उत्तर से दक्षिण की ओर समकोण बनाते हुए एक – दूसरे को काटती थी। इस प्रकार प्रत्येक नगर शतरंज के खानों की तरह कई खंडों में विभक्त हो जाता था। इन खानों के खण्ड 800' ग 1200' के मापन में प्रमुखतः विभक्त होते थे। सिन्धु सभ्यता के प्रमुख नगरों की इस 'जाल पद्धति' जैसी नगर संरचना को विद्वानों ने 'ऑक्सफोर्ड सरकश' ;वगवितक बपतबेद्ध की संज्ञा दी है। डॉ० आर० सी० मजूमदार ने सिन्धु सभ्यता के नगर नियोजन के बारे में लिखा है कि, "मोहनजोदड़ो के खण्डहरों को देखकर प्राचीन नगरों के आयोजन की कारीगरी एवं सफाई प्रबंध से प्रभावित हुए बिना नहीं रहा जा सकता।" ई० जे० एस० मैके ने सिन्धु सभ्यता के नगर नियोजन के बारे में लिखा है कि, "यह आधुनिक लंकाशायर के नगर अवशेष से देखते हैं।"

1.3.1 भवन नियोजन :

सिन्धु – सभ्यता में अत्यन्त सुनियोजित तरीके से भवनों का निर्माण किया गया था। इस नगरीय सभ्यता के भवनों को साकार रूप कुशल भवन नियोजकों, तकनीशियनों एवं प्रशिक्षित कामगार द्वारा ही दिया गया

होगा। सिन्धु सभ्यता के भवनों में प्रायः आँगन, अतिथिगृह, रशोईघर, स्नानघर, शौचालय और कुँए की व्यवस्था रहती थी। यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि, मोहनजोदड़ों के भवनों में प्रायः 'कुँए' मिले हैं, पुरातत्वविदों का अनुमान है कि, मोहनजोदड़ों में करीब 700 'कुँए' रहे होंगे। किन्तु 'हड़प्पा' के घरों में एक भी 'कुँआ' नहीं मिला है। सिन्धु – सभ्यता में मकान साधारणतः सड़क के दोनों ओर निर्मित है। सिन्धु – सभ्यता के भवन मुख्यतः पक्की ईंटों के बने होते थे। ईंटे अधिकांशतः आयताकार होती थीं, जिनकी माप में लम्बाई, चौड़ाई एवं ऊँचाई का अनुपात 4 : 2 : 1 था। डॉ० आर० एस० शर्मा का कहना है कि, 'जिस समय मिस्त्र निवासी पक्की ईंटों से अनभिज्ञ थे और मेसोपोटामिया में यह प्रयोग अत्यल्प मात्रा में होता था, उस समय सिन्धु निवासी कच्ची और पक्की दोनों प्रकार की ईंटों का प्रयोग कुशलता से कर रहे थे।' सिन्धु – सभ्यता के मकान की दीवारें बहुत मोटी होती थीं। ई० जे० एस० मैके का मानना है कि, 'मकानों की दीवारों पर पलस्तर किया जाता था।' अधिकांश मकान एक मंजिल के होते थे। एक से अधिक मंजिल के मकान भी प्राप्त हुए हैं। मकानों की छत सम्भवतः लकड़ी की होती थी। मकानों की ऊपरी मंजिल पर जाने के लिए पत्थरों या ईंटों की ऊँची और तंग सीढ़ियाँ होती थी। सिन्धु – सभ्यता के दो मकानों के मध्य खाली जगह रखी जाती थी। मकानों के दरवाजे एवं खिड़कियाँ तंग गलियों में खुलते थे। किन्तु लोथल एकमात्र सिन्धु – सभ्यता का ऐसा नगर है, जिसके मकानों के दरवाजे एवं खिड़कियाँ मुख्य सड़कों की ओर खुलते थे।

मकान के द्वारों की माप प्रायः लगभग 3 फुट 4 इंच से 7 फुट 10 इंच तक होती थी। सिन्धु – सभ्यता के मकानों की नींव प्रायः कच्ची अथवा टूटी – फूटी ईंटों की भरी होती थी। मकानों की दीवारों में अलमारी का निर्माण किया जाता था। मकानों में कपड़े एवं अन्य आवश्यक वस्तुओं को टाँगने के लिए दीवारों में खूंटियों को लगाया जाता था। ये खूंटियाँ शंख, हड़डीयों एवं लकड़ी से निर्मित होती थी। मकान में रसोईघर किसी कोने में होता था, जिसका पानी सड़क की नालियों में गिरता था। स्नानगृह का फर्श प्रायः पक्की ईंटों से निर्मित होता था। फर्श मिट्टी और खड़िया के पलस्तर से निर्मित किया जाता था। भवनों में शौचालय प्रायः नीचे की मंजिल में होता था, किन्तु कहीं – कहीं दूसरी मंजिल पर भी शौचालय के प्रमाण प्राप्त हुए हैं। मकान की छतों की जल निकासी के लिए मिट्टी या लकड़ी के परनाले बनाए जाते थे।

सिन्धु – सभ्यता के भवन दो श्रेणियों व्यक्तिगत निवास गृह और सार्वजनिक एवं राजकीय भवनों में विभक्त थे। व्यक्तिगत निवास गृह प्रायः छोटे आकार के मिलते हैं। छोटे भवनों की माप लगभग 30 फुट लंबी एवं 27 फुट चौड़ी मिलती है, जिनमें छोटे – छोटे लगभग 4 – 5 कमरे होते थे। ये मकान संभवतः साधारण जनता या श्रमिक वर्ग से संबंधित हो सकते हैं। सिन्धु सभ्यता के नगर – नियोजन में सार्वजनिक एवं राजकीय भवनों का निर्माण गढ़ी वाले क्षेत्र में किया गया था। गढ़ी क्षेत्र सुरक्षा दीवार से सुरक्षित होता था तथा आम जनता से पृथक होता था, इसमें शासक वर्ग निवास करता था। मोहनजोदड़ों के गढ़ी वाले क्षेत्र में एक भवन लगभग 80 फुट लम्बा एवं 80 फुट चौड़ा मिला है, इस भवन में 20 स्तम्भ लगे हुए थे। अधिकांतः विद्वान इसे 'सार्वजनिक परिषद् सभागृह' ;मउइसल भ्ससद्ध मानते हैं। मोहनजोदड़ों में एक भवन लगभग 230 फुट लम्बा एवं 78 फुट चौड़ा मिला है, जिसकी बाहरी दीवारें 6 फुट 9 इंच तक मोटी हैं। इस भवन का आँगन लगभग 33 फुट लम्बा एवं 33 फुट चौड़ा का है। अधिकांतः विद्वान इसे 'उच्च राज्याधिकारी' अथवा 'धर्माध्यक्ष' का भवन मानते हैं। मोहनजोदड़ों के एच० आर० क्षेत्र में एक लगभग 52 फुट लम्बा एवं 40 फुट चौड़ा एक भवन मिला है, इस भवन से उत्खनन के समय एक 'दाढ़ीयुक्त पुरुष' की

बैठी हुई मूर्ति प्राप्त हुई है। व्हीलर इसे मन्दिर मानते हैं और इसके नजदीक प्राप्त लम्बी मूर्ति को पुजारी की मानते हैं।

1.3.2 विशाल अन्नागार :

सिन्धु सभ्यता के हड़प्पा के दुर्ग क्षेत्र से 'विशाल अन्नागार' प्राप्त हुआ है। विशाल अन्नागार सिन्धु सभ्यता के निवासियों की दूरदृष्टिता एवं शासन प्रबंध का अद्भुत स्मारक है। इस विशाल अन्न के संग्रहालय में आपातकाल के लिए अनाज संग्रहित किया जाता था। ज्ञातव्य रहे कि, हड़प्पा का विशाल अन्नागार सिन्धु सभ्यता का सबसे बड़ा भवन है। इस विशाल अन्नागार के परिसर में अनेक भवनों का निर्माण किया गया है, जिनमें छोटे – छोटे अनाज के संग्रहालय, श्रमिकों के निवास स्थान तथा अनाज पीसने के गोलाकार चबूतरे बने हुए हैं। हड़प्पा के दुर्ग क्षेत्र के विशाल अन्नागार को 150 फुट लम्बी एवं 200 फुट चौड़ी समतल भूमि पर निर्मित किया गया है। इस विशाल अन्नागार को 50 फुट लम्बे एवं 20 फुट चौड़े छोटे – छोटे संग्रहालयों में विभाजित किया गया है, ये छोटे – छोटे संग्रहालय छः – छः कमरों की दो पंक्तियों में बनाये गये हैं। ये छः – छः की बारह इकाइयों का संपूर्ण तलक्षेत्र लगभग 838.1025 वर्गमीटर का है। इन छः – छः की दो पंक्तियों के बीच से 23 फीट चौड़ी एक सड़क निर्मित की गयी है, जिससे अनाज का आसानी से संग्रहालयों से परिवहन हो सके। इन अनाज भंडागारों का प्रवेश द्वार 'सिन्धु नदी' की ओर खुलता था। इससे प्रतीत होता है कि, संभवतः अनाज का जल परिवहन भी होता था। मैसोपोटामिया से भी ऐसे भंडागार प्राप्त हुए हैं। विशाल अन्नागार में दक्षिण दिशा में 100 गज की दूरी पर अनाज पीसने के लिए 'गोलाकार चबूतरे' बने हुए हैं। इन गोलाकार चबूतरों के बीच में 'छेद' (गड्ढा) मिले हैं, जिनमें संभवतः अनाज डालकर पीसा जाता था। इन गोलाकार चबूतरों की दक्षिण दिशा में 56 फुट लम्बे एवं 24 फुट चौड़े अनेक भवन मिले हैं, जिनमें दो – दो कमरे मिले हैं। किसी – किसी में एक आँगन भी मिला होता है। इन भवनों के चारों आरे एक दीवार निर्मित की गयी है। पुरातत्वविद्वों की धारणा है कि, ये भवन विशाल अन्नागार में कार्य करने वाले मजदूरों के निवास के लिये बनाये गये होंगे।

1.3.3 महास्नानागार :

सिन्धु सभ्यता के मोहनजोदड़ो के दुर्ग क्षेत्र में बृहत् स्नानागार प्राप्त हुआ है। महास्नानागार सिन्धु सभ्यता की सर्वाधिक अद्भुत संरचनाओं में से एक है। मोहनजोदड़ो का महास्नानागार बाह्य (बाहरी) रूप से लगभग 180 फुट लम्बा तथा 108 फुट चौड़ा है। महास्नानागार आकार में आयताकार जलाशय है, जिसका क्षेत्रफल 39' ग 23' ग 8' का है। इसकी बाह्य (बाहरी) दीवारें लगभग 2.4 मीटर मोटी हैं। जलाशय के चारों ओर बरामदे, स्नान हेतु चबूतरे तथा अंदर पहुँचने के लिए 9 इंच चौड़ी तथा 8 इंच ऊँची सीढियाँ बनी हुई हैं। स्नानकुण्ड के अन्दर बनी अंतिम सीढ़ी 16 इंच ऊँची तथा 2 फुट चौड़ी है, जिस पर लोग बैठकर स्नान करते थे। महास्नानागार के दक्षिण – पश्चिम में छोटे – छोटे कमरे बने हैं, जोकि 9.5 फीट लम्बे तथा 6 फीट चौड़े हैं। इन कमरों में से एक कमरे में कुँआ भी था। इसमें सम्भवतः गर्म पानी का प्रबंध रहा होगा। ई० जे० एस० मैके के अनुसार, यह 'पुरोहितों' के स्नान का स्थान था। स्नानागार में प्रवेश हेतु 6 द्वार बनाए गए थे। कुण्ड के किनारे स्पदपदह वर्जिम जंदाद्ध चार फुट मोटे हैं। स्नानागार की ईंटे खड़िया मिट्टी के साथ लगाई गई हैं। स्नानागार की बाहरी दीवार पर 'गिरिपुष्पक' का एक इंच मोटा प्लास्टर किया गया था। स्नानागार की फर्श का ढाल दक्षिण – पश्चिम की ओर था। स्नानागार से जल की निकासी के लिए विशाल नालियों का निर्माण किया गया है। स्नानागार के एक कोने पर 6 फीट चौड़ी तथा 6 इंच ऊँची नाली बनी हुई है। कार्लेटन ने 'महास्नानागार की तुलना समुद्र के किनारे स्थित किसी आधुनिक होटल से की है।' ए० एल० बाशम का मानना है कि, "हिन्दू मंदिरों के जलाशय की भाँति सम्भवतः महास्नानागार का भी धार्मिक महत्व रहा होगा तथा छोटे – छोटे कक्ष महन्तों के निवास स्थान रहे

होगें।" वर्तमान हिन्दू धर्म में भी पवित्र जलाशयों में स्नान करना धर्म – कर्म का महत्वपूर्ण हिस्सा माना जाता है।

1.3.4 सड़कें :

सिन्धु सभ्यता जैसी उच्चकोटी की नगरीय सभ्यता का निर्माण कुशल नगर नियोजकों एवं तकनीशियनों द्वारा किया गया होगा। इस नगरीय सभ्यता के नगर नियोजन की आधार पीठिका सड़कें थी। नगरों की सड़कों का निर्माण सुनियोजित योजन के तहत आधुनिक व्यावसायिक शैली पर किया गया था। नगरों की सड़कें लम्बी – चौड़ी और सीधी थी, जो एक – दूसरे को समकोण पर काटते हुई पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण की ओर निर्मित की गयीं थी। सिन्धु – सभ्यता के नगरों की सड़कें प्रायः 9 फुट से 33 फुट तक चौड़ी थीं। गलियाँ 9 फुट से 12 फुट तक चौड़ी होती थी। कुछ गलियाँ 4 फुट चौड़ी मिलीं हैं। मोहनजोदड़ो में एक सड़क 9.15 मीटर चौड़ी मिली है, जो विद्वानों के अनुसार सम्भवतः 'राजपथ' थी। सिन्धु – सभ्यता के नगरों में गलियों का विशेष महत्व था, प्रायः भवनों को गलियों द्वारा मुख्य सड़क से जोड़ा गया था। सड़कें मुख्यतः कच्ची ईंटों के द्वारा निर्मित मिलीं हैं। किन्तु कालीबंगा में पक्की ईंटों द्वारा सड़कों को निर्मित करने के प्रमाण मिलते हैं। सिन्धु – सभ्यता में सड़कों की साफ – सफाई का विशेष ध्यान दिया जाता था। इसके लिए सड़कों के किनारे कूड़दान रखे होते थे या गड्ढे बने होते थे। सड़कों के किनारे भोजनाय होने के प्रमाण मिलते हैं। मोहनजोदड़ो की दो सड़कों के किनारे भोजनाय होने के प्रमाण मिले हैं।

1.3.5 नालियाँ :

सिन्धु सभ्यता में नालियों की उत्कृष्ट व्यवस्था थी। जो कि, समकालीन विश्व के नगरों में सर्वश्रेष्ठ थी। विश्व की समकालीन किसी भी सभ्यता में ऐसी 'जल निकासी' प्रणाली नहीं थी। अर्नेस्ट मैके का मानना है कि, "यह अब तक की खोजी गयी विश्व की सबसे प्राचीन प्रणाली है।" प्रायः प्रत्येक सड़क और गली के दोनों ओर पक्की नालियाँ बनाई गई थी। पक्की नालियों को बनाने में पत्थरों, ईंटों एवं चूने का प्रयोग किया गया था। नालियों की जुड़ाई और प्लास्टर में मिट्टी, चूने तथा जिप्सम का प्रयोग किया गया है। मकानों से आने वाली नालियाँ अथवा परनाले सड़क, गली की नालियों में मिल जाते थे। नालियाँ ईंटें अथवा पत्थरों से ढंकी रहती थी। नालियों को साफ करने हेतु 'मेनहोल्स' ;डंदीवसमेद्ध बनाये गये थे। नालियों में थोड़ी दूरी पर 'मलकुंड' ;वां चपजेद्ध बने थे, ताकि इन्हें साफ किया जा सके और कूड़े से पानी का बहाव न रुक सकें। डॉ० आर० एस० शर्मा का मानना है कि, 'इस प्रकार की सुव्यवस्था 18 वीं शताब्दी तक पेरिस और लन्दन के प्रसिद्ध नगरों में भी न थी।' बहुत संभव है कि, ऐसी व्यवस्था के संचालन हेतु कोई नगरीय परिषद रही हो। गार्डन चाइल्ड एवं ए० एल० बाशम का मानना है कि, 'सिन्धु प्रदेश की इस योजना को देखने से स्पष्ट होता है कि, वहाँ के प्रत्येक नगर में कोई न कोई स्थानीय सरकार अवश्य कार्य करती होगी।' किन्तु यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि, ऐसी जल निकासी प्रणाली सिन्धु सभ्यता की अनेक छोटी बस्तियों में भी विद्यमान थी।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

(प) निम्नलिखित वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर दीजिए:

1. सिन्धु सभ्यता थी ?
(क) नगरीय सभ्यता (ख) ग्रामीण सभ्यता
(ग) जनजातीय सभ्यता (घ) इनमें से कोई नहीं
2. नगरों की सड़कें एक – दूसरे को कैसे समकोण पर काटती थी ?

- (क) त्रिभुज पर (ख) चतुर्भुज पर
 (ग) समकोण पर (घ) इनमें से कोई नहीं
3. विशाल अन्नागार स्थित है ?
 (क) हड़प्पा में (ख) मोहनजोदड़ो में
 (ग) कालीबंगा में (घ) इनमें से कोई नहीं
4. महास्नानागार स्थित है ?
 (क) हड़प्पा में (ख) मोहनजोदड़ो में
 (ग) कालीबंगा में (घ) इनमें से कोई नहीं
5. सिन्धु सभ्यता का कौनसा नगर दुर्गीकृत नहीं था ?
 (क) हड़प्पा में (ख) मोहनजोदड़ो में
 (ग) कालीबंगा में (घ) चन्हूदड़ों
- (पप) निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:
1. (क) विशाल अन्नागार ।
 (ख) महास्नानागार ।
2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
 (अ) सिन्धु सभ्यता के भवन नियोजन का विवरण दीजिये ?

1.4 सैन्धव कला :

प्राचीनतम भारतीय सभ्यता के सभ्य मानवों ने उत्कृष्ट कला का सृजन किया। कला के जिस क्षेत्र में भी सिन्धु-सभ्यता के लोगों ने प्रयोग किये। उन क्षेत्रों में अपनी सर्वोच्च कलात्मक सृजनात्मकता का उदाहरण उन्होंने दिये हैं। वस्तुतः सिन्धु घाटी की सभ्यता एक परिपक्व साँस्कृतिक परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करती है। वे लोग उच्च साँस्कृतिक गतिविधियों में संलग्न रहे। उन्होंने विश्व प्रसिद्ध कलात्मक कृतियों का सृजन किया। जो अपने समकालीन सभ्यताओं में न केवल सर्वश्रेष्ठ थीं, साथ ही, विशिष्ट भी थीं।

1.4.1 प्रस्तर मूर्ति कला :

सिन्धु सभ्यता के लोगों ने प्रस्तर मूर्तिकला में सिद्धहस्त थे। सिन्धु घाटी से प्रस्तर (पत्थर) से बनी कुल तेरह लघु (छोटी) मूर्तियाँ मिली हैं, जिनमें ग्यारह मोहनजोदड़ों से तथा दो हड़प्पा से मिली है, मूर्तियों को बनाने में 'लाईम स्टोन', स्पउम, जवदमद्ध, 'अल्बेस्टर' ; संज्ञेजमतद्ध, तथा 'सेलखड़ी' जमंजपजमद्ध का प्रयोग किया गया है। मोहनजोदड़ों से प्राप्त मूर्तियों में चार में मनुष्य के सिर की आकृति, पाँच में बैठी हुई आकृति एवं दो मूर्तियाँ पशुओं की हैं। हड़प्पा से मिली दो पत्थर की मूर्तियों में एक मनुष्य (पुरुष) तथा एक स्त्री की है, डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार, ये दोनों मूर्तियाँ लगभग 4 इंच ऊँचे केवल कबंध मात्र हैं। मोहनजोदड़ों से खण्डित अवस्था में प्राप्त एक मूर्ति में पुरुष नक्काशीदार अलंकृत शाल ओढ़े हुए है। पुरुष के दाढ़ी एवं सिर के बालों को उत्कृष्ट केशसज्जा से सजाया गया है। हड़प्पा से प्राप्त तीन प्रस्तर मूर्तियों में नृत्यरत पुरुष या नारी की मूर्ति विशेष उल्लेखनीय है। मोहनजोदड़ों से संयुक्त पशु मूर्तियाँ भी मिली हैं।

1.4.2 धातु मूर्तियाँ :

सिन्धु सभ्यता वासी धातुकला में प्रवीण थे। धातु की विविध प्रकार की मूर्तियाँ उत्खनन से प्राप्त हुई हैं। उन्होंने धातुओं को मिश्रित करके कला का रूप देने में सफलता प्राप्त कर ली थी। सैन्धव वासियों ने धातु से मानव मूर्तियाँ, पशु मूर्तियाँ एवं अन्य भौतिक वस्तुओं की कलात्मक मूर्तियों का निर्माण किया। चन्हूदड़ों से काँसे की बैलगाड़ी, इक्कागाड़ी, पीतल की बतख मिली है। लोथल से ताँबे का कुत्ता, बैल, चिड़िया, खरगोश, मोहनजोदड़ों से भेड़, भैंसा, हड़प्पा से बैलगाड़ी आदि धातु मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, इनका निर्माण 'मोम सांचा विधि' से किया गया है। सैन्धव सभ्यता के अनेक स्थलों से ताँबे की मुहरें मिली हैं, जिनपर बैल, बाघ, हाथी, गैंडा आदि पशुओं के चित्र अंकित हैं। मोहनजोदड़ों से प्राप्त नर्तकी की कांस्य प्रतिमा अद्भुत है। यह मूर्ति 'मधुच्छिष्ट विधि' से बनायी गयी है। मोहनजोदड़ों से प्राप्त यह कांस्य की विश्व प्रसिद्ध नर्तकी की प्रतिमा आभूषणों से अलंकृत नगनावस्था में नृत्य की मुद्रा में है। प्रतिमा का बाँया हाथ बाँयें घुटने की ओर झुकी हुई अवस्था में घुटने से टिका है तथा कंधे से लेकर हाथों तक चूड़ियों से भरा हुआ है। दाँया हाथ कमर पर लगा हुआ है, जिसमें बाजूबंद तथा कलाई में दो-दो चूड़ियाँ अंकित हैं। मोहनजोदड़ों के डी० के० क्षेत्र में एक अन्य स्त्री कांस्य मूर्ति भी मिली है।

1.4.3 मृण्मूर्तियाँ :

सैन्धव सभ्यता से उच्चकोटि की मृण्मूर्तियाँ मिली हैं। मृण्मूर्तियाँ स्त्री – पुरुष, पशु – पक्षी, जलीय जीवों एवं खिलौनों की मिली हैं। पुरुषों की अपेक्षा स्त्री मूर्तियाँ बहुसंख्या में मिली हैं। अधिकांश मूर्तियाँ हाथ से बना कर आग से पकायी गयी हैं। स्त्री मूर्तियाँ मोहनजोदड़ों, हड़प्पा एवं चन्हूदड़ों से बहुसंख्या में मिली हैं। भारत में केवल हरियाणा के बनावली से दो स्त्री मृण्मूर्तियाँ मिली हैं। स्त्री मूर्तियाँ अलंकृत, आभूषणों से युक्त हैं। सैन्धव सभ्यता से सर्वाधिक मृण्मूर्तियाँ खिलौनों के रूप में बनी पशु-पक्षियों की हैं। पशु मृण्मूर्तियों में सर्वाधिक वृषभ प्रतिमाएँ हैं। गाय की प्रतिमा नहीं मिली है। पशुओं में बैल, ऊँट, भेड़ा, बकरा, भैंसा, कुत्ता, खरगोश, बन्दर, सुअर, भालू, हाथी, बाघ, गैंडा, गिलहरी, आदि की खिलौना प्रतिमाएँ मिली हैं। सर्प, कछुआ, घड़ियाल, मछली आदि जलीय जीवों की प्रतिमाएँ मिली हैं। पक्षियों में तोता, बतख, मुर्गा, हंस, चील, उल्लू, मोर आदि की प्रतिमाएँ मिली हैं। सैन्धव सभ्यता से खिलौने, पहिये युक्त खिलौना गाड़ियाँ, इक्के एवं सीटियाँ भी मिली हैं। सैन्धव सभ्यता के बनवाली (बनावली, हरियाणा) एवं चोलिस्तान (पाकिस्तान) से मिट्टी के हल का प्रतिरूप मिला है।

1.4.4 मुहरें :

सैन्धव सभ्यता की कला की सर्वोत्तम कलाकृतियाँ मुहरें हैं, अभी तक लगभग 3000 से अधिक मुहरें प्राप्त हो चुकी हैं, सर्वाधिक मुहरें सेलखड़ी जमजपजमद्ध से निर्मित हैं। इसके साथ ही मिट्टी, काचली मिट्टी, चर्ट, गोमेद एवं ताँबे की बनी मुहरें भी सैन्धव स्थलों से प्राप्त हुई हैं। लोथल एवं देसलपुर से ताँबे की मुहरें मिली हैं। सैन्धव सभ्यता की मुहरें आयताकार, वर्गाकार, गोलाकार, घनाकार, अण्डाकार आदि आकार में मिली हैं। सैन्धव सभ्यता में 'वर्गाकार मुहरें' सर्वाधिक मिली हैं। मुहरों पर कूबड़दार बैल, एक श्रृंगी पशु, हाथी, भैंसा, नीलगाय, बाघ, गैंडा, हिरण आदि का अंकन मिला है। सैन्धव सभ्यता की कतिपय मुहरें विशेष उल्लेखनीय हैं। नागधारी योगीश्वर शिव की आकृति, पशुओं के मध्य योगीश्वर शिव की मुद्रा, बाघ से लड़ते मानव का अंकन, सामुहिक समारोह में ढोल बजाते व्यक्ति और मनुष्यों का अंकन आदि प्रमुख मुहरें हैं। मोहनजोदड़ों से प्राप्त पशुपति शिव की मुहर पर अंकित प्रतिमा सर्वाधिक उल्लेखनीय है। इस मुहर पर पद्मासन मुद्रा पर त्रिमुखी शिव चौकी पर बिराजमान हैं तथा उनके आसपास हाथी, बाघ, गैंडा, भैंसा, हिरण

अंकित है, मुहर के ऊपर सात अक्षरों का लेख विद्यमान है। मार्शल महोदय इसे आदि शिव का प्रथम अंकन मानते हैं। सैन्धव सभ्यता में सर्वाधिक मुहरें मोहनजोदड़ों से मिली हैं।

1.4.5 मनके :

सैन्धव सभ्यता के कलाकार विश्व के उत्कृष्ट मनके निर्माता थे। लोथल एवं चन्हूदड़ा से मनके (ठमंके) बनाने के कारखाने मिले हैं। बहुत संभव है कि, लोथल एवं चन्हूदड़ा से मनके सैन्धव सभ्यता के अन्य नगरों को भेजे जाते होंगे। मनके पकी मिट्टी सेलखड़ी, हाथी दाँत, सोने – चाँदी, ताँबे, गोमेद, शंख, सीप, फायॉन्स आदि से बनाये जाते थे। सैन्धव सभ्यता से सर्वाधिक सेलखड़ी के मनके मिले हैं। घिसाई, पॉलिश एवं छेद करके मनकों से विविध आकर्षक आभूषण एवं अन्य वस्तुएँ बनायीं जाती थीं। मनकों में छेद करने के उपकरण धौलावीरा, लोथल एवं चन्हूदड़ों से प्राप्त हुए हैं। मनके अण्डाकार, बेलनाकार गोलाकार, चक्राकार, अर्द्ध – वृत्ताकार, ढोलकार आदि आकार के मिले हैं। बेलनाकार मनके सर्वाधिक प्रचलन में थे।

1.4.6 मृदभाण्ड :

सैन्धव सभ्यता के लोग मृदभाण्ड निर्माण में सिद्धहस्त थे। उन्होंने उत्कृष्ट अलंकरण एवं लिपि को मृदभाण्डों पर अंकित किया। सैन्धव सभ्यता के मृदभाण्ड चाक पर निर्मित हैं तथा इन्हें अच्छी तरह से पकाया गया है। मृदभाण्ड लाल या गुलाबी रंग के हैं, जिनके ऊपर लाल रंग का चमकदार लेप चढ़ाया गया है। उत्खनन में हड़प्पा से 14 तथा मोहनजोदड़ों से 6 भट्टे कुम्भकारों के प्राप्त हुए हैं। हड़प्पा के मृदभाण्डों पर लेख मिलते हैं। मृदभाण्डों पर पशु-पक्षियों, पेड़-पौधों, फूल-पत्तियों एवं ज्यामितीय आकृतियों से अलंकरण किया गया है। लोथल से मिले एक मृदभाण्ड पर एक वृक्ष पर मुँह में मछली पकड़े चिड़िया तथा नीचे एक लोमड़ी का अंकन उल्लेखनीय है। सैन्धव सभ्यता के पात्र-प्रकारों में थालियाँ, कलश, मटके, नाँद, तसले, घुण्डीदार ढक्कन, कुल्हड़, मर्तवान, जामदानी, हत्थेदार प्याले आदि प्रमुख हैं।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

(प) निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:

1. (क) प्रस्तर मूर्ति कला ।
(ख) मृदभाण्ड ।
2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
(अ) सैन्धव कला का विवरण दीजिये ?

1.5 सामाजिक स्थिति :

पुरातात्विक स्त्रोंतों से सिन्धु सभ्यता कालीन सामाजिक स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। सिन्धु सभ्यता के पुरास्थलों के उत्खनन से उच्च नगरीय सामाजिक जीवन शैली का ज्ञान होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि, सिन्धु सभ्यता के लोगों की तत्कालीन सामाजिक स्थिति अत्यन्त उच्च होने के कारण उनके मध्य कोई सामाजिक असमानता नहीं रही होगी।

1.5.1 सामाजिक संगठन :

सिन्धु सभ्यता कालीन समाज की सामाजिक इकाई 'परिवार' ही रही होगी। उत्खनन से प्राप्त भवन के अवशेषों से विदित होता है कि, परिवार अलग – अलग निवास करते थे। सामाजिक जीवन आर्थिक रूप से समृद्ध, सुख – सुविधा युक्त था। लोग शान्ति प्रिय थे। नारी की मूर्तियाँ बहुसंख्या में प्राप्त होने के कारण इतिहासकारों ने इसे 'मातृ – प्रधान' ;डंजतपंतबीस 'वबपमजलद्ध समाज माना है। व्यवसाय के आधार पर विद्वानों ने सिन्धु सभ्यता कालीन समाज समाज को चार भागों में बांटा है – विद्वान वर्ग, योद्धा

एवं प्रशासनिक अधिकारी वर्ग, व्यवसायी तथा श्रमजीवी वर्ग। सिन्धु सभ्यता के दुर्ग क्षेत्र में प्रमुखतः महत्वपूर्ण संस्थान, प्रशासनिक कार्यालय आदि होने के कारण प्रशासनिक प्रमुख, प्रशासनिक अधिकारी, रक्षा एवं प्रमुख सैन्य अधिकारी, पुरोहित वर्ग (प्रशासनिक सलाहाकार) का निवास करते थे। आवासीय क्षेत्र में बहु संख्यक सामान्य जन, कामगार वर्ग, शिल्पकार, व्यापारिक वर्ग निवास करता था। किन्तु निवास की यह असमानता सामाजिक नहीं थी, बल्कि यह प्रशासनिक और सुरक्षात्मक व्यवस्था रही होगी। सिन्धु सभ्यता के उत्खनन से प्राप्त मकानों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि, आज की तरह लोगों के आर्थिक जीवन में अधिक अंतर नहीं था।

1.5.2 स्त्रियों की स्थिति :

सैन्धव सभ्यता में स्त्रियों की प्रधान स्थिति का ज्ञान हम पुरातात्विक साक्ष्यों से पाते हैं। सैन्धव-स्थलों से मिट्टी एवं धातुओं की स्त्री प्रतीमाएँ बड़ी संख्या में प्राप्त हुई हैं। विद्वानों ने इसी आधार पर सैन्धव समाज को "मातृ प्रधान" समाज माना है। इस संस्कृति की स्त्रियाँ अनेक प्रकार के आभूषणों एवं प्रसाधन सामग्री का प्रचुरता से उपयोग करती थी। तत्कालीन स्त्रियाँ दर्पण, कंधी, काजल, सुरमा, सिंदूर, बालो की पिन, इत्र, पावडर तथा लिपिस्टिक का प्रयोग करती थी। जॉन मार्शल एवं मार्टीमर व्हीलर का मत है कि सैन्धव सभ्यता के देव-परिवार में मातृदेवी का स्थान सर्वश्रेष्ठ था। मोहनजोदड़ो के एच.आर. क्षेत्र से प्राप्त 14 सेमी लम्बी नर्तकी की कांस्य-मूर्ति विश्व-विख्यात है। यह विलक्षण नर्तकी प्रतिमा नृत्य, शिल्प रूप और अलंकरण सज्जा की दृष्टि से अत्यन्त मनमोहक है। सैन्धव-सभ्यता में नर्तकियों एवं देवदासियों का भी प्रमुख स्थान रहा होगा। अतः पुरातात्विक साक्ष्यों से स्पष्ट है कि सैन्धव-संस्कृति में स्त्रियों की प्रधान स्थिति रही होगी।

1.5.3 भोजन :

सिन्धु सभ्यता के निवासी शाकाहारी एवं माँसाहारी दोनों ही प्रकार का भोजन ग्रहण करते थे। सिन्धु सभ्यता के निवासियों का मुख्य आहार गेहूँ था। सिन्धु सभ्यता के निवासी जौ, फल, तरबूज, दूध – दही तथा बकरी, सुअर, गाय, बतख, घड़ियाल, मुर्गा आदि का सेवन करते थे। गार्डन चाइल्ड के अनुसार, सिन्धु सभ्यता के निवासी 'चावल' का भी सेवन करते थे। सिन्धु सभ्यता के निवासी अनाज का संग्रहण करते थे। साथ ही, राजकीय अनाज संग्रहालय भी उत्खनन से प्राप्त है। उत्खनन से अनाज को कूटने वाली ओखलियाँ एवं पीसने के लिए सिल लोड़े मिले हैं।

1.5.4 वस्त्राभूषण :

पुरातात्विक सामग्री के आधार पर स्पष्ट होता है कि, सिन्धु – निवासी साधारणतया सूती वस्त्र पहनते थे। मोहनजोदड़ों से सूती धागे के साक्ष्य मिले हैं। वे ऊनी वस्त्रों का भी प्रयोग करते थे। सिन्धु सभ्यता के उत्खनन से कपड़े सिलने की सुईयाँ मिली हैं। कतिपय मूर्तियों के अंकन के आधार पर अनुमान लगाया जा सकता है कि, सिन्धु सभ्यता के निवासी शरीर पर दो कपड़े धारण किए जाते थे। प्रथम, एक आधुनिक शाल के समान कपड़ा होता था, जिसे बाएँ कंधे के ऊपर तथा दाहिनी भुजा के नीचे से निकालकर पहनते थे। दूसरा, वस्त्र जो शरीर पर नीचे पहना जाता था, आधुनिक धोती के समान होता था। स्त्रियों एवं पुरुषों के वस्त्रों में अधिक अन्तर नहीं होता था। स्त्री – पुरुष दोनों रंग बिरंगे वस्त्रों का प्रयोग करते थे। मोहनजोदड़ों से खण्डित अवस्था में प्राप्त एक मूर्ति में पुरुष नक्काशीदार अलंकृत शाल ओढ़े हुए है। स्त्री – पुरुष दोनों नुकीली टोपी पहनते थे। सिन्धु सभ्यता के सभी वर्गों के स्त्री – पुरुष आभूषण पहने थे। पुरुष और स्त्री दोनों ही कण्ठहार, केश बंध, बाजु बंध, अंगूठी, कुण्डल, आदि पहनते थे, जबकि स्त्री – चूड़ियाँ, कर्णफूल, कमरबंद, नूपूर, नाक की कील आदि पहनती थी। उच्च वर्ग सोने, चांदी, हाथी – दांत, हीरों (मूल्यवान पत्थर) तथा निर्धन व्यक्ति तांबे, मिट्टी, सीप आदि के आभूषण पहनते थे। स्वर्ण आभूषणों के

बारे में जॉन मार्शल कहते हैं कि, "ऐसा प्रतीत होता है कि, ये आधुनिक लंदन के किसी सर्राफ की दुकान से आए हैं न कि 5000 वर्ष पूर्व किसी प्रागैतिहासिक घर से।"

1.5.5 श्रृंगार प्रसाधन :

सिन्धु सभ्यता के उच्च नगरीय सामाजिक जीवन में श्रृंगार प्रसाधनों का निश्चित रूप से बड़ा महत्व रहा होगा। हड़प्पा से काजल, श्रृंगारदान, मोहनजोदड़ों श्रृंगारदान, चन्हूदड़ों से लिपिस्टक तथा अंजनशालिका, नौसारो एवं मेहरगढ़ से स्त्रियों के सिन्दूर तथा अन्य सिन्धु सभ्यता के स्थलों के उत्खनन से प्राप्त सामग्री के आधार पर कहा जा सकता है कि, सिन्धु सभ्यता की स्त्रियाँ दर्पण, कंधी, काजल, सुरमा, लिपिस्टक, सिन्दूर, बालों की पिन, इत्र तथा पाउडर का प्रयोग करती थीं। मिट्टी, हाथी – दांत तथा धातु के श्रृंगारदान भी उत्खनन से प्राप्त हुए हैं। उत्खनन से कांसे के दर्पण तथा हाथी – दांत के कंधे मिले हैं। दर्पण साधारणतया अण्डाकार होते थे। कांसे के बने हुए रेजर भी पुरुषों द्वारा प्रयोग में लाए जाने साक्ष्य मिले हैं। मोहनजोदड़ों से खण्डित अवस्था में प्राप्त एक मूर्ति में पुरुष के दाढ़ी एवं सिर के बालों को उत्कृष्ट केशसज्जा से सजाया गया है।

1.5.6 मनोरंजन के साधन :

सिन्धु सभ्यता के स्थलों के उत्खनन से प्राप्त सामग्री के आधार पर कहा जा सकता है कि, सिन्धु सभ्यता के निवासी विविध प्रकार की खेल सामग्री का प्रयोग करते थे। सैन्धव सभ्यता से सर्वाधिक मृण्मूर्तियाँ खिलौनों के रूप में बनी पशु-पक्षियों की हैं। चन्हूदड़ों से काँसे की बैलगाड़ी, इक्कागाड़ी, पीतल की बतख मिली है। लोथल से ताँबे का कुत्ता, बैल, चिड़िया, खरगोश, मोहनजोदड़ों से भेड़, भैंसा, हड़प्पा से बैलगाड़ी आदि धातु मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। सैन्धव सभ्यता से धातु के खिलौने, पहिये युक्त खिलौना गाड़ियाँ, इक्के एवं सीटियाँ भी मिली हैं। मोहनजोदड़ों से प्राप्त नर्तकी की कांस्य प्रतिमा से संगीत – नृत्य का साक्ष्य मिलता है। इन सब उत्खनन से प्राप्त सामग्री के आधार पर कहा जा सकता है कि, सिन्धु सभ्यता के निवासी शिकार खेलने, गाने – बजाने, संगीत – नृत्य, जुएँ आदि से मनोरंजन करते होंगे। बच्चे मनोरंजन के लिए मिट्टी, लकड़ी, पत्थर एवं धातु के खिलौनों का प्रयोग करते होंगे। सिन्धु सभ्यता के निवासी आवागमन के साधन के रूप में बैलगाड़ियों, इक्के गाड़ियों, नावों एवं जहाजों आदि को प्रयोग करते थे। बहुत संभव है कि, सिन्धु सभ्यता के निवासी बैलगाड़ियों एवं नावों की दौड़ की प्रतियोगिता मनोरंजन के साधन के रूप में करते हों।

1.5.7 अस्त्र – शस्त्र :

कुठार, भाले, कटार, कुल्हाड़ी, ढेलवाँसे, छुरे आदि तीर – धनुष के नमूने कम मिले हैं। युद्ध के हथियार, जो सभी आक्रमणात्मक हैं, साधारणतः ताँबे और काँसे के बने हैं यद्यपि थोड़े से पत्थर के हथियार भी पाये गये हैं।

1.5.8 चिकित्सा एवं औषधियाँ :

कालीबंगा और लोथल के साक्ष्यों से प्रगट होता है कि, सिन्धुवासी खोपड़ी (सिर) की शल्य चिकित्सा से भी परिचित थे। औषधियों के रूप में शिलाजीत, हिरण तथा बारहसिंघे की सींग तथा पीली हरताल, समुद्रफेन का प्रयोग किया जाता था।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

(प) निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:

1. (क) मनोरंजन के साधन ।
(ख) वस्त्राभूषण ।

2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:

(अ) सिन्धु सभ्यता के सामाजिक संगठन का विवरण दीजिये ?

1.6 धार्मिक – अवस्था :

सिन्धु सभ्यता से प्राप्त पुरातात्विक सामग्री तत्कालीन धार्मिक – अवस्था पर व्यापक प्रकाश डालती है। पुरातात्विक साक्ष्यों की अपनी सीमा है जैसाकि, मार्टीमर व्हीलर का कहना है कि, पुरातात्विक साक्ष्यों से धर्म के क्रियात्मक पक्ष पर प्रकाश पड़ता है, सैद्धांतिक पक्ष पर नहीं। सिन्धु सभ्यता पुरातात्विक सामग्री से मातृदेवी, शिव, लिंग और योनि पूजा, पशु पूजा वृक्ष पूजा, जल पूजा, सूर्य पूजा आदि का ज्ञान होता है। ए० एल० बाशम का कहना है कि, 'भारतवर्ष के आदितम् सभ्य निवासी एक देवी माता तथा उर्वरणशक्ति के एक श्रृंगयुक्त देवता की उपासना किया करते थे। उनके पवित्र पादप एवं पशु थे और उनके धार्मिक जीवन में प्रत्यक्ष रूप से कर्मकाण्डी अभिषेकों का महत्वपूर्ण स्थान था।' प्रो० रोमिला थापर ने लिखा है कि, "हड़प्पावासी जनन – क्षमता के प्रतीकों – देवी माता, साँड (नंदी), शृंगमय देवता तथा पवित्र वृक्षों की पूजा करते थे और आज भी हिन्दुओं की पूजा में इनका समावेश है।"

1.6.1 मातृदेवी की पूजा :

पुरास्थलों से बड़ी संख्या में स्त्री प्रतिमाएँ प्राप्त हैं। स्त्री मृण मूर्तियाँ चार प्रकार की प्राप्त हुई हैं, नग्न स्त्री, खड़ी सुसज्जित स्त्री, बैठी स्त्री, माँ – पुत्र की मूर्तियाँ। स्त्री प्रतिमाओं में अलंकारों में ग्रैवेयक, अंगद, चूड़ियाँ तथा मेखला विशेष है। मातृदेवी की मूर्तियों में विशेषतः उर्वरता के प्रतीक चिन्ह, शिशु को गोद में लिए हुए, शिशु को दूध पिलाते हुए, स्त्री प्रतिमाओं के समक्ष पूजा आदि विशेषताओं से युक्त है। एक स्त्री के गर्भ से एक स्त्री के गर्भ से पौधा निकलता हुआ प्रदर्शित हैं। सम्भवतः यह उर्वरता की प्रतीक पृथ्वी माता है। ई० जे० एस० मैके को एक मुद्रा पर वृक्ष के नीचे एक नारी का अंकन मिला है। सम्भवतः यह मातृदेवी रही होगी। ई० जे० एस० मैके को स्त्री प्रतिमाओं पर धुएँ के निशान मिले हैं। सम्भवतः इन मूर्तियों के सामने अग्नि के दीपक या अग्निकुण्ड प्रज्वलित रहा होगा। हड़प्पा से प्राप्त एक मुहर पर एक तरफ स्त्री प्रतिमा तथा दूसरी तरफ एक पुरुष एक स्त्री की बलि देते प्रदर्शित है। मोहनजोदड़ो में एक मूर्ति मिली है, जिसके शीश पर एक पक्षी बैठा है। यदाकदा इनमें वृक्ष अथवा उदर पर विशेष उभार दिखाया गया है, मातृत्व के इन लक्षणों के आधार पर ऐसी विशेषताओं वाली मूर्तियों को मातृदेवी माना है। मार्टीमर व्हीलर एवं जॉन मार्शल का मानना है कि, सिन्धु सभ्यता के देवा परिवार में मातृदेवी का सर्वश्रेष्ठ स्थान था।

1.6.2 शिव पूजा :

शिव सिन्धु सभ्यता के प्रमुख देवता थे। अनेक पुरातात्विक साक्ष्य सिन्धु सभ्यता में शिव उपासना की पुष्टि करते हैं। मोहनजोदड़ो से प्राप्त एक मुहर पर त्रिमुखीय पुरुष पद्मासन मुद्रा में चौकी पर बैठा है, इसके सिर पर सींग हैं। योगी के बाईं ओर गैंडा, भैंसा तथा दाईं ओर हाथी, व्याघ्र एवं उसके सम्मुख एक हिरन है। योगी के ऊपर 6 शब्द लिखे हैं। विद्वानों के अनुसार मुद्रा में ऊर्ध्वलिंग भी अंकित हैं। विभिन्न विद्वानों ने इसका समीकरण भिन्न – भिन्न देवताओं से किया है, बुद्ध प्रकाश ने इसका समीकरण ऋग्वेद के 'त्वाष्ट्र' से, टी० एन० रामचन्द्रन ने इसका समीकरण ग्वेद के 'सोम' से, सालेतोरे ने इसका समीकरण अग्निदेव से किया है। किन्तु जॉन मार्शल ने इसमें शिव के 'त्रिशूलिन', 'पशुपति', तथा 'महायोगी' रूपों की पूर्व कल्पना माना है। एक अन्य मुहर पर एक शूलधारी मानवीय आकृति को वृषभ पर प्रहार करते दिखायी गयी है। व्हीलर ने इसमें शिव और दुंदुभि के संघर्ष का आभास माना है। मोहनजोदड़ो से प्राप्त एक अन्य मुहर पर श्रृंगयुक्त त्रिमुखी आकृति योगासन मुद्रा में बैठा अंकित है। मोहनजोदड़ो से प्राप्त एक अन्य मुहर पर योगासन मुद्रा में बैठी मानव आकृति अंकित है, जिसके आसपास हाथ जोड़े पुरुष खड़े हैं, तथा पुरुषों के

पीछे सर्प के फन अंकित है। अतः अनेक पुरातात्विक साक्ष्य सिन्धु सभ्यता में शिव उपासना की पुष्टि करते हैं।

1.6.3 लिंग और योनि पूजा :

सिन्धु सभ्यता में बहुसंख्या में साधारण पत्थर, लाल अथवा नीले सैण्डस्टोन, चीनी मिट्टी, सीप के लिंग मिले हैं, ये दो प्रकार के हैं फौलिक (लिंगों का शीर्षभाग गोल) एवं वीटल्स (लिंगों का शीर्षभाग नुकीला)। कुछ अत्यन्त छोटे तथा कुछ लिंग चार फीट ऊँचे हैं। डॉ० विमलचन्द्र पाण्डेय के अनुसार, 'लिंग पूजा मिस्त्र, यूनान और रोम में भी प्रचलित थी।' सिन्धु सभ्यता से पत्थर चीनी मिट्टी, सीप आदि के आधे इंच से लेकर चार इंच तक छल्ले मिले हैं। कुछ छल्लों (चक्रों) के बीच में छेद के साथ ही पेड़ों और पशुओं तथा नग्न स्त्री आकृति चित्रित है। विद्वानों ने इन्हें 'योनि पूजा' का प्रतीक माना है। डॉ० ए० डी० पुसाल्कर का मानना है कि, "शिव इस युग के प्रमुख देवता थे और उनकी उपासना लिंग तथा मानवीय दोनों रूपों में होती थी।

1.6.4 पशु पूजा :

सैन्धव सभ्यता में पशु – पूजा भी प्रचलित थी। पशुओं में कुबड़दार बैल एवं एक श्रृंगी वृषभ का अंकन बहुतायत से प्राप्त हुआ है। एम० धवलीकर के अनुसार, "कृषि में उपयोगी होने के कारण वृषभ पूज्य रहा होगा। संभवतः वृषभ पूजा सम्प्रदाय रहा होगा।" विद्वानों के अनुसार, 'गोर्क नस्ल' के वृषभ की पशु – पूजा प्रचलित थी। कुछ मुहरों पर एक सींग की आकृति, हाथी, गैंडा, गरुड़ आदि चित्रों के सामने धूपदान को दिखाया गया है। ई० जे० एस० मैके के अनुसार, "इनका धार्मिक महत्व रहा होगा।" थपल्याल और शुक्ल के अनुसार, "संयुक्त पशु आकृतियों का भी धार्मिक महत्व का रहा होगा।" एक मुद्रा पर 'नाग की पूजा' करते हुए एक व्यक्ति चित्रित है। लोथल से प्राप्त ताबीज पर एक नाग चबूतरे पर लेटा हुआ चित्रित है। ई० जे० एस० मैके के अनुसार, 'सैन्धव सभ्यता में नाग पूजा भी प्रचलित थी।'

1.6.5 वृक्ष पूजा :

सैन्धव सभ्यता में वृक्ष – पूजा प्रचलित थी। वृक्षों में पीपल, शीशम, बबूल, नीम आदि वृक्ष पवित्र माने जाते थे। मोहनजोदड़ों से प्राप्त एक मुद्रा पर दो जुड़वा पशुओं के शीश पर नौ पीपल की पत्तियाँ दिखाई गई हैं। मार्शल भी इन पत्तियों को पीपल की मानते हैं। ए० एल० बाशम के अनुसार, "एक आश्चर्यजनक मुद्रा है, जो पीपल के वृक्ष के नीचे एक श्रृंगयुक्त देवी, जिसके सामने मनुष्य के शिरोभाग वाला एक बकरा है, एक आकृति पूजार्त्त हैं और शिखायुक्त सात नारियों की एक पंक्ति है, जो सम्भवतः परिचर्या में संलग्न पुजारिणें हैं।" इससे स्पष्ट है कि, पीपल पूजा सर्वाधिक प्रचलित है।

1.6.6 जल – पूजा :

मोहनजोदड़ों से प्राप्त महास्नानागार के आधार पर विद्वानों का मानना है कि, इसका धार्मिक महत्व रहा होगा। यह सैन्धव सभ्यता में जल-पूजा का प्रमाण है। ए० एल० बाशम का मानना है कि, "हिन्दू मंदिरों के जलाशय की भाँति सम्भवतः महास्नानागार का भी धार्मिक महत्व था तथा छोटे – छोटे कक्ष महन्तों के निवास स्थान रहे होंगे।" जॉन मार्शल का भी मानना है कि, सैन्धव सभ्यता में जल-पूजा एवं नदी-पूजा की जाती होगी।

1.6.7 सूर्य पूजा :

पुरातात्विक साक्ष्य सिन्धु सभ्यता में सूर्य पूजा उपासना की पुष्टि करते हैं। कुछ मुद्राओं पर सूर्य चिन्ह स्वास्तिक, पहिया प्राप्त होता है। इसी आधार पर विद्वानों का मानना है कि, क्रीट में पाषाण स्तम्भों और स्वास्तिक चिन्हों की पूजा होती थी।

उक्त सैन्धव धर्म, आधुनिक हिन्दू धर्म से गुणों में समान रखता है। मजूमदार, रायचौधरी, दत्त का मानना है कि, “आधुनिक हिन्दू धर्म अधिक अंश में सिन्धु घाटी की संस्कृति का ऋणी है।”

1.6.8 अंतिम संस्कार :

अंतिम संस्कार धार्मिक विश्वास का अभिन्न अंग है। अंतिम संस्कार में दिवंगत आत्मा की तृप्ति और मोक्ष की कामना की जाती है। मोहनजोदड़ो, हड़प्पा, लोथल, कालीबंगा आदि स्थलों से मृतक के अंतिम संस्कार के प्रमाण मिले हैं। पुरातात्विक साक्ष्यों से सिन्धु सभ्यता के नगरों से बाहर मृतक का अंतिम संस्कार करने के प्रमाण मिले हैं। पुरातात्विक उत्खनन से अंत्येष्टि सामग्री के रूप में आभूषण, मृदभाण्ड, उपकरण एवं अन्य वस्तुएँ मिली हैं। पुरातत्वविदों को कपाल क्रिया के भी प्रमाण मिले हैं। सिन्धु सभ्यता में अंतिम संस्कार तीन प्रकार से करने के प्रमाण मिलते हैं— पूर्ण समाधीकरण (अर्थात् मृतक के संपूर्ण शरीर को दफनाना), आंशिक समाधीकरण (अर्थात् मृतक के शरीर को अग्नि में जलाकर या मृतक के शरीर को जंगली पशुओं द्वारा भक्षण करने के बाद शरीर की प्रमुख हड्डियों को दफनाना), एवं दाहकर्म (अर्थात् मृतक के संपूर्ण शरीर को अग्नि में जला देना)।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

(प) निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:

1. (क) पशु पूजा ।
(ख) अंतिम संस्कार ।
2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
(अ) सिन्धु सभ्यता की मातृदेवी एवं शिव पूजा का विवरण दीजिये ?

1.7 आर्थिक स्थिति :

पुरातात्विक स्रोत सैन्धव सभ्यता की अत्यन्त समृद्ध आर्थिक दशा की ओर इंगित करते हैं। डॉ० जयनारायण पाण्डेय ने लिखा है कि, “नगरीकरण सैन्धव सभ्यता के स्वरूप की मुख्य विशेषता थी। नगरीकरण विकसित अर्थव्यवस्था एवं जटिल आर्थिक संगठन का परिचायक है। कृषि, पशुपालन के अतिरिक्त शिल्प और व्यापार सैन्धव सभ्यता के आर्थिक जीवन के प्रमुख आधार थे। स्थानीय उपयोग से अधिक पैदावार देने वाली उन्नत एवं कारगर कृषि के द्वारा ही नगरवासियों के भरण – पोषण के लिए अनाज एवं विभिन्न शिल्पियों के लिए कच्चा माल सुलभ होता रहा होगा। नदियों के जलमार्गों एवं सड़कों के द्वारा विभिन्न क्षेत्रों के बीच व्यापारिक क्रियाकलाप होते रहे होंगे। मुहरों तथा एक जैसी बांट – माप प्रणाली का भी व्यापार के विकास में योगदान था।” सैन्धव अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ बनाने में कृषि, पशुपालन, प्रौद्योगिक, व्यापार एवं वाणिज्य आदि का योगदान था।

1.7.1 कृषि :

कृषि मुख्य व्यवसाय था। गेहूँ एवं जौ सैन्धव सभ्यता की प्रमुख फसलें थीं। सैन्धव पुरास्थलों से अभी तक नौ फसलों के साक्ष्य मिले हैं। जिनमें गेहूँ, जौ, कपास, मटर, खजूर, तिल, धान, सरसों आदि प्रमुख हैं। खरीफ की फसलों में कपास, धान और तिल तथा रबी की फसलों में जौ, गेहूँ, सरसों और मटर के साक्ष्य उपलब्ध हैं। लोथल और रंगपुर से मृदभाण्डों एवं मिट्टी में धान के छिलकों की प्राप्ति महत्वपूर्ण है। धान की एक किस्म को ‘ब्रासिका जुंसी’ की संज्ञा दी गई है। कालीबंगा से हल से जुते हुए खेत के साक्ष्य, चोलिस्तान एवं बणावली से मिट्टी के खेत जोतने के हल के खिलौने से प्रतीत होता है कि, सैन्धव सभ्यता में लोग हल से खेती करते थे। विद्वानों का मत है कि, सम्भवतः सैन्धव सभ्यता में लोग लकड़ी के हल से खेती करते थे। डॉ० जयनारायण पाण्डेय के अनुसार, ‘सम्भवतः पाषाण और ताम्र का प्रयोग खेती के लिये

किया जाता था। सैन्धव सभ्यता की गेहूँ की दो किस्में 'ट्रीटीकम कोमपैक्टम एवं ट्रीटीकम स्पैरोकम' ; ज्तपंजपबनउ बवउचंबजनउ दक ज्पेचींबतवबवबनउद्ध आज भी पंजाब में उत्पन्न होती है। ए० एल० बाशम के अनुसार, "इस समृद्धशाली कृषि व्यवस्था के आधार पर हड़प्पा – निवासियों ने अकाल्पनिक परन्तु सुखदायी सभ्यता का निर्माण किया था।" सैन्धव सभ्यता में कृषि मजदूरी में क्या दिया जाता था? यह तो ज्ञात नहीं है किन्तु, मेसोपोटामिया में कृषि मजदूरी में 'जौ' दिया जाता था। सैन्धव सभ्यता के पुरास्थलों से अन्नागारों की प्राप्ति यह बताती है कि, सैन्धव निवासियों के लिए कृषि कितनी महत्वपूर्ण थी।

1.7.2 पशुपालन :

पशुपालन सिन्धुवासियों के आर्थिक जीवन का द्वितीय महत्वपूर्ण आधार था। बैल, बकरी, गाय, भेड़, भैस, कुत्ता, बिल्ली, ऊँट, सुअर आदि का पशुपालन किया जाता था। डॉ० आर० एस० शर्मा के अनुसार, "गुजरात में बसे हड़पाई लोग चावल उपजाते थे और हाथी पालते थे, ये दोनों बातें मेसोपोटामिया के नगरवासियों के बारे में नहीं है।"

1.7.3 प्रौद्योगिकी :

प्रौद्योगिक दृष्टि से भी सिन्धुवासी उन्नत अवस्था थे। वे विश्व के सूत काटने तथा कपड़े बुनने वाले प्रथम लोग थे, उन्हें कपड़े रंगने का भी ज्ञान था। दयाराम साहनी को हड़प्पा से चाँदी के एक कलश के भीतर रखा हुआ कपड़े का एक टुकड़ा मिला था। ई० जे० एस० मैके को उत्खनन से अनेक वस्तुओं में लिपटे हुए सूत के धागे मिले थे। मृद्भाण्ड चॉक पर निर्मित है। मुख्यतः रेड ऐण्ड ब्लैक वेयर प्राप्त होता है। हड़प्पा के चमकीले मृदमाण्ड सर्वाधिक पुराने माने जाते हैं। सैन्धव सभ्यता से धातुओं की बनी विभिन्न वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं। सैन्धव सभ्यता के निवासी स्वर्ण के आभूषणों को बनाने में सिद्धहस्त थे। स्वर्ण आभूषणों के बारे में जॉन मार्शल कहते हैं कि, "ऐसा प्रतीत होता है कि, ये आधुनिक लंदन के किसी सर्राफ की दुकान से आए हैं न कि 5000 वर्ष पूर्व किसी प्रागैतिहासिक घर से।" मोहनजोदड़ों से ताँबे का गला हुआ एक ढेर मिला है। एस० आर० राव के अनुसार, "यहाँ ताम्रकारों की एक बस्ती थी।" ताँबे के छेनी, बर्मा, दुधारू, चाकू, पीतल का एक चाकू, एकके खिलौने मछली पकड़ने के काँटे, सीने की सुईयों तथा विभिन्न प्रकार के आभूषण मिले हैं। चन्हूदड़ों एवं लोथल से मनके बनाने का कारखाना मिला है। मूर्तिकला में मोहनजोदड़ों से प्राप्त काँसे की नर्तकी की मूर्ति एवं मिट्टी की मूर्तियाँ शिल्पकला की उत्कृष्टता की द्योतक है। बेलनाकार, आयताकार, वर्गाकार एवं वृत्ताकार मुहरें आदि अनेक तथ्य सैन्धव प्रौद्योगिकी का लोहा मनवाने के लिए पर्याप्त है। मोहनजोदड़ों से सीप की एक टूटी पट्टी (पटरी) मिली है, इस पर नौ बराबर भाग बने हुए हैं। लोथल से हाथी दाँत की पट्टी (पटरी) मिली है। ई० जे० एस० मैके के अनुसार, सिन्धु प्रदेश में पट्टी (पटरी) 13.2 इंच की होती थी। उत्खनन से पत्थर के घनाकार, बेलनाकार, शंक्वाकार एवं ढोलाकार आकृति के बाँट मिले हैं। इनकी तौल शुद्धता आश्चर्यजनक है। तौलने की इकाई सम्भवतः 16 के अनुपात में थी, जैसे 16, 64, 160, 320, 640 आदि। उत्खनन में मोहनजोदड़ों तथा लोथल से हाथी दाँत के बने हुए तराजू के पलड़े प्राप्त हुए हैं। जॉन मार्शल के अनुसार, "सूसा और ईराक के प्राचीन बाँटों में भी यह विशेषता नहीं है।"

1.7.4 व्यापार – वाणिज्य :

सैन्धव सभ्यता व्यापार एवं वाणिज्य प्रधान थी। सिन्धुवासियों का व्यापार एवं वाणिज्य उन्नत दशा में था। सैन्धव सभ्यता में नदियों के जलमार्गों एवं सड़कों के द्वारा विभिन्न क्षेत्रों के बीच व्यापारिक क्रियाकलाप होते रहे होंगे। अर्थात् व्यापार जल एवं थल दोनों मार्गों से होता था। हड़प्पा एवं चन्हूदड़ों से 'कांसे' की बैलगाड़ियाँ, गाड़ीवान सहित प्राप्त हुई हैं। सामुद्रिक व्यापार की पुष्टि पुरातात्विक स्रोतों से स्पष्ट है। लोथल से बंदरगाह के प्रमाण तथा मुहरों पर जहाजों एवं नावों के चित्रण से सुदूर देशों के साथ सामुद्रिक व्यापार

की पुष्टि होती है। सिन्धुवासियों के व्यापार एवं वाणिज्य के पुरातात्विक साक्ष्य मध्य एशिया में दजफा – फरात, फारस की खाड़ी मेसोपोटामिया, इजिप्त, सोवियत दक्षिणी तुर्कमेनिया आदि से प्राप्त है। मेसोपोटामिया के सुमेरीय शासक सारगोन (2371 – 2316 ई० पू०) के समय के अभिलेखों में सिन्धु प्रदेश को 'मेलुहा' कहा गया है। मेसोपोटामिया के अभिलेख 'मेलुहा' को नाविकों का देश कहते हैं। सिन्धु सभ्यता के लोग कई वस्तुओं यथा – सूती – वस्त्र, इमारती लकड़ी, मशाले, हाथी दाँत, पशु – पक्षी, मनके आदि का निर्यात करते थे। सैन्धवासी सोना – कर्नाटक (कोलार), अफगानिस्तान, फारस से, चाँदी – अफगानिस्तान, ईरान से, ताँबा – खेतड़ी (राजस्थान) बलूचिस्तान से, टिन – मध्य एशिया, अफगानिस्तान से, सीसा – राजस्थान, दक्षिणी भारत, अफगानिस्तान, ईरान से, गोमेद – सौराष्ट्र (गुजरात) से, जुवमणि – महाराष्ट्र से, संगयशब – पामीर से, फिरोजा – ईरान (खुरासान) से, लाजवर्ण – अफगानिस्तान (बदकशाँ), मेसोपोटामिया आदि से आयात करते थे।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

(प) निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:

1. (क) व्यापार – वाणिज्य ।
(ख) कृषि ।
2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
(अ) सिन्धु सभ्यता की प्रौद्योगिकी का विवरण दीजिये ?

1.8 राजनीतिक – दशा :

पुरातात्विक साक्ष्य सैन्धव सभ्यता की राजनीतिक – दशा के बारे में मौन हैं। सैन्धव सभ्यता की सांस्कृतिक एकता में एकरूपता सभी क्षेत्रों में स्पष्ट है, यथा, – मृद्भांड के स्वरूप, चर्ट – फलक, घनमाप, पक्की मिट्टी की पिंडिका (टेराकोटा केक), कंगन, पशु – मूर्तियाँ ताम्र और कांस्य उपकरण, उत्कीर्ण सीलें, सेलखड़ी, मनके ईट की माप आदि। सुदूर व्यापार के साक्ष्य तो इसको और भी सुदृढ़ करते हैं। ऐसी सांस्कृतिक एकता किसी केन्द्रित सत्ता के बिना संभव नहीं हुई होगी। यदि हड़प्पाई सांस्कृतिक अंचल को राजनैतिक अंचल का अभिन्न अंग मानें, तो इस उपमहाद्वीप ने मौर्य साम्राज्य की स्थापना से पूर्व इतनी बड़ी राजनैतिक इकाई कभी नहीं देखी। जोकि 600 वर्षों तक निरंतर कायम रही। डॉ० विमलचन्द्र पाण्डेय के अनुसार, "केन्द्रीय सत्ता का विकेन्द्रीकरण कर दिया गया था। कदाचित् केन्द्रीय शासन की ओर से अनेक पदाधिकारी भिन्न – भिन्न नगरों में शासन करते थे।" मैके एवं ए० एल० बाशम का मानना है कि, सैन्धव सभ्यता में जनतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था रही होगी। प्रो० पीगेट एवं अन्य कतिपय विद्वानों का मानना है कि, मिस्र एवं मेसोपोटामिया की तरह पुरोहित वर्ग का शासन रहा होगा। वहीं, डॉ० आर० एस० शर्मा का मानना है कि, मिस्र और मेसोपोटामिया के नितान्त विपरीत किसी भी हड़प्पाई स्थल पर मंदिर नहीं पाया गया है। हड़प्पा अंचल में धार्मिक विश्वासों और आचारों में एकरूपता नहीं है। इसलिए ऐसा सोचना गलत है कि हड़प्पा में पुरोहितों का वैसा ही शासन था जैसा कि निचले मेसोपोटामिया के नगरों में था। शायद हड़प्पाई शासकों का ध्यान विजय की ओर उतना नहीं था जितना वाणिज्य की ओर और हड़प्पा का शासन सम्भवतः वणिक् वर्ग के हाथ में था। किन्तु जब तक कोई ठोस प्रमाण नहीं मिल जाता, तब तक सैन्धव सभ्यता की राजनीतिक – दशा के बारे में केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
(अ) सैन्धव सभ्यता की राजनीतिक – दशा का विवरण दीजिये ?

1.9 सारांश

सिन्धु घाटी की सभ्यता एक परिपक्व साँस्कृतिक परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करती है। सिन्धु घाटी के लोग उच्च साँस्कृतिक गतिविधियों में संलग्न रहे। सैंधव कारीगरों ने वास्तुकला, मूर्तिकला एवं नगर जन – जीवन के उच्च प्रतिमानों को गढ़ने में महारत हासिल कर ली थी। उन्होंने सुनियोजित नगरों, उत्कृष्ट भवन नियोजन, महास्नानागार एवं विशाल अन्नागार जैसे अद्भुत स्मारकों का निर्माण किया। साथ ही, सिन्धु सभ्यता के लोगों ने समकालीन विश्व की सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वप्रथम 'जल निकासी' प्रणाली का विकास किया। उन्होंने विश्व प्रसिद्ध कलात्मक कृतियों का सृजन किया। जो अपने समकालीन सभ्यताओं में न केवल सर्वश्रेष्ठ थीं, साथ ही, विशिष्ट भी थी। सिन्धु सभ्यता के लोगों ने समतामूलक उच्च नगरीय सामाजिक जीवन शैली की प्रतिष्ठा की। सिन्धु सभ्यता के सभ्य निवासी जनन – क्षमता के प्रतीकों एवं प्रकृति के उपासक थे। आधुनिक हिन्दू धर्म अधिक अंश में सिन्धु घाटी की संस्कृति का ऋणी है। सिन्धु सभ्यता के लोगों सभ्य निवासियों ने विकसित नगरीकरण अर्थव्यवस्था एवं जटिल आर्थिक संगठन का निर्माण किया। वे विश्व के सूत काटने तथा कपड़े बुनने वाले प्रथम लोग थे। उनका व्यापार एवं वाणिज्य संपूर्ण देश में ही नहीं अपितु सुदूर देशों में भी फैला हुआ था।

1.10 तकनीकी शब्दावली

1. मृण्मूर्तियाँ – मिट्टी की मूर्तिया
 2. मनका – छेद युक्त गोल गुरिया
 3. फायॉन्स – घिसी हुई रेत(बालू) तथा रंगएवं चिपचपे पदार्थ के मिश्रण को पका कर बनाया गया पदार्थ
 4. अंत्येष्टि – मृतक का अंतिम संस्कार
 5. चॉक – कुम्हार द्वारा प्रयुक्त गोल पहिया जिसको घुमाकर मिट्टी मटके और बर्तन बनाये जाते थे।
 6. मुहरें – मुद्रा (मंस) जिनका प्रयोग विशेष चिन्ह (निशान) के रूप में होता था।
-

1.11 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

इकाई 1.3 के स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

(प) निम्नलिखित वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर दीजिए:

1. देखिए 1.3 नगर नियोजन
2. देखिए 1.3.4 सड़कें
3. देखिए 1.3.2 विशाल अन्नागार
4. देखिए 1.3.3 महास्नानागार
5. देखिए 1.3 नगर नियोजन

(पप) निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:

1. (क) देखिए 1.3.2 विशाल अन्नागार
(ख) देखिए 1.3.3 महास्नानागार
2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
(अ) देखिए 1.3.1 भवन नियोजन

इकाई 1.4 के स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

(प) निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:

1. (क) देखिए 1.4.1 प्रस्तर मूर्ति कलाँ
(ख) देखिए 1.4.6 मृदभाण्ड
2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
(अ) देखिए 1.4 सैन्धव कला

इकाई 1.5 के स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

- (प) निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:
1. (क) देखिए 1.5.6 मनोरंजन के साधनँ
(ख) देखिए 1.5.4 वस्त्राभूषण
 2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
(अ) देखिए 1.5.1 सामाजिक संगठन

इकाई 1.6 के स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

- (प) निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:
1. (क) देखिए 1.6.4 पशु पूजा
(ख) देखिए 1.6.8 अंतिम संस्कार
 2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
(अ) देखिए 1.6.1 मातृदेवी एवं 1.6.2 शिव पूजा

इकाई 1.7 के स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

- (प) निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:
1. (क) देखिए 1.7.4 व्यापार – वाणिज्य
(ख) देखिए 1.7.1 कृषि
 2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
(अ) देखिए 1.7.3 प्रौद्योगिकी

इकाई 1.8 के स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
(अ) देखिए 1.8 राजनीतिक – दशा

1.12 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. आल्चिन, आर० एण्ड बी० – ऑरिजिंस ऑफ ए सिविलाईजेशन, 1997
2. अग्रवाल, वासुदेवशरण – भारतीय कला, 1987
3. बाशम, ए० एल० – अद्भुत भारत, 1987
4. मार्शल, जॉन – मोहनजोदड़ो एण्ड द इंडस सिविलाईजेशन, 1931
5. मैके, अर्नेस्ट – फर्दर एक्सकैवेशन्स एट मोहनजोदड़ो, 1937
6. मैके, अर्नेस्ट – अर्ली इंडस सिविलाईजेशन, 1948
7. पोसल, जी०एस० – द इंडस सिविलाईजेशन, 2003
8. व्हीलर, आर०ई०एम० – माई आर्कियोलॉजिकल मिशन टू इंडिया एण्ड पाकिस्तान, 1976

1.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. ओमप्रकाश – प्राचीन भारत का इतिहास, नई दिल्ली, 1986
2. ज्ञा एवं श्रीमाली – प्राचीन भारत का इतिहास, दिल्ली, 2000

3. मिश्र, आर० एन० – भारतीय मूर्तिकला का इतिहास, नई दिल्ली, 2002
4. मजूमदार, रायचौधरी, दत्त – भारत का बृहत, इतिहास, खण्ड 1, नई दिल्ली, 1970
5. मजूमदार, रमेशचन्द्र – प्राचीन भारत, दिल्ली, 1973
6. महाजन, विद्याधर – प्राचीन भारत का इतिहास, नई दिल्ली, 2008
7. पाण्डेय, विमल चन्द्र – प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, भाग 1, इलाहाबाद, 1998
8. पाण्डेय, जयनारायण – पुरातत्व विमर्श, इलाहाबाद, 2000
9. श्रीवास्तव, के० सी० – प्राचीन भारत का इतिहास एवं संस्कृति, इलाहाबाद, 20076
10. शर्मा, आनन्द कुमार – भारतीय संस्कृति एवं कला, नई दिल्ली, 2011
11. शर्मा, रामशरण – प्रारंभिक भारत का परिचय, नई दिल्ली, 2009
12. त्रिपाठी, आर० एस० – प्राचीन भारत का इतिहास, बनारस, 1998
13. वाजपेयी, कृष्णदत्त – भारतीय वास्तुकला का इतिहास, लखनऊ, 1990

1.14 निबंधात्मक प्रश्न

- प्रश्न 1. सिन्धु सभ्यता की साँस्कृतिक विशेषताओं पर प्रकाश डालिये ?
- प्रश्न 2. सिन्धु सभ्यता की आर्थिक स्थिति का विस्तृत रूप से विवरण दीजिये ?
- प्रश्न 3. सिन्धु सभ्यता की धार्मिक स्थिति का विस्तृत रूप से विवरण दीजिये ?
- प्रश्न 4. सिन्धु सभ्यता के नगर नियोजन पर प्रकाश डालिये ?

इकाई-दो : वैदिक संस्कृति

इकाई की रूपरेखा

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 पूर्व वैदिक कालीन संस्कृति

2.3.1 सामाजिक जन – जीवन

2.3.1.1 परिवार

2.3.1.2 वर्ण – व्यवस्था

2.3.1.3 विवाह

2.3.1.4 स्त्रियों की स्थिति

2.3.1.5 वस्त्राभूषण

2.3.1.6 भोजन

2.3.1.7 मनोरंजन के साधन

2.3.1.8 शिक्षा

2.3.2 आर्थिक जीवन

2.3.2.1 कृषि एवं पशुपालन

2.3.2.2 व्यवसाय

2.3.2.3 व्यापार – वाणिज्य

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

2.3.3 धार्मिक – अवस्था

2.3.4 राजनीतिक स्थिति

2.3.5.1 प्रशासनिक व्यवस्था

2.3.5.1.1 राजा (राजन्)

- 2.3.5.1.2 पुरोहित
- 2.3.5.1.3 सेनापति या सेनानी
- 2.3.5.1.4 ग्रामणी
- 2.3.5.1.5 सभा और समिति
- 2.3.5.1.6 विदथ (विधाता)
- 2.3.5.1.7 न्याय – व्यवस्था

2.4 उत्तर वैदिक कालीन संस्कृति

2.4.1 सामाजिक व्यवस्था

- 2.4.1.1 वर्ण – व्यवस्था
- 2.4.1.2 आश्रम व्यवस्था
- 2.4.1.3 परिवार
- 2.4.1.4 विवाह
- 2.4.1.5 स्त्रियों की स्थिति
- 2.4.1.6 मनोरंजन के साधन
- 2.4.1.7 खानपान
- 2.4.1.8 शिक्षा
- स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

2.4.2 आर्थिक स्थिति

2.4.2.1 कृषि एवं पशुपालन

- 2.4.2.2 लघु – उद्योग एवं व्यवसाय
- 2.4.2.3 व्यापार – वाणिज्य
- स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

2.4.3 धार्मिक स्थिति

- स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

2.4.4 राजनीतिक स्थिति

2.4.4.1 सभा – समिति

2.4.4.2 न्याय – व्यवस्था

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

2.5 सारांश

2.6 तकनीकी शब्दावली

2.7 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

2.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

2.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

2.10 निबंधात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

वैदिक कालीन संस्कृति, भारतीय संस्कृति के इतिहास के पन्नों में अंकित गौरवशाली अध्याय है। वेद भारतीय संस्कृति के ज्ञान के आदितम् स्रोत है। वेद भारतीय साहित्य की प्राचीनतम कृति है। वेदों की संख्या चार हैं – ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद एवं अथर्ववेद। सबसे प्राचीन वेद ऋग्वेद है। ऋग्वेद में 10 मण्डल, 1028 सूक्त तथा 10,580 ऋचाएँ हैं। ऋग्वेद से प्राचीन आर्यों के सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक जीवन की विस्तृत जानकारी मिलती है। सामवेद ऐसा वेद है, जिसके मंत्र यज्ञों में देवताओं की स्तुति करते हुए गाये जाते थे। यह ग्रंथ तत्कालीन भारत की गायन विद्या का श्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तुत करता है। सामवेद में 1549 ऋचाएँ हैं। सामवेद 75 ऋचाएँ ही मौलिक है, शेष ऋग्वेद से ली गई हैं। यजुर्वेद में अनेक प्रकार की यज्ञ – विधियों का वर्णन किया गया है। अथर्ववेद, इस वेद की रचना अथर्वा ऋषि ने की थी, इसीलिए इसे 'अथर्ववेद' कहते हैं। इसकी रचना लगभग 800 ई० पू० में हुई। 'अथर्ववेद' में 20 मण्डल, 731 सूक्त तथा 5849 ऋचाएँ हैं। 'अथर्ववेद' में 1200 ऋचाएँ ऋग्वेद से ली गई हैं। 'अथर्ववेद' से उत्तर वैदिक कालीन भारत की पारिवारिक, सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन की विस्तृत जानकारी मिलती है। वेदों से वैदिक कालीन संस्कृति की आधारभूत जानकारी मिलती है। वैदिक संस्कृति को दो भागों में बांटा गया है – पूर्व वैदिक कालीन संस्कृति एवं उत्तर वैदिक कालीन संस्कृति।

2.2 उद्देश्य :

इस इकाई के अध्ययन के उद्देश्य निम्नलिखित हैं –

9. विद्यार्थी वैदिक कालीन संस्कृति का इतिहास समझ सकेंगे।
 10. विद्यार्थी वैदिक कालीन सामाजिक स्थिति को जान सकेंगे।
 11. विद्यार्थी वैदिक कालीन आर्थिक स्थिति को समझेंगे।
 12. विद्यार्थी वैदिक कालीन धार्मिक स्थिति को जान सकेंगे।
 13. विद्यार्थी वैदिक कालीन राजनीतिक स्थिति को समझ सकेंगे।
 14. विद्यार्थी पूर्व वैदिक काल एवं उत्तर वैदिक काल को समझ सकेंगे।
 15. विद्यार्थी पूर्व वैदिक कालीन संस्कृति एवं उत्तर वैदिक कालीन संस्कृति के विकास एवं परिवर्तन को समझ सकेंगे।
 16. विद्यार्थी वैदिक कालीन ग्रंथों के बारे में जानेगे।
-

2.3 पूर्व वैदिक कालीन संस्कृति :

पूर्व वैदिक काल से तात्पर्य उस काल से है, जिसमें ऋग्वेद की रचना हुई थी। ऋग्वेद का रचना काल 1500 – 1000 ई० पू० माना जाता है। अतः पूर्व वैदिक कालीन संस्कृति की तिथि 1500 – 1000 ई० पू० है। पूर्व वैदिक काल सभ्य समाज के निर्माण का प्रारंभिक काल था। पूर्व वैदिक कालीन आर्य प्रकृति के सानिध्य में रहते थे। प्रकृति के सानिध्य में आर्य संस्कृति का क्रमिक विकास हुआ। प्रकृति ने ही धार्मिक भावनाओं का अंकुरण आर्यों में किया। पूर्व वैदिक काल में आर्यों ने शनैः-शनैः समृद्ध 'ग्राम प्रधान' समाज का निर्माण किया। शनैः-शनैः पशुपालन, कृषि एवं अन्य व्यवसायों का क्रमिक विकास हुआ। पूर्व वैदिक काल में ही आर्यों की राजनैतिक संस्थाओं का क्रमिक विकास हुआ।

2.3.1 सामाजिक जन – जीवन :

पूर्व – वैदिक (ऋग्वैदिक) आर्यों का सामाजिक जन – जीवन सुसंगठित एवं व्यवस्थित था। पूर्व – वैदिक (ऋग्वैदिक) आर्यों के 'ग्राम प्रधान' समाज में सभी लोग समानता के साथ ग्रामीण परिवेश में एक साथ घुल मिलकर रहते थे। आर्यों ने अपनी व्यक्तिगत और खाद्य सुरक्षा को दृष्टिगत रखते हुए सामूहिक जन – जीवन को अपनाया। पूर्व – वैदिक (ऋग्वैदिक) आर्यों के 'ग्राम प्रधान' समाज की सबसे छोटी इकाई 'परिवार' थी।

2.3.1.1 परिवार :

पूर्व – वैदिक कालीन समाज की आधारभूत इकाई 'कुल' (परिवार) थी। परिवार 'पितृसत्तात्मक' होता था अर्थात् परिवार का सर्वाधिक आयु का पुरुष 'मुखिया' होता था, जिसे 'कुलप' या 'गृहपति' कहा जाता था। डॉ० डी० एन० झा एवं श्रीमाली का मत है कि, 'पशुचारण की प्रधानता ने 'पितृसत्तात्मक' सामाजिक संरचना के निर्माण में सहायता दी। ऋज्जाश्व एवं दिवालिए जुआरी के दृष्टांत परिवार पर पुरुष मुखिया के पूर्ण नियंत्रण के प्रतीक हैं।' अतः पूर्व – वैदिक कालीन परिवार में पिता के अधिकार असीमित थे। पूर्व – वैदिक कालीन समाज में 'संयुक्त परिवार' व्यवस्था थी। परिवार की संपन्नता का मापदण्ड परिवार की 'वृहदता' थी। ऋग्वेद में 'नृप्त' शब्द का प्रयोग अनेक स्थानों पर हुआ है। 'नृप्त' शब्द भतीजे, भाई, पिता, बहन, पुत्र, पुत्री आदि के लिए प्रयोग किया जाता था। ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर ईश्वर से पुत्र प्राप्ति की कामना की गयी है। डॉ० आर० एस० शर्मा का मानना है कि, "निरन्तर युद्ध में लगे पितृसत्तात्मक समाज में लोग हमेशा वीर

पुत्रों की प्राप्ति के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते थे। ऋग्वेद में बेटी के लिए कामना नहीं है किन्तु, उसके साथ बहुत अच्छा और समानता का व्यवहार किया जाता था।" परिवार में गृह – पत्नि का विशिष्ट महत्व एवं आदर था। ऋग्वेद में लिखा है कि, पति के साथ समान रूप से यज्ञ में सहयोग करती थी – "या दम्पति सुमनसा आ च धावतः। देवा सो नित्यया शिरा।" पूर्व – वैदिक कालीन समाज में गोद लेने की प्रथा थी। पूर्व – वैदिक कालीन ग्रामों की संयुक्त परिवार व्यवस्था में परिवार के सभी सदस्य एक साथ एक ही मकान में रहते थे, उनके मकान मिट्टी, लकड़ी और घास-फूस के बने होते थे। जैसाकि, मजूमदार, रायचौधरी, दत्त का मानना है कि, ऋग्वैदिक कालीन 'ग्राम प्रधान' समाज में घरों का निर्माण अनुमानतः लकड़ी या नरकट से होता था। प्रत्येक घर में एक बैठक और स्त्रियों के लिए कमरों के अतिरिक्त एक अग्निशाला होती थी।

2.3.1.2 वर्ण – व्यवस्था :

पूर्व – वैदिक कालीन समाज में प्रारंभिक समय में वर्ण व्यवस्था का कोई अस्तित्व नहीं था। प्रारंभिक समय में पूर्व – वैदिक कालीन समाज आर्य और अनार्य दो वर्गों में विभक्त था। किन्तु इनके लिए 'वर्ण' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में नहीं किया गया है। आर्यों द्वारा जीते गए दास और दस्यु के लिए अनार्य शब्द का प्रयोग किया जाता था। ऋग्वेद में आर्य और अनार्यों के मध्य रंग और शारीरिक संरचना के आधार पर विभेद का वर्णन मिलता है। श्वेत वर्ग आर्य और कृष्ण वर्ग अनार्यों का था। ऋग्वेद में ब्रह्म, क्षत्र और विश का अनेक बार उल्लेख मिलता है। 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग पुरोहित वर्ग, शैक्षणिक एवं धार्मिक क्रियाकलापों में लगे लोगों के लिए किया जाता था। 'क्षत्र' शब्द का प्रयोग राजन्य, राजकाज एवं सुरक्षा में लगे लोगों के लिए किया जाता था। 'विश' शब्द का सभी प्रयोग सामान्य लोगों के लिए किया जाता था। एक ही परिवार में ब्रह्म, क्षत्र और विश तीन वर्गों के लोग हो सकते थे या यूँ कहें कि, एक ही पिता की संतानें तीन वर्गों ब्रह्म, क्षत्र और विश हो सकती थी। ऋग्वेद के 9 वें मण्डल की 112 वीं ऋचा वर्णित है कि, 'एक व्यक्ति कहता है मैं कवि हूँ, मेरे पिता एक वैद्य थे, मेरी माता आटा पीसती है। हम सभी धन और पशु की कामना करते हैं।' यह उल्लेख मनुष्य के व्यवसाय चुनाव की स्वतंत्रता और एक ही परिवार में विविध वर्गों के होने को प्रदर्शित करता है। पूर्व – वैदिक कालीन समाज में 'शूद्र' शब्द का प्रयोग प्रचलित नहीं था। मूल संहिता (ऋग्वेद) में 'शूद्र' शब्द का प्रयोग नहीं था। संभवतः इसे बाद में जोड़ा गया होगा। बहरहाल, चतुर्थ वर्ग 'शूद्र' ऋग्वेद के अंत में 'दशवे मंडल' के 'पुरुष सूक्त' में दिखायी देता है। जहाँ वर्णित हैं –

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।

उरुतदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शुद्रोऽजायत् ॥

ऋग्वेद में मात्र एक बार 'शूद्र' शब्द का प्रयोग हुआ है। पूर्व – वैदिक कालीन समाज में अन्तर्जातीय विवाह, व्यवसाय परिवर्तन और सहभोज पर कोई नियंत्रण और प्रतिबंध नहीं था। मजूमदार, रायचौधरी, दत्त के मतानुसार, 'व्यवसाय सहभोज आदि संबंधी दृढ प्रतिबंधों की उत्पत्ति आर्यों से नहीं, अपितु यह द्रविड़ों के पूर्व भारत के टोटेम – प्रधान ऑस्ट्रेलवायड जाति के पूर्वजों और ऑस्ट्रो – एशियाई लोगों से है।'

2.3.1.3 विवाह :

पूर्व – वैदिक कालीन समाज में विवाह एक पवित्र संस्कार माना जाता था। विवाह एक आवश्यक संस्कार माना जाता था, क्योंकि लौकिक एवं पारलौकिक शांति के लिए पुत्रों की आवश्यकता समझी जाती थी। ऋग्वैदिक कालीन समाज में विवाह के दो प्रमुख संस्कार 'पाणिग्रहण' एवं 'अग्नि परिक्रमा' थे। ऋग्वेद में

‘सपिण्ड’, ‘सप्रवर’ शब्द नहीं मिलते। ऋग्वैदिक कालीन समाज में भाई – बहिन का विवाह निषिद्ध था। जैसाकि, ऋग्वेद में यम – यमी संवाद से स्पष्ट है। पूर्व – वैदिक कालीन समाज में बाल – विवाह प्रचलित नहीं था। लड़कियों इच्छानुसार पति चुनने के लिए स्वतंत्र थी। डॉ० आर० एस० शर्मा का मत है कि, 16 – 17 वर्ष की आयु में विवाह होता था। कतिपय विद्वानों का मानना है कि, पूर्व – वैदिक कालीन समाज में विवाह की आयु 16 – 20 वर्ष के मध्य रही होगी। क्योंकि, यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि, संपूर्ण ऋग्वेद ऐसे अनेक साक्ष्य प्रस्तुत करता है, जिसमें लड़कियों के युवा होने पर विवाह के संकेत है। पूर्व – वैदिक कालीन समाज में ‘एकपत्नी प्रथा’ आदर्श रूप में प्रतिष्ठित थी। हालाँकि, बहु – विवाह तथा बहु पत्नी प्रथा भी समाज में विद्यमान थी। बहु – विवाह तथा बहु पत्नी प्रथा संभवतः प्रशासनिक और राजकीय वर्गों में प्रचलित रही होगी। समाज में पुनर्विवाह, विधवा विवाह तथा नियोग प्रथा भी प्रचलित थी। पूर्व – वैदिक कालीन समाज में स्त्रियों के अपनी स्वेच्छा से अविवाहित रहने के प्रणाम मिलते हैं। ऋग्वेद में ऐसी आजीवन अविवाहित रहने वाली स्त्रियों को ‘अमाजू’ कहा गया है। डॉ० आर० एस० शर्मा का मत है कि, बहुपति – प्रथा के कुछ संकेत मिलते हैं। किन्तु स्पष्टतः बहुपति – प्रथा समाज में प्रतिष्ठित नहीं थी। पूर्व – वैदिक कालीन समाज में दहेज प्रथा के संकेत मिलते हैं।

2.3.1.4 स्त्रियों की स्थिति :

पूर्व – वैदिक कालीन समाज में स्त्रियों की स्थिति अत्यन्त सुदृढ़ थी, उसे सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं राजनैतिक सभी प्रकार के अधिकार प्राप्त थे। इस काल में स्त्री अत्यन्त सुशिक्षित, सुसभ्य और सुसंस्कृत थी तथा शिक्षा, ज्ञान, यज्ञ आदि विभिन्न क्षेत्रों में निर्विरोध स्वच्छन्दतापूर्वक सम्मिलित होती तथा सम्मानपूर्वक आदर प्राप्त करती थी। इस काल में बाल – विवाह, पर्दा – प्रथा, सती प्रथा का उल्लेख नहीं मिलता, वहीं पुनर्विवाह, विधवा – विवाह एवं नियोग प्रथा के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। ऋग्वेद (8.31.8 एवं 3.31.1–2) में माता – पिता के अपनी पुत्रियों से स्नेह एवं प्रियता के उल्लेख मिलते हैं। वे उन्हें उच्च शिक्षा देते थे तथा पुत्र के समान ही पुत्रियों का ‘उपनयन – संस्कार’ करते थे। ऋग्वेद में ऐसी 20 उच्च शिक्षित स्त्रियों का उल्लेख है, जिन्होंने ऋग्वेद की 37 ऋचाओं का सृजन किया था। अपाला, घोषा, विश्वबारा, मुद्रा आदि ऐसी ही उच्च शिक्षित स्त्रियों के उदाहरण हैं। ऋग्वेद (1.92.4 एवं 10.71.11) में ललितकलाओं से युक्त नृत्य में कुशल एवं सभा में ऋक् – गान करती स्त्रियों का वर्णन है। ऋग्वेद काल में कन्याओं को स्वयं अपने लिए योग्य वर के चुनाव का अधिकार था। ऋग्वेद (10.27.12) में वर्णित है कि “सुदर्शना” एवं “अलंकृता” होने पर कन्या स्वयं पुरुष को चुन ले। ऋग्वेद (7.2.5 एवं 4.58.8) में ऐसे समारोहों एवं उत्सवों का उल्लेख है, जहाँ कन्याएँ स्वयं अपने लिए पति ढूँढती थीं। ऋग्वेद (3.55.16) में शिक्षित स्त्री – पुरुष के विवाह को उपयुक्त बताया गया है। इससे स्पष्ट है कि स्त्रियाँ शिक्षित थीं एवं अपने योग्य एवं मनोनुकूल जीवन साथी को चुन सकती थीं। ऋग्वेद (10.85.46) में नववधू को श्वसुर – गृह की साम्राज्ञी कहा गया है। ऋग्वेद (5.52.61 एवं 8.35.38) में ऐसे भी उल्लेख हैं जब माता ने वर के अयोग्य होने पर उसके साथ अपनी पुत्री का विवाह करने पर आपत्ति की। इससे यह स्पष्ट होता है कि, कन्या के लिए योग्य वर माता-पिता भी चुनते थे। इस काल (ऋग्वेद, 4.42.8 एवं 1.116.13) में स्त्री को विशिष्ट परिस्थिति में पति के जीवन काल में, पति की अनुपस्थिति में तथा पति की रुग्णावस्था में पुत्र प्राप्ति हेतु अन्य पुरुष का वरण करने की स्वतंत्रता प्राप्त थी। साथ ही, विधवा स्त्री पुत्र प्राप्ति के लिये अपने देवर के साथ पत्नी के रूप में रह सकती थी (ऋग्वेद, 10.4.2)। इस प्रकार ऋग्वैदिक कालीन समाज में स्त्रियों की स्थिति अत्यन्त सुदृढ़ थी तथा पुरुषों के समान ही उन्हें सभी अधिकार प्राप्त थे। स्त्रियाँ सभा – समितियों भाग ले सकती थीं। कतिपय विद्वानों का मानना

है कि, पूर्व – वैदिक कालीन समाज में स्त्रियों को संपत्ति में एवं राजनीति में भाग लेने का अधिकार प्राप्त नहीं था।

2.3.1.5 वस्त्राभूषण :

पूर्व – वैदिक कालीन समाज में आर्यों की वेशभूषा साधारण थी। 'ग्राम प्रधान' सामाजिक जन – जीवन में आर्यों की साधारण वेशभूषा होना स्वाभाविक थी। प्राकृतिक परिवेश में रहने के कारण प्रकृति द्वारा प्रदत्त सामग्री से वस्त्र तैयार किये जाते थे। पूर्व – वैदिक कालीन आर्यों के वस्त्र अलसी के सूत (क्षौम), ऊन और मृगचर्म के बने होते थे। पूर्व – वैदिक कालीन लोगों को कपड़ों को काटने, सिलने, बुनने, कपड़ों पर कढ़ाई करने आदि का ज्ञान था। ऋग्वेद में सामूल्य (ऊनी कपड़े), पेशस (कढ़े हुए कपड़े), परिधान, अत्क आदि वस्त्रों का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में आर्यों के शरीर पर तीन वस्त्र पहनने का विवरण मिलता है— नीबी (जो नीचे के कमर/कटि भाग में पहना जाता था), वास (नीवी के ऊपर आधुनिक पुरुष धोती के समान), अधिवास (शरीर के ऊपरी भाग पर धारण किया जाता था, इसे अत्क या द्रापि भी कहते थे)।

पूर्व – वैदिक कालीन समाज में स्त्री और पुरुष दोनों समान रूप से आभूषण धारण करते थे। कर्ण – शोभन (कानों में), कुरीर (सिर पर), निष्क (गले में), रुक्मा (छाती पर), भुजबंध, मुद्रिका आदि आभूषण धारण करते थे। स्त्रीयाँ वेणियाँ धारण करती, बालों में कंधी करती तथा पुरुष छुरे से दाढ़ी बनाते थे। दाढ़ी रखने की भी प्रथा थी। ऋग्वेद में स्त्री और पुरुष दोनों के उष्णीय (पगड़ी) पहनने का मिलता है।

2.3.1.6 भोजन :

पूर्व – वैदिक कालीन समाज में आर्य मूलतः शाकाहारी थे। किन्तु आर्य समाज में मांसाहार भी बड़ी संख्या में प्रचलित था। मांसाहार को बुरा नहीं माना जाता था। इस प्रकार पूर्व – वैदिक कालीन समाज में शाकाहारी एवं मांसाहारी दोनों प्रकार का भोजन किया जाता था। शाकाहारी भोजन में दूध, दही, घी, फल और सब्जियाँ आदि का प्रयोग किया जाता था। प्रकृति के सानिध्य में रहने के कारण निश्चित रूप से प्राकृतिक कंदमूल – फल पूर्व – वैदिक कालीन आर्यों की अधिक पसंद रहे होंगे। पूर्व – वैदिक कालीन समाज में आर्य यव, धान्य, उड़द, मूँग, तथा अन्य दालों आदि अन्नों का भोजन में प्रयोग करते थे। ऋग्वेद में 'नमक' का उल्लेख नहीं है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि, आर्य भोजन में 'नमक' का प्रयोग नहीं करते होंगे। मांसाहार में पूर्व – वैदिक कालीन आर्य भेड़, बकरी, बैल, जंगली जानवरों आदि का मांस भून कर खाते थे। पूर्व – वैदिक कालीन समाज में आर्य गाय के मांस का सेवन नहीं करते थे। गाय को आर्य अत्यधिक पवित्र मानते थे इसीलिए ऋग्वेद में गाय को 'अघन्या' (न मारने वाली) कहा गया है। पूर्व – वैदिक कालीन समाज में सुरापान भी प्रचलित था, किन्तु ऋग्वेद में सुरापान को एक बुराई के रूप में वर्णित किया गया है। पूर्व – वैदिक कालीन आर्यों का सर्वाधिक प्रिय पेय 'सोमरस' था। ऋग्वेदिक यज्ञों के समय देवताओं को 'सोमरस' की आहूति देने एवं 'सोमरस' ग्रहण करने का प्रचलन था। ऋग्वेद के नवें मण्डल में 'सोमरस' के लिए अनेक सूक्त समर्पित हैं।

2.3.1.7 मनोरंजन के साधन :

पूर्व – वैदिक कालीन समाज में आर्य सुखी – आनंदित जीवन के लिए उन्मुक्त होकर अनेक प्रकार के मनोरंजन के साधनों का उपयोग करते थे। रथदौड़, घुड़दौड़, आखेट, द्यूत, नृत्य, गान एवं संगीत आदि आर्यों के मनोरंजन के साधन थे। पूर्व – वैदिक कालीन आर्य वाद्य – संगीत में वीणा, दुंदुभी, शांख, झांझ, मृदंग आदि का उपयोग किया करते थे। ऋग्वेद में अनेक समारोहों एवं उत्सवों का उल्लेख है। ए० एल०

बाशम का मत है कि, 'लोग संगीत के विशेष प्रेमी थे।' डॉ० एच० सी० रायचौधरी का मत है कि, 'जुआ दूसरा लोकप्रिय खेल था।' कीथ का मत है कि, 'समाज में धार्मिक नाटकों का भी प्रचलन था।'

2.3.1.8 शिक्षा :

पूर्व – वैदिक कालीन समाज में शिक्षा प्राप्ति में किसी प्रकार का कोई भेदभाव नहीं था। शिक्षा सभी स्त्री एवं पुरुष समान रूप से प्राप्त कर सकते थे। ऋग्वेद में शिक्षित स्त्री – पुरुष के विवाह को उपयुक्त बताया गया है। अतः पूर्व – वैदिक कालीन समाज में शिक्षा का बहुत महत्व रहा होगा। ऋग्वेद में ललितकलाओं से युक्त नृत्य में कुशल एवं सभा में ऋक् – गान करती स्त्रियों का वर्णन है। ऋग्वैदिक पिता पुत्र के समान ही पुत्रियों को उच्च शिक्षा देते थे। ऋग्वेद में ऐसी 20 उच्च शिक्षित स्त्रियों का उल्लेख है, जिन्होंने ऋग्वेद की 37 ऋचाओं का सृजन किया था। ऋग्वेद में 'उपनयन संस्कार' का उल्लेख नहीं मिलता है। पूर्व – वैदिक कालीन आर्यों का ज्ञान 'श्रुति' पर आधारित था, उन्हें लिखने का ज्ञान नहीं था। डॉ० ए० एस० अल्तेकर के मतानुसार, "शिक्षा का उद्देश्य धार्मिक एवं साहित्यिक शिक्षा प्रदान करना था।" गुरुकुलों में धार्मिक एवं साहित्यिक शिक्षा के साथ – साथ अस्त्र – शस्त्रों की युद्ध विद्या भी दी जाती होगी।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

(प) निम्नलिखित वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर दीजिए:

1. पूर्व वैदिक कालीन परिवार का मुखिया होता था ?
(क) पुरुष (ख) महिला
(ग) पुरुष एवं महिला दोनों (घ) इनमें से कोई नहीं
2. पूर्व वैदिक कालीन लोग रहते थे ?
(क) जंगलों में (ख) ग्रामों में
(ग) शहरों में (घ) इनमें से कोई नहीं
3. पूर्व वैदिक कालीन लोगों का भोजन था ?
(क) शाकाहारी (ख) मांसाहारी
(ग) शाकाहारी एवं मांसाहारी (घ) इनमें से कोई नहीं
4. पूर्व – वैदिक कालीन आर्यों का ज्ञान आधारित था ?
(क) श्रुति पर (ख) लेखन पर
(ग) श्रुति एवं लेखन पर (घ) इनमें से कोई नहीं
5. पूर्व – वैदिक कालीन आर्यों का सर्वाधिक प्रिय पेय था ?
(क) दूध (ख) होमरस
(ग) सोमरस (घ) इनमें से कोई नहीं

(पप) निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:

1. (क) शिक्षा ।
(ख) वस्त्राभूषण ।
2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
(अ) स्त्रियों की स्थिति का विवरण दीजिये ?

2.3.2 आर्थिक जीवन :

पूर्व – वैदिक कालीन आर्यों के आर्थिक जीवन की पृष्ठभूमि ग्राम आधारित अर्थव्यवस्था थी। जिसमें कृषि एवं पशुपालन का महत्वपूर्ण योगदान था। पूर्व – वैदिक कालीन आर्यों के जीवन में पशुधन को संपत्ति माना जाता था। लघु उद्योग एवं व्यापार – वाणिज्य की भी पूर्व – वैदिक कालीन आर्यों के आर्थिक जीवन में महत्वपूर्ण योगदान थी।

2.3.2.1 कृषि एवं पशुपालन :

पूर्व – वैदिक कालीन आर्यों के आर्थिक जीवन में कृषि एक प्राचीन वृत्ति थी। ऋग्वेद में कृषि कार्य के लिए 'कृष' शब्द का अनेक बार उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में उल्लेखित 'धान्यकृत्' शब्द का प्रयोग संभवतः अन्न उत्पन्न करने वाले के लिए हुआ है। ऋग्वेद में उल्लेखित है कि, सर्वप्रथम अश्विन ने खेती के लिए हल द्वारा भूमि जोतने की शिक्षा दी। ऋग्वेद में हल से खेती के लिए भूमि जोतने के स्पष्ट उल्लेख है। अतः पूर्व – वैदिक काल में हल द्वारा खेती की जाती थी। ऋग्वेद में 6, 8, 12 बैलों द्वारा हल खींचने के विवरण मिलते हैं। किन्तु, यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि, ऋग्वेद में कृषि योग्य भूमि का मात्र दो बार उल्लेख मिलता है, एक में भूमि को कृषि योग्य बनाकर प्रजा को देने का तथा दूसरे में इन्द्र द्वारा ऐसी भूमि को बांटने का संकेत है। ऋग्वेद में अर, शृंग, शिप्र, फाल, खनित् आदि कृषि उपकरणों का उल्लेख मिलता है। विद्वानों के अनुसार, यव (जौ), गेहूँ, उड़द, मूंग, तिल आदि की फसल होती थी। पूर्व – वैदिक कालीन लोग कृषि कर्म की विभिन्न पद्धतियों जुताई, बुआई, कटाई, मड़ाई, अन्न मापन आदि का प्रयोग करते थे। ऋग्वेद में सिंचाई हेतु अवट (कुएँ), कुल्या (नहर), लहद (पोखर या तालाब) आदि का उल्लेख मिलता है। अच्छी फसल एवं वर्षा हेतु ऋग्वेद में देवताओं की स्तुति की गयी है।

किन्तु पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि, ऋग्वेद के चौथे मंडल में ही कृषि कार्यों का वर्णन है, अन्य में नहीं। ई० डब्ल्यू होपकिंग्स ऋग्वेद के चतुर्थ मंडल के 57 वे सूक्त को क्षेपक मानते हैं, जिसमें कृषि कार्यों का वर्णन है। डॉ० डी० एन० झा एवं श्रीमाली का मत है कि, ऋग्वेद के केवल 24 श्लोकों में ही कृषि का उल्लेख है। संहिता के मूल भाग में तो कृषि के महत्व के केवल तीन शब्द ऊर्दर, धान्य, वपन्ति प्राप्त होते हैं। कृष्टि शब्द का उल्लेख 33 बार हुआ है, किन्तु लोगों के अर्थ में जैसे "पंचकृष्टयः। ऋग्वेद में एक ही अनाज 'यव' का कुल 15 बार उल्लेख हुआ है, जिसका केवल तीन बार ही मूल पाठ में उल्लेख मिलता है। अतः पूर्व – वैदिक कालीन आर्यों का प्रमुख व्यवसाय पशुपालन था, न की कृषि। डॉ० आर० एस० शर्मा का भी मत है कि, 'पूर्व – वैदिक कालीन समाज कबीलों में बंटा था और आर्यों का मुख्य व्यवसाय पशुचारण वृत्ति थी।' ए० एल० बाशम भी पशुपालन को आर्यों का प्रमुख व्यवसाय मानते हैं। वस्तुतः पशुपालन ही आर्यों का प्रमुख व्यवसाय था। गाय – बैल, भैंस, भेड़ – बकरी, घोड़ा, हाथी, ऊँट, कुत्ता, सुअर, गधा, बैल, आदि पशुपालन किया जाता था। पूर्व – वैदिक कालीन समाज में गाय को सर्वाधिक पवित्र एवं दैवीय माना जाता था। ऋग्वेद में गाय को सबसे उत्तम धन माना गया है। ऋग्वेद में गाय को 'अघन्या' (न मारने वाली) कहा गया है। पूर्व – वैदिक काल में गाय संपत्ति, क्रय-विक्रय, दान-दक्षिणा एवं मुद्रा के रूप में प्रयुक्त होती थी। ऋग्वेद में युद्ध का पर्याय 'गविष्टि' (गाय का अन्वेषण) माना गया है। अतः पूर्व – वैदिक कालीन आर्य पशुपालन द्वारा पशुधन एवं उससे संबंधित आर्थिक लाभ का उपभोग करते थे।

2.3.2.2 व्यवसाय :

पूर्व – वैदिक कालीन आर्यों आर्थिक जीवन में अनेक व्यवसाय उन्नत स्थिति में थे। ऋग्वेद में 'वासोवाय' (वस्त्र बुनने वाले) 'कमरि' (धातुकर्म), हिरण्यकार (स्वर्णकार), कुलाल (कुम्हार), तक्षा या तक्षन् (बढ़ई), चर्मन्

(चर्मकार या चमड़े का कार्य करने वाले), भिषक (वैद्य), वाप्तृ (नाई) आदि व्यवसायों का उल्लेख मिलता है। पूर्व – वैदिक काल में वस्त्र व्यवसाय उन्नत स्थिति में था। लोगों को कपड़ों को काटने, सिलने, बुनने, कपड़ों पर कढ़ाई करने आदि का ज्ञान था। पूर्व – वैदिक काल में स्वर्णकारों का व्यवसाय भी उन्नत अवस्था में था। कर्ण – शोभन (कानों में), कुरीर (सिर पर), निष्क (गले में), रूक्मा (छाती पर), भुजबंध, मुद्रिका आदि स्वर्णाभूषण बनाये जाते थे। पूर्व – वैदिक काल में धातुकर्म का व्यवसाय भी उन्नत अवस्था में था। इस काल में लोगों ने धातु गलाकर उसका शोधन करके विविध उपयोगी वस्तुओं का रूप देने एवं विविध प्रकार के अस्त्र – शस्त्रों का निर्माण करने में महारत् हासिल कर ली थी। लगभग समस्त विद्वान इस बात पर एक मत है कि, पूर्व – वैदिक काल में किसी भी व्यवसाय को हीन नहीं माना जाता था। डॉ० विमलचन्द्र पाण्डेय का मत है कि, ऋग्वेद में 'गण' और 'व्रात' का उल्लेख सम्भवतः व्यावसायिक संघों के रूप में हुआ है।

2.3.2.3 व्यापार – वाणिज्य :

पूर्व – वैदिक कालीन आर्थिक जीवन में व्यापार – वाणिज्य का भी योगदान था। ऋग्वेद में आंतरिक एवं वैदेशिक व्यापार का उल्लेख मिलते हैं। व्यापार करने वाले को 'पणि' कहा जाता था। व्यापार में 'वस्तु – विनिमय' ;तंतजमत`लेजमउद्ध की प्रणाली प्रचलित थी। विद्वानों ने ऋग्वेद में वर्णित निष्क, स्वर्ण, शतमान, हिरण्यपिंड आदि के उल्लेख को मुद्रा के प्रचलन का प्रमाण माना है। डॉ० डी० आर० भण्डारकर का मत है कि, निष्क, स्वर्ण, शतमान, हिरण्यपिंड मुद्रा या सिक्के थे। मैकडॉनल और कीथ मतानुसार भी 'निष्क' एक मुद्रा थी। बार्कर के अनुसार, 'निष्क' पहले आभूषण के रूप में तथा बाद में 'मुद्रा' के रूप में प्रयुक्त हुआ। ऋग्वेद में सामुद्रिक यात्रा के साक्ष्य विद्यमान है, ऋग्वेद (1.116., 3 – 5) में उल्लेख है कि, जब तुग्र के पुत्र भुज्यु का समुद्र में जलयान क्षतिग्रस्त हो गया था, तब उसकी प्रार्थना पर अश्विन् ने रक्षा हेतु सौ पतवारों वाली एक नाव भेजी थी। मैकडॉनल एवं कीथ का मानना है कि, "यह सामुद्रिक यात्रा की ओर संकेत करता है।" ऋग्वेद में दानों की सूची में एक सुवर्ण 'मना' का उल्लेख है। कतिपय विद्वान प्राचीन बेबीलोन की तौल की इकाई 'मनः' से इसका साम्य करते हैं। प्रसिद्ध इतिहासविद् मजूमदार, रायचौधरी, दत्त के मतानुसार, यदि ऋग्वैदिक 'मना' की एकरूपता बेबीलोन के 'मनः' से ठीक है, तो समुद्रों से दूर देशों और वैदिक भारत के बीच के पूर्व कालिक आवागमन के निश्चित प्रमाण है।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:

(क) पशुपालन ।

(ख) व्यवसाय ।

2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:

(अ) पूर्व – वैदिक कालीन कृषि व्यवस्था का आलोचनात्मक विवरण दीजिये ?

2.3.4 धार्मिक – अवस्था :

पूर्व – वैदिक कालीन आर्य प्रकृति के सानिध्य में रहते थे। प्रकृति में होने वाली शक्तिशाली घटनाओं ने आर्यों में भय और श्रद्धा पैदा की। और इसी भय और श्रद्धा ने आर्यों में धार्मिक भावनाओं का सृजन किया। आर्यों ने प्रकृति के निर्देशक एवं नियंताओं को अपनी कल्पनाओं में साकार रूप देकर उनका मानवीकरण कर दिया। इस प्रकार पूर्व – वैदिक कालीन धर्म का जन्म प्रकृति का मानवीकरण करके हुआ था। देवताओं

का विकास प्रकृति के धरातल पर बाह्य और अन्तस दो स्वरूपों में हुआ। देवताओं के विस्तार में 'अदिति' नामक देवी का प्रमुख योग रहा है। ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि, उस समय तैत्तिरीय देवताओं का अस्तित्व था, जिन्हें तीन वर्गों में बांटा गया था -

- (अ) आकाशवासी :- द्यौस, सूर्य, वरुण, सविता, अश्विन, अदिति, पूषन, विष्णु, ऊषा, आप आदि।
 (ब) अन्तरिक्षवासी :- इन्द्र, रुद्र, पर्जन्य, वायु, वात, मरुत।
 (स) पृथ्वीवासी :- अग्नि, पृथ्वी, बृहस्पति, सोम, सरस्वती आदि।

डॉ० जयशंकर मिश्र के मतानुसार, "देवताओं के इस वर्गीकरण में मूर्त प्रकृति और अमूर्त अन्तस दो स्वरूपों का भी योगदान रहा है।" ऋग्वैदिक आर्य प्रकृति के उपासक थे, इसी कारण इतिहासविद् इस काल में मूर्तिपूजा को विद्यमान नहीं मानते हैं। इतिहासविद् वेंकटेश्वर और वॉलेसेन ऋग्वैदिक आर्यों को मूर्तिपूजक मानते हैं जबकि, मैक्समूलर, एच० एच० विल्सन एवं जितेन्द्रनाथ बनर्जी ऋग्वैदिक आर्यों को मूर्तिपूजक नहीं मानते हैं। पूर्व - वैदिक कालीन देवमण्डल में इन्द्र सर्वाधिक शक्तिशाली देवता था। ऋग्वेद में इन्द्र को 250 सूक्त समर्पित है। ऋग्वेद में इन्द्र को पुरामभेत्ता, पुरंदर एवं युद्धों का नेतृत्वकर्ता कहा गया है। अग्नि आर्यों का दूसरा सर्वाधिक शक्तिशाली देवता था। ऋग्वेद में अग्नि को 200 सूक्त समर्पित है। याज्ञिक आहृतियाँ अग्नि के माध्यम से अन्य देवताओं तक पहुँचती थीं।

पूर्व - वैदिक कालीन देवताओं की उपासना की मुख्य रीति थी, स्तुतिपाठ और यज्ञबलि अर्पित करना। ऋग्वैदिक काल में स्तुतिपाठ पर अधिक जोर दिया जाता था। स्तुतिपाठ सामूहिक और अलग - अलग भी किया जाता था। बलि या यज्ञाहुति में शाक, जौ, घी, दूध, धान्य या मांस आदि वस्तुएँ दी जाती थी। पूर्व - वैदिक कालीन आर्य अपने देवताओं से संतति, पशु, अन्न, धान्य, आरोग्य आदि पाने की कामना करते थे। यज्ञ अत्यन्त खर्चीले होते थे। इसी कारण चोपड़ा, पुरी, दास ने 'ऋग्वैदिक धर्म को अभिजातवर्गीय' कहा है, जिसमें जनसाधारण की विशेष रुचि न थी। ऋग्वेद में पाप - पुण्य तथा स्वर्ग - नरक की कल्पना मिलती है। पुण्य कर्मा मृत्यु पश्चात् सानंद स्वर्ग में तथा पाक कर्मा नरक में जाता है। नरक एक अंधकूप की भाँति है। ऋग्वेद में आत्मा और अमरता का उल्लेख मिलता है किन्तु मोक्ष का नहीं। ऋग्वेद (5.85.7) में एक उपासक किसी के प्रति पाप से मुक्ति हेतु अपने आराध्य देव से प्रार्थना करता है। ऋग्वेद (1.2.6., 8.6.5) में दूसरे स्थान पर ऋषियों ने निर्धन, भूखे, असहाय मनुष्यों के प्रति उदार और दानशील होने की सम्मति दी है। अतः पूर्व - वैदिक कालीन धर्म दैवतमय होने के साथ - साथ नैतिक भी था।

पूर्व - वैदिक कालीन आर्य देवताओं को मित्रवत् समझते थे, अतः जो शक्ति को उन्हें प्रभावित करती, उसे देवता मान लेते और उसे सर्वशक्तिमान मानकर उसे जगत का सृष्टि, नियंता और उससे अन्य देवताओं की उत्पत्ति मानते थे इसे सर्वदेववाद या सर्वेश्ववादी कहते हैं। तत्पश्चात् आर्यों ने सर्वशक्तिमान सम्पूर्ण ब्रह्मण्ड में एक परम सत्ता की कल्पना की और ऋग्वेद में "एक सत् विप्रा बहुधा वंदति।" परम तत्त्व में रूप में हिरण्यगर्भ, प्रजापति और कभी विश्वकर्मा की कल्पना की। एकेश्वर की यह पराकाष्ठा थी। आर्यों ने एकात्मवाद की भी कल्पना की थी जैसाकि, "ऋग्वेद में सत् एक ही है।" एवं ऋग्वेद (10.88.15, 10.101.2) मोह जनित भेदों को छिन्न कर उस परम सत् का साक्षात्कार कर लेना मनुष्य का परम लक्ष्य था। डॉ० विमलचन्द्र पाण्डेय के मतानुसार, ऋग्वेद से आर्यों के बौद्धिक विकास की तीन स्थितियों का ज्ञान होता है 1. बहुदेववाद 2. एकेश्वरवाद 3. एकात्मवाद।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

(प) निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:

1. (क) उपासना की रीति ।
(ख) यज्ञाहुति ।
2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
(अ) पूर्व – वैदिक कालीन देवताओं के विकास का विवरण दीजिये ?

2.3.5 राजनीतिक स्थिति :

पूर्व – वैदिक कालीन राजनीतिक संगठन का स्पष्ट उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। पूर्व – वैदिक कालीन समाज में राजनीतिक संगठन का मुख्य आधार 'कुटुम्ब' था, जिसका नेता 'कुलप' कहलाता था। कई कुलों से मिलकर 'ग्राम' बनता था, जिसका मुखिया 'ग्रामीण' कहलाता था। कई 'ग्रामों' से मिलकर 'विश' बनता था, जिसका अधिकारी 'विशपति' होता था। कई 'विशों' से एक 'जन' बनता था, जन का प्रमुख 'गोप्ता' (रक्षक) कहा जाता था। डॉ० आर० एस० शर्मा के मतानुसार, एक पुरानी ऋचा में दो जनों की संयुक्त युद्ध – क्षमता 21 बताई गई है। अतः किसी जन में सदस्यों की संख्या कुल मिलाकर 100 से अधिक नहीं रहती होगी।" कई जन मिलकर 'राष्ट्र' (देश) बनाते थे, जिसका प्रमुख 'राजा' होता था।

2.3.5.1 प्रशासनिक व्यवस्था :

पूर्व – वैदिक कालीन शासन व्यवस्था प्रमुखतया राजतंत्रात्मक थी, जिसका अध्यक्ष राजा होता था। ऋग्वेद में 'गणों' का भी उल्लेख है। ऋग्वेद में राजनीतिक संगठन का क्रमिक स्तरण कुटुम्ब, ग्राम, विश, जन एवं राष्ट्र जैसी राजनैतिक इकाईयों का उल्लेख है। ऋग्वेद में 'पंचजन' यदु, अणु, पुरु, द्रह्यु, तुर्वस तथा भरत, क्रिवि, त्रिसु, आदि जनों का उल्लेख है। 'कुटुम्ब' पूर्व – वैदिक कालीन राजनीतिक संगठन की सबसे छोटी तथा राष्ट्र सबसे बड़ी राजनैतिक इकाई थी। इन सबका सर्वोच्च प्रशासनिक प्रमुख राजा होता था। पूर्व – वैदिक कालीन राजतंत्रात्मक व्यवस्था को सलाह, सहयोग देने के साथ ही, उस पर नियंत्रण का कार्य सभा – समिति, विदथ जैसी संस्थाएँ करती थीं।

2.3.5.1.1 राजा (राजन) :

राजा, राष्ट्र (राज्य) का सर्वोच्च प्रशासनिक प्रमुख होने के कारण प्रधान न्यायाधीश, सैना का सर्वोच्च अधिकारी एवं समस्त प्रशासनिक एवं वैधानिक क्रियाकलापों केन्द्र बिन्दु होता था। ऋग्वेद में राजा को 'गोप जनस्य' (प्रजा का रक्षक) और 'पुरामभेत्ता' (नगरों पर विजय पाने वाला) कहा गया है। राजा भव्य राजप्रासाद में निवास करता था। प्रारंभ में राजा आम जनता के बीच में चुना जाता था। बाद में राजपद पैतृक हो गया था, हाँलाकि बाद में भी जनता द्वारा निर्वाचित राजा के उल्लेख मिलते हैं। डॉ० ए० एस० अल्तेकर के मतानुसार, "निर्वाचन यदा – कदा होता था, साधारणतः सबसे प्रतिष्ठित कुल के सबसे वायोवृद्ध व्यक्ति को नेता मानकर राजा बना दिया जाता था।" आवश्यकता पड़ने पर जनता राजा को पदच्युत अथवा निर्वासित भी कर सकती थी। राजा निरंकुश नहीं होता था। सभा और समिति उस पर नियंत्रण रखती थी। राज्याभिषेक के पूर्व राजा 'रत्नी' (पुरोहित, सेनानी, ग्रामीण) की पूजा करता था। यू० एन० घोषाल के मतानुसार, "प्रजा राजा की आज्ञा का पालन करती थी और कर स्वरूप 'बलि' नामक 'कर' देती थी, क्योंकि ऋग्वेद में राजा को 'बलिहृत्' कहा गया है।" राजा गुप्तचरों के द्वारा जनता के आचरण पर निगाह रखता

था। राजा के व्यक्तिगत कर्मचारियों को 'उपस्ति' और 'इभ्य' कहते थे। पुरोहित, सेनानी तथा ग्रामणी आदि राजा के मुख्य पदाधिकारी थे।

2.3.5.1.2 पुरोहित :

पुरोहित राजा को धार्मिक, न्यायिक, प्रशासनिक, राजनीतिक विषयों पर सलाह देने वाला एक शिक्षक, पथ – प्रदर्शक दार्शनिक तथा मित्र रूप में राजा का प्रमुख साथी होता था। डॉ० कीथ के मतानुसार, "वैदिक पुरोहित, ब्राह्मण राजनीतिज्ञों का अग्रगामी था।"

2.3.5.1.3 सेनापति या सेनानी :

पूर्व – वैदिक कालीन राज्य की सेना का प्रमुख सेनापति या सेनानी कहलाता था। वह युद्ध के समय सेना का संचालन करता था। ऋग्वेद में शर्ध, व्रात, गण आदि सैनिक ईकाईयों का उल्लेख मिलता है।

2.3.5.1.4 ग्रामणी :

पूर्व – वैदिक कालीन राज्य में ग्राम का प्रमुख ग्रामणी कहलाता था। ग्रामणी, ग्राम के राजस्व, न्याय, सुरक्षा एवं शांति एवं व्यवस्था का उत्तरदायी होता था। वस्तुतः ग्रामणी घरेलू और सैनिक दोनों कार्यों के लिए ग्राम का प्रधान होता था।

2.3.5.1.5 सभा और समिति :

पूर्व – वैदिक कालीन राजतंत्रात्मक शासन व्यवस्था में राजा को सलाह देने और उस पर नियंत्रण के सभा – समिति और विदथ (विधाता) का उल्लेख मिलता है। किन्तु इनके कर्तव्यों एवं अधिकारों के बारे में पर्याप्त मतभेद हैं। अधिकांश विद्वानों का मत है कि, सभा उच्च सदन के रूप में कार्य करती थी। सभा श्रेष्ठ जनों की संस्था थी, जिसमें उच्च पदाधिकारी तथा गणमान्य व्यक्ति ही भाग लेते थे। डॉ० एच० सी० रायचौधरी के मतानुसार, "ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं में सभा का संबंध ऐश्वर्यशाली और सुन्दर व्यक्तियों से स्थापित किया जाता है, जिससे अनुमान होता है कि, मुख्यतः सभा श्रेष्ठ जनों की संस्था थी न कि समूचे जन की परिषद्।" राजा सभा अध्यक्ष होता था। सभा सार्वजनिक बातों का फैसला करती थी। डॉ० के० पी० जायसवाल के अनुसार, सभा राष्ट्रीय न्यायालय के रूप में भी कार्य करती थी, इसे 'आपत्ति' और 'आवेश' भी कहा गया है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल में एक ऐसे व्यक्ति का उल्लेख है, जिस सभा ने दोष रहित किया था। समिति सारी प्रजा की संस्था थी, जिसमें राजा और प्रजा समान रूप से उपस्थित होते थे। इसका प्रमुख कार्य राजा का चुनाव करना था। राज्य की समृद्धि हेतु राजा और समिति का एकमत होना आवश्यक था। ऋग्वेद में राजा एक स्थान पर समिति के सदस्यों से कहता है कि "मैं तुम्हारा विचार और सम्मति स्वीकार करता हूँ।" समिति की सभा की अपेक्षा अधिक सार्वजनिक तथा राजनीतिक संस्था थी। सभा एवं समिति को व्यापक अधिकार थे और ये राजा की शक्ति और निरंकुशता पर नियंत्रण रखती थी। ए० एल० बाशम का भी मानना है कि, "ये राजा की स्वेच्छाचारिता पर नियंत्रण रखती थीं।"

2.3.5.1.6 विदथ (विधाता) :

विदथ (विधाता) कर्तव्यों, अधिकारों एवं कार्य प्रणाली के बारे में बहुत अधिक मतभेद हैं। डॉ० के० पी० जायसवाल का मानना है कि, धार्मिक जीवन का प्रबंध विधाता करती थी। प्रतीत होता है कि, विधाता जन्मदात्री संस्था थी, जिससे सभा, समिति और सेना की उत्पत्ति हुई। विधाता नागरिक सैनिक और धार्मिक

कार्यों से संबंधित थी। ऋग्वेद में अग्नि को विधाता या केतु या झण्डा कहा गया है। जिम्मर्न का मानना है कि, विधाता समिति की ही एक छोटी संस्था थी। डॉ० के० पी० जायसवाल का मत मान्य नहीं है।

2.3.5.1.7 न्याय – व्यवस्था :

पूर्व – वैदिक कालीन ऋग्वेद से तत्कालीन न्याय – व्यवस्था के बारे में अत्यल्प जानकारी मिलती है। ऋग्वेद में कानून के लिए 'धर्मन्' शब्द प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद में किसी तरह के न्यायाधिकारी का उल्लेख नहीं है। वस्तुतः राजा ही सर्वोच्च न्यायाधीश होता था। चोरी, डकैती, धोखेबाजी, जानवरों को चुराना, संधमारी तथा सामाजिक परंपराओं का उल्लंघन भी अपराध माना जाता था। ऐसी समाज विरोधी हरकतों को रोकने के लिए गुप्तचर रखे जाते थे। न्याय की 'दिव्य – प्रणाली' अत्यधिक प्रचलित थी, जिसमें गरम कुल्हाड़ी अग्नि तथा जल का प्रयोग किया जाता था। ऋग्वेद में झगड़ों के निर्णायक को 'मध्यमशी' (बीच – बचाव करने वाला) कहा जाता था। ऋण ने देने वाले को दण्ड स्वरूप दासता स्वीकारना पड़ती थी। सम्भवतः मृत्युदण्ड का प्रावधान था। सम्भवतः 'उग्र' और 'जीवग्रभ' शब्द पुलिस कर्मचारियों को ओर इंकित करते हैं। ए० एल० बाशम का मानना है कि, 'आंग्ल – सैक्सन तथा कुछ अन्य हिन्द – यूरोपीय लोगों की भांति ऋग्वैदिक काल में हत्या का दण्ड आर्थिक जुर्माने की प्रणाली द्वारा दिया जाता था।'

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:
 - (क) प्रशासनिक व्यवस्था ।
 - (ख) विदथ ।
2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
 - (अ) पूर्व – वैदिक कालीन सभा और समिति का विवरण दीजिये ?

2.4 उत्तर वैदिक कालीन संस्कृति :

उत्तर वैदिक काल से तात्पर्य उस काल से है, जिसमें यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद तथा ब्राह्मण ग्रंथों, अरण्यकों, उपनिषदों एवं महाकाव्यों की रचना हुई थी। उत्तर वैदिक काल की तिथि 1000 – 600 ई० पू० मानी जाती है। उत्तर वैदिक काल में आर्य सामाजिक जन जीवन, संस्कृति एवं राजनैतिक पटल पर भारी परिवर्तन आया। पूर्व वैदिक काल की अपेक्षा उत्तर वैदिक काल में प्रत्येक क्षेत्र में भारी परिवर्तन और प्रगति आयी। वस्तुतः उत्तर वैदिक काल आर्यों के लिए प्रगति और विस्तार का काल था। उत्तर वैदिक काल में आर्य संस्कृति का विस्तार हिमालय से विंध्याचल तक हो गया था। डॉ० डी० एन० झा एवं श्रीमाली का मत है कि, "इस काल में आविर्भूत ढाँचे की प्रमुख विशेषताएँ थी : कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था, कवायली संरचना में दरार का पड़ना और वर्ण व्यवस्था का जन्म तथा क्षेत्रगत साम्राज्यों का उदय।" डी० डी० कौशाम्बी एवं डॉ० आर० एस० शर्मा का मत है कि, "इस काल में लौह तकनीक ने क्रांतिकारी योगदान दिया।"

2.4.1 सामाजिक व्यवस्था :

उत्तर वैदिक कालीन ग्रंथों से तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था 'वर्णव्यवस्था' पर व्यापक प्रकाश पड़ता है। पूर्व वैदिक काल की अपेक्षा उत्तर वैदिक काल में आर्य सामाजिक पटल पर भारी परिवर्तन आया। वर्ण – व्यवस्था ने ठोस आकार ले लिया था। आश्रम व्यवस्था की स्थापना तथा शिक्षा की प्रगति एवं स्त्रियों की स्थिति में आमूलचूल परिवर्तन आया। उत्तर वैदिक काल में लोग ग्राम एवं नगरों दोनों में रहने लगे थे।

2.4.1.1 वर्ण – व्यवस्था :

उत्तर वैदिक काल के सामाजिक जीवन में 'वर्ण व्यवस्था' का जन्म हुआ। पूर्व वैदिक काल की अपेक्षा उत्तर वैदिक काल में वर्ण में जबरदस्त परिवर्तन आया। अब यह समाज में पूर्णतः स्थापित हो चुकी थी। उत्तर वैदिक काल में वर्ण, जन्म पर आधारित होकर पैतृक हो गया था। इस काल में चारों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र) के कर्तव्यों एवं अधिकारों को स्पष्टतः परिभाषित कर दिया गया था। ऐतरेय ब्राह्मण में चारों वर्णों के कर्तव्यों का उल्लेख मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में चारों वर्णों के लिए अंतिम संस्कार हेतु पृथक-पृथक स्थानों का उल्लेख मिलता है। उत्तर वैदिक काल में 'वर्ण' कठोर होकर 'जाति' का रूप ले चुका था। किन्तु फिर भी इस काल में जाति परिवर्तन समाज में मान्य था तथा विभिन्न जातियों में परस्पर विवाह भी हो जाते थे। डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी का मानना है कि, "वर्ण – व्यवस्था में इस काल में न तो पूर्व वैदिक युग के समान स्वतंत्रता थी और न सूत्रकाल की तरह के बंधन युक्त थी, यह दोनों के बीच की स्थिति थी।" ब्राह्मण वर्ण, पुरोहित वर्ग, शैक्षणिक अध्ययन-अध्यापन एवं धार्मिक क्रियाकलापों का कार्य करता था। क्षत्रिय वर्ण का कार्य राजकाज करना एवं प्रजा को सुरक्षा देना था। वैश्य वर्ण, कृषि एवं पशुपालन, विभिन्न व्यवसायों, व्यापार – वाणिज्य का कार्य करता था। शूद्र वर्ण का कार्य समाज के सभी की सेवा करना था। शूद्र वर्ण विभिन्न शिल्प कार्यों में भी संलग्न था। उत्तर वैदिक कालीन समाज में भी अन्तर्जातीय विवाह, व्यवसाय परिवर्तन और सहभोज पर कोई नियंत्रण और प्रतिबंध नहीं था। उत्तर वैदिक कालीन ग्रंथों शतपथ ब्राह्मण, बृहदारण्यकोपनिषद्, छान्दोग्य उपनिषद् आदि में शूद्र एवं चाण्डाल को भी यज्ञ की अनुमति दी गयी है। अतः सामाजिक एवं धार्मिक दोनों ही पृष्ठभूमि पर चारों वर्णों में समानता विद्यमान थी।

2.4.1.2 आश्रम व्यवस्था :

उत्तर वैदिक कालीन समाज में एक आधारभूत सामाजिक परिवर्तन 'आश्रम व्यवस्था' के अस्तित्व के रूप में आया। भारतीय संस्कृति की आश्रम व्यवस्था विश्व के सामाजिक इतिहास एवं संस्कृति के लिए अद्भुत एवं अभूतपूर्व देन है। भारतीय मनीषियों ने अपने भौतिक चिंतन से आश्रम व्यवस्था के रूप में एक ऐसी व्यवस्था का सृजन किया। जिसमें व्यक्ति के जीवन का वैज्ञानिक विभाजन करके जीवन के प्रत्येक भाग का समुचित एवं सुनियोजित उपयोग का मूलमंत्र निहित था। भारतीय मनीषियों की इस चिंतनशील व्यवस्था का अंतिम उद्देश्य व्यक्ति का आध्यात्मिक उत्थान करना था। भारतीय मनीषियों ने बड़ी समझबूझ और योग्यता से व्यक्ति के जीवन का प्रबंधन किया तथा 100 वर्षों का जीवन काल मानकर 25 – 25 वर्षों के चार भागों (आश्रमों) में विभाजित था और इस विभाजन की पृष्ठभूमि में प्रत्येक भाग की विशिष्ट उपयोगिता एवं विशेषता थी, जिसका प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष लाभ समाज को मिलना था। 'जाबालोपनिषद्' में सर्वप्रथम चारों आश्रमों का उल्लेख मिलता है। ब्रह्मचर्य – छात्रावस्था से 25 वर्ष तक, गृहस्थ आश्रम 25 से 50 वर्ष की आयु का तक, वानप्रस्थ आश्रम 50 से 75 वर्ष तक, संन्यास 75 से 100 वर्ष तक का होता था। डॉ० जयशंकर मिश्र ने ठीक ही लिखा है कि "आश्रम व्यवस्था का दर्शन प्राचीन व्यवस्थाकारों के अद्वितीय ज्ञान

और प्रज्ञा का प्रतीक है, जिसमें ज्ञान और विज्ञान लौकिक और पारलौकिक, कर्म और धर्म तथा भोग और त्याग का अद्भुत समन्वय है। उन्होंने जीवन की वास्तविकता को ध्यान में रखते हुए ज्ञान, कर्तव्य, त्याग और अध्यात्म के आधार पर मानव जीवन को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास नामक चार आश्रमों में विभाजित किया है, जिसका अन्तिम लक्ष्य था मोक्ष की प्राप्ति।” डॉ० के० एम० कपाडिया का मानना है कि, “पुरुषार्थ के सिद्धान्त की वास्तविक अभिव्यक्ति आश्रमों की हिन्दू योजना में निहित हैं।”

2.4.1.3 परिवार :

उत्तर वैदिक कालीन समाज में परिवार ‘पितृ प्रधान’ एवं ‘संयुक्त परिवार’ की प्रथा थी। उत्तर वैदिक कालीन समाज में पिता के अधिकारों में वृद्धि हुई। वह अपने पुत्रों की उत्तराधिकार से वंचित रह सकता था, ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णिक है कि, अजीगर्त ने अपने पुत्र शुनःशेष को 100 गायों पर बेच दिया था तथा विश्वामित्र ने आज्ञा उल्लंघन पर अपने 50 पुत्रों को घर से निकाल दिया था। किन्तु ऐसा नहीं था कि, पिता-पुत्र के मध्य सदैव खराब रहते थे। पुत्र, पिता की संपत्ति का स्वाभाविक उत्तराधिकारी होता था। संयुक्त परिवार में सभी स्त्री-पुरुष सान्निहित, समानता एवं सुमति के साथ रहते थे। उत्तर वैदिक ग्रंथों में परिवार की ‘शांति एवं सुमति’ के लिए ईश्वर से प्रार्थनाएँ की गयीं हैं। उत्तर वैदिक कालीन समाज मूलतः ‘ग्राम प्रधान’ था। लोग कच्ची इंटों के घरों में या खम्भों पर टिके नरकुल और मिट्टी के घरों में रहते थे। यह छत घास – फूस और खर इत्यादि से पाटी जाती थी। फिर भी कतिपय उदाहरण नगरीय जीवन की ओर आर्य जीवन संस्कृति के बढ़ने के संकेत देते हैं, जैमिनीय उपनिषद् में ‘ब्राह्मण महाग्रामों’ एवं तैत्तिरीय ब्राह्मण में ‘नगरिन’ शब्द का प्रयोग हुआ है।

2.4.1.4 विवाह :

उत्तर वैदिक कालीन समाज में विवाह एक पवित्र संस्कार माना जाता था। उत्तर वैदिक काल में पुरुष के लिए यज्ञ, स्वर्ग, पूर्णता तथा पुत्र प्राप्ति की कामना हेतु विवाह अत्यावश्यक था। उत्तर वैदिक ग्रंथों में विवाह के आठ प्रकारों का उल्लेख मिलता है – ब्राह्म विवाह, दैव विवाह, आर्ष विवाह, प्राजापत्य विवाह, असुर विवाह, गांधर्व विवाह, राक्षस विवाह, पैशाच विवाह। उत्तर वैदिक ग्रंथों में प्रथम चार प्रकार ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य को धर्मानुसार श्रेष्ठ एवं असुर, गांधर्व, राक्षस, पैशाच को अधार्मिक एवं निकृष्ट श्रेणी का माना गया है। रूत्री-पुरुष का विवाह युवा होने पर ही होता था। किन्तु डॉ० एच० सी० रायचौधरी का मानना है कि, बाल – विवाह के उदाहरण भी मिलते हैं। उत्तर वैदिक कालीन समाज में भी ‘एकपत्नी प्रथा’ आदर्श रूप में प्रतिष्ठित थी। हालाँकि, बहु – विवाह तथा बहु पत्नी प्रथा भी समाज में विद्यमान थी। बहु – विवाह तथा बहुपत्नी प्रथा संभवतः प्रशासनिक और राजकीय वर्गों में प्रचलित थी। समाज में पुनर्विवाह, विधवा विवाह तथा नियोग प्रथा भी प्रचलित थी। अनुलोम-प्रतिलोम, सजातीय एवं अन्तर्जातीय विवाहों के उल्लेख मिलते हैं। डॉ० आर० एस० शर्मा का मत है कि, इस काल में गोत्र बहिर्विवाह की प्रथा चल पड़ी। किन्तु डॉ० विमलचन्द्र पाण्डेय का मत है कि, सपिण्ड सगोत्र एवं सप्रवर विवाहों का स्पष्ट निषेध सूत्र काल में ही मिलता है।

2.4.1.5 स्त्रियों की स्थिति :

उत्तर वैदिक कालीन ग्रंथों से विदित होता है कि, उत्तर वैदिक काल में स्त्री की स्थिति अच्छी थी। उत्तर वैदिक कालीन ग्रंथों अथर्ववेद (1.2.3), शतपथ ब्राह्मण (1.19.2.14), तैत्तिरीय ब्राह्मण (3.75) आदि में वर्णित है कि, स्त्री अपने पति के साथ याज्ञिक कार्य में अनिवार्य थी अर्थात् पत्नि के बिना कोई याज्ञिक और धार्मिक

कार्य पूर्ण नहीं हो सकता था तथा स्त्री – पुरुष दोनों को यज्ञ रूपी रथ के जुड़े हुए दो बैल की संज्ञा दी गई थी। उत्तर वैदिक कालीन ग्रंथों अथर्ववेद (2.36.1, 11.1.17), शतपथ ब्राह्मण (5.1.6.10, 5.2.1.10) एवं ऐतरेय आरण्यक (1.2.5) में वर्णित है कि, स्त्री के बिना पुरुष अपूर्ण है, स्त्री के बिना पुरुष यज्ञ का अधिकारी नहीं है, और न ही स्वर्ग जा सकता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि, उत्तर वैदिक काल में सामाजिक – धार्मिक कृत्यों में स्त्री का अत्यधिक महत्व था। इस काल में स्त्री की चर्तुमुखी शिक्षा – दीक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता था। अथर्ववेद (11.5.18) में वर्णित है कि, शिक्षित स्त्री – पुरुष का विवाह उत्तम एवं श्रेष्ठ होता है। अतः इस युग में शिक्षित स्त्री – पुरुष का विवाह अच्छा माना जाता था। तैत्तिरीय संहिता (6.1.6.5) एवं मैत्रायणी संहिता (3.7.3) में स्त्रियों की संगीत – नृत्य में रुचि का वर्णन मिलता है। शतपथ ब्राह्मण (14, 3.1.35) सामगान को स्त्रियों का विशेष कार्य बताया है। इससे स्पष्ट है कि, स्त्रियाँ संगीत, नृत्य, गायन में प्रवीण होने के साथ – साथ मंत्रों की भी अच्छी ज्ञाता थी। बृहदारण्यक उपनिषद् (3.6.8, 2.4.3, 4.5.4) में वर्णित है कि, जनक की सभा में गार्गी – याज्ञवल्क्य संवाद एवं मैत्रेयी द्वारा ज्ञान प्राप्ति हेतु समस्त संपत्तिधिकार त्याग दिया था, यह स्त्रियों के ज्ञानवती एवं विदुषी होने का प्रतीक है। बृहदारण्यक उपनिषद्, (3.6) में वर्णित है कि, सामाजिक और धार्मिक उत्सवों, समारोहों में स्त्रियाँ अलंकृत होकर बिना किसी प्रतिबंध के उन्मुक्त होकर हिस्सा लेती थी। तैत्तिरीय संहिता (3.2.4.4) एवं अथर्ववेद (6.5.27–29) के उल्लेखों से विदित है कि, इस काल में भी नियोग प्रथा प्रचलित थी तथा विधवा को पुत्र प्राप्ति का अधिकार था। इस काल में स्त्रियों के राजनैतिक अधिकारों में कुछ कमी आयी, किन्तु यह भी सत्य है कि, राजसूय यज्ञ के दौरान जिन लगभग एक दर्जन 'रत्निनों' के घर राजा जाता था, उनमें से चार स्त्रियाँ होती थी। किन्तु यह भी सत्य है कि, 'सभा' में स्त्रियों का प्रवेश निषिद्ध हो गया था। उत्तर वैदिक काल में स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में कमी के प्रमाण मिलते हैं। अथर्ववेद (6.2.3) में पुत्री के जन्म पर खिन्नता का उल्लेख है। ऐतरेय ब्राह्मण (33.1) पुत्री को 'कृपण' कहता है। मैत्रायणी संहिता (3.6.3) एवं शतपथ ब्राह्मण (14.1.1.31) में भी स्त्री के लिए निन्दनीय शब्दों का प्रयोग कर एक बुराई के रूप में वर्णित किया गया है। अतः उत्तर वैदिक काल में स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में कमी आयी। सती प्रथा इस युग में प्रचलित नहीं थी, किन्तु राजा राधाकान्त देव ने कतिपय साहित्यिक अंशों के आधार पर सती प्रथा सिद्ध करने की चेष्टा की थी। प्रो० रोमिला थापर का मत है कि, 'वैदिक काल में सती प्रथा केवल प्रतीकात्मक थी', क्योंकि तैत्तिरीय संहिता (3.2.4.4) में 'देधिषव्य' (विधवा – पुत्र) शब्द उल्लिखित हैं। प्रो० रोमिला थापर का मत है कि, "दहेज और वधू मूल्य – दोनों प्रथाएँ प्रचलित थीं।" किन्तु कतिपय उदाहरणों के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि, उत्तर वैदिक काल में स्त्रियों की स्थिति नहीं अच्छी थी। उत्तर वैदिक कालीन ग्रंथों में स्त्रियों की अच्छी स्थिति के अधिक साक्ष्य उपलब्ध है। पुत्री के जन्म को हर्षोल्लास के साथ मनाने के अनेक वृत्तांत उत्तर वैदिक कालीन ग्रंथों में उपलब्ध है। बृहदारण्यकोपनिषद् में धीमती कन्या के जन्म के निमित्त विधि – नियम बताये गये हैं। उत्तर वैदिक काल में स्त्रियों को सभी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं धार्मिक अधिकार प्राप्त थे।

2.4.1.6 मनोरंजन के साधन :

उत्तर वैदिक कालीन समाज में आर्य सुखी – आनंदित जीवन के लिए उन्मुक्त होकर अनेक प्रकार के मनोरंजन के साधनों का उपयोग करते थे। रथदौड़, घुड़दौड़, आखेट, द्यूत, नृत्य, गान एवं संगीत आदि आर्यों के मनोरंजन के साधन थे। उत्तर वैदिक ग्रंथों में रथदौड़ एवं घुड़दौड़ के विजेताओं को इनाम देने के प्रमाण मिलते हैं। उत्तर वैदिक कालीन समाज में मनोरंजन के साधनों में नाटकों का प्रसार तेजी बढ़ा होगा।

क्योंकि, उत्तर वैदिक ग्रंथों में 'शैलूष' (नाटक के पात्र) तथा 'शत तंतु' (सौ तारों वाली वीणा) का उल्लेख सार्वजनिक महोत्सवों पर नाटक में सौ तारों वाली वीणा पर गाथाओं को गाने के प्रमाण मिलते हैं।

2.4.1.7 खानपान :

उत्तर वैदिक कालीन समाज में भी आर्य मूलतः शाकाहारी थे। उत्तर वैदिक कालीन समाज में आर्य शाकाहारी एवं मांसाहारी दोनों प्रकार का भोजन किया जाता था। किन्तु उत्तर वैदिक कालीन समाज में मांसाहार पर बड़ा परिवर्तन आया। क्योंकि, इस काल में मांस खाना बुरा माना जाने लगा था। शाकाहारी भोजन में दूध, दही, मक्खन, घी, शहद, गुड़, चीनी, दूध से बनी खीर, फल और सब्जियाँ आदि का प्रयोग किया जाता था। उत्तर वैदिक कालीन समाज में सुरापान अधिक प्रचलित हो गया था, किन्तु उत्तर वैदिक ग्रंथों में सुरापान को एक बुराई के रूप में वर्णित किया गया है। उत्तर वैदिक कालीन आर्यों का भी सर्वाधिक प्रिय पेय 'सोमरस' था।

2.4.1.8 शिक्षा :

उत्तर वैदिक कालीन समाज में एक बड़ा सामाजिक परिवर्तन शिक्षा के तेजी से प्रसार – प्रचार रूप में आया। उत्तर वैदिक काल में लेखन कला के अस्तित्व में आने के कारण शिक्षा के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन की ओर समाज अग्रसर हुआ। उत्तर वैदिक काल में 'उपनयन संस्कार' का उल्लेख मिलने लगता है। ए० एल० बाशम का मत है कि, 'उपनयन संस्कार अत्यधिक प्राचीन संस्कार था, जिसका समय आर्यों के भारतीय तथा ईरानी शाखाओं में विभाजित होने से पूर्व निर्धारित होता है, क्योंकि जोराष्ट्रिय धर्म में भी एक ऐसे ही संस्कार का प्रचलन था, जिसका एक रूप अब भी वर्तमान पारसियों में प्रचलित है।' उत्तर वैदिक कालीन समाज में भी शिक्षा राज्य का दायित्व नहीं था। शिक्षा गुरुकुलों, गुरुग्रहों, आचार्यकुलों में दी जाती थी। अथर्ववेद में शिक्षा का उद्देश्य श्रद्धा, मेधा, प्रज्ञा, धन, आयु, मोक्ष प्राप्ति बताया है। धार्मिक एवं साहित्यिक शिक्षा के साथ – साथ अस्त्र – शस्त्रों की युद्ध विद्या भी दी जाती होगी। उत्तर वैदिक काल में ब्राह्मणों के अतिरिक्त क्षत्रियों ने भी शिक्षादान प्रारंभ कर दिया था। उत्तर वैदिक ग्रंथों में हम अनेक तत्वज्ञानी, दार्शनिक एवं ब्रह्मज्ञानी क्षत्रियों का उल्लेख पाते हैं। शिक्षा सभी स्त्री एवं पुरुष समान रूप से प्राप्त करते थे। शिक्षा सभी वर्णों के लिए समान रूप से खुली हुई थी। फिर भी हमें उत्तर वैदिक कालीन समाज के परिवर्ती समय में शिक्षा में वर्ण विभेद के प्रमाण मिलने लगते हैं।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

(प) निम्नलिखित वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर दीजिए:

- उत्तर वैदिक काल में वर्णों की कितनी संख्या थी ?
(क) एक (ख) दो
(ग) तीन (घ) चार
- उत्तर वैदिक काल में आश्रमों की कितनी संख्या थी ?
(क) एक (ख) दो
(ग) तीन (घ) चार
- उत्तर वैदिक काल में विवाह कितने प्रकार के होते थे ?
(क) 5 (ख) 6
(ग) 7 (घ) 8
- 'देधिषव्य' क्या हैं ?

- (क) विधवा पुत्र (ख) राजपुत्र
 (ग) वणिक पुत्र (घ) इनमें से कोई नहीं
5. 'शैलूष' क्या हैं ?
 (क) नाटक (ख) वीणा
 (ग) नाटक के पात्र (घ) इनमें से कोई नहीं

(पप) निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:

- (क) मनोरंजन के साधन ।
 (ख) खानपान ।
- नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
 (अ) उत्तर वैदिक कालीन शिक्षा का विवरण दीजिये ?

2.4.2 आर्थिक स्थिति :

उत्तर वैदिक कालीन आर्यों के आर्थिक जीवन की पृष्ठभूमि पर भारी परिवर्तन और प्रगति आयी। कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था स्थापित हुई। कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था में लौह तकनीक ने क्रांतिकारी योगदान देना प्रारंभ किया। लोग बड़े- बड़े ग्रामों और नगरों में रहने लगे। उत्तर वैदिक कालीन आर्यों के आर्थिक जीवन में लघु उद्योग एवं व्यापार – वाणिज्य ने भी महत्वपूर्ण योगदान देना प्रारंभ किया।

2.4.2.1 कृषि एवं पशुपालन :

उत्तर वैदिक कालीन आर्यों आर्थिक जीवन एक बहुत बड़ा परिवर्तन यह आया कि, कृषि प्रमुख व्यवसाय बन गया था। लोग कृषिजीवी और स्थिरवासी हो गये थे। डी० डी० कौशाम्बी एवं डॉ० आर० एस० शर्मा का मत है कि, "इस काल में लौह तकनीक ने क्रांतिकारी योगदान दिया।" लोगों ने कृषि एवं अन्य कार्यों में लोहे का प्रयोग करके अभूतपूर्व उन्नति प्राप्त की। उत्तर वैदिक काल में गेहूँ, जौ, चावल, उड़द, मूंग, तिल, गन्ना आदि की फसल होती थी। अतरंजीखेड़ा से जौ, चावल, गेहूँ, तथा हस्तिनापुर से चावल एवं गन्ने के अवशेष मिले हैं। शतपथ ब्राह्मण में हल संबंधी अनुष्ठान का लम्बा वर्णन आया है। अथर्ववेद में हल को प्रवीरवंत (पवीरव) कहा गया है। विद्वानों के अनुसार, लकड़ी के फाल वाले हल से जुताई होती थी। शतपथ ब्राह्मण में जोतने को 'कर्षण' बोनने को 'वपन' काटने को 'कर्तन' माड़ने को 'मर्दन' शब्द व्यवहार में मिलता हैं। दात्र (सृणि) अर्थात् दर्राँती के अवशेष अतरंजीखेड़ा से प्राप्त हैं। काठक संहिता में हल जोतने के लिए 6 से 24 बैलों का उल्लेख मिलता हैं। तैत्तिरीय संहिता में धान की कई किस्मों का उल्लेख है। बृहदारण्यकोपनिषद् में 10 प्रकार के ग्रामीण अन्न का उल्लेख है। तैत्तिरीय संहिता में वर्ष में 2 बार तथा अष्टाध्यायी में तीन फसलों को उल्लेख किया है। उत्तर वैदिक कृषक कृषि में प्राकृतिक गोबर (शकृत, करीब), खाद् आदि उपयोग करते थे, उन्हें ऋतुओं का भी अच्छा ज्ञान था, जिसका उपयोग कृषि प्रक्रिया में करत थे। जोकि तत्कालीन विकसित कृषि प्रणाली का द्योतक हैं। तैत्तिरीय उपनिषद में उल्लेखित है कि, 'अन्न ही ब्राह्म है।' एवं 'अन्न बहु कुर्वति तद व्रतम्' अर्थात् 'अधिक अन्न उत्पन्न करना चाहिए, यही हमारा व्रत होना चाहिए।' अनावृष्टि, अतिवृष्टि, विद्युत्पात, कीड़े – मकोड़े और टिड्डियों के भय से निवारण हेतु अथर्ववेद में यंत्र – मंत्रों का उल्लेख मिलता है। छान्दोग्य उपनिषद 'एक दुर्भिक्ष का उल्लेख करता है, जो टिड्डियों द्वारा किये गये कृषि – विनाश के कारण पड़ा था।' उत्तर वैदिक कालीन आर्यों आर्थिक जीवन में कृषि के साथ ही पशुपालन का भी महत्वपूर्ण स्थान था। गाय – बैल, भैंस, भेड़ – बकरी, घोड़ा, हाथी, ऊँट, कुत्ता, सुअर, गधा आदि

का पशुपालन किया जाता था। उत्तर वैदिक काल में भी गाय को सर्वाधिक पवित्र एवं दैवीय माना जाता था।

2.4.2.2 लघु – उद्योग एवं व्यवसाय :

उत्तर वैदिक कालीन आर्यों के आर्थिक जीवन में लघु उद्योग एवं व्यापार – वाणिज्य ने महत्वपूर्ण योगदान देना प्रारंभ कर दिया था। उत्तर वैदिक कालीन ग्रंथों में वस्त्र बुननेवाले, वस्त्रों को काटनेवाले, सिलनेवाले, बुननेवाले, वस्त्रों पर कढ़ाई करनेवाले, वैद्य, धातुकर्म, कुम्हार, बढ़ई, चर्मकार या चमड़े का कार्य करने वाले, नाई, धोबी, मछुए, खेत बोनने वाले, रस्सी बटनेवाले, धनुषकार आदि अनेक व्यवसायों का उल्लेख मिलता है। उत्तर वैदिक कालीन ग्रंथों में सोना, चाँदी, ताँबा, सीसा, रांगा, टीन, पीतल एवं लोहे का उल्लेख मिलता है। पूर्व वैदिक काल की अपेक्षा उत्तर वैदिक काल में धातुकर्म का व्यवसाय अधिक प्रगतिशील एवं उन्नत अवस्था में आ गया था। इस काल में लोगों ने धातु गलाकर उसका शोधन करके विविध उपयोगी वस्तुओं के निर्माण में कुशलता प्राप्त कर ली थी। पंचविश ब्राह्मण के 'वयत्री' शब्द तथा शतपथ ब्राह्मण के 'तद्वा एतत्स्त्रीणां कर्म यदूर्णा सूत्रम' उल्लेख से स्पष्ट है कि, स्त्रीयाँ वस्त्र बुनने का कार्य करती थी। वाजसनेयी संहिता में वस्त्रों पर कढ़ाई करने वाली स्त्रियों को 'पेशस्करी' कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण में 'कुलाल चक्र' का उल्लेख मिलता है, कुलाल (कुम्हार) व्यवसाय के बारे में सूचना मिलती है। वाजसनेयी संहिता में पुरुष भेद के संबंध में अन्य छोटे – बड़े अनेक व्यवसायियों का उल्लेख किया गया है। इस काल में आर्य चाँदी का उपयोग करने लगे थे, अथर्ववेद में रजत (चाँदी) तथा तैत्तरीय संहिता में 'रजतहिरण्य' का उल्लेख है।

2.4.2.3 व्यापार – वाणिज्य :

उत्तर वैदिक कालीन आर्थिक जीवन में आंतरिक एवं वैदेशिक व्यापार का उल्लेख मिलता है। वाजसनेयी संहिता, तैत्तरीय ब्राह्मण आदि में 'वणिज' शब्द का प्रयोग 'व्यापारी' के अर्थ में हुआ है। अथर्ववेद में एक स्थान से दूसरे पर सामग्री ले जाने वाले व्यापारियों का उल्लेख है। साधारणतया व्यापार में विनिमय का माध्यम 'वस्तु – विनिमय' और 'गाय' प्रमुख थी। इस युग में निष्क, शतमान जैसे मुद्रा की सुविधाजनक ईकाइयों से व्यवसाय में उन्नति हुई। उत्तर वैदिक कालीन ग्रंथों में तौल की ईकाइयों कृष्णल, रक्तिका, गुंजा, पाद का उल्लेख मिलता है। उत्तर वैदिक कालीन ग्रंथों में ब्याज पर और उधार धन देने के मिलते हैं। इससे स्पष्ट है कि, लोग ब्याज पर और उधार धन लेकर व्यापार एवं व्यवसाय करते होंगे। इस युग में व्यावसायिक संघों के संकेत मिलते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में 'श्रेष्ठी' तथा वाजसनेयी संहिता 'गण' और 'गणपति' का उल्लेख करती है। मजूमदार, रायचौधरी, दत्त के अनुसार, 'समुद्र से लोग परिचित थे तथा समुद्री व्यापार सम्भवतः बेबिलोन के साथ होता था।'

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:

1. (क) वस्त्र व्यवसाय ।
(ख) व्यापार एवं वाणिज्य ।
2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
(अ) उत्तर वैदिक कालीन कृषि का विवरण दीजिये ?

2.4.3 धार्मिक स्थिति :

उत्तर वैदिक काल में धार्मिक स्थिति में अत्यधिक परिवर्तन हुआ। पूर्व वैदिक काल की अपेक्षा उत्तर वैदिक काल में यज्ञों एवं अनुष्ठानों का अधिक महत्व बढ़ गया। उत्तर वैदिक काल में धर्म में दार्शनिक चिंतनशील विचारधारा एवं ज्ञान तत्व का महत्व स्थापित हुआ। इस युग में यज्ञादि का एक स्वतंत्र पंथ के रूप में विकास हुआ। ग्रंथों में एक दिन, 12 दिन, एक वर्ष और कई वर्षों तक चलने वाले यज्ञों का वर्णन है, जिनमें 12 – 17 पुरोहितों की आवश्यकता होती थी। अश्वमेध, रायसूय, सोमयज्ञ, वाजपेय, अग्निष्टोम, पुरुषमेध आदि अनेक यज्ञ-अनुष्ठान उत्तर वैदिक कालीन धर्म के अभिन्न अंग बन चुके थे। डॉ० राजवली पाण्डेय का मत है कि, 'कर्मकाण्डों में धर्म की आत्मा सी दब गई थी।' उत्तर वैदिक कालीन ग्रंथों से ज्ञात होता है कि, यज्ञों में सैकड़ों एवं हजारों की संख्या में पशुबलि दी जाती थी। पुरुषमेध में तो पुरुष की बलि दी जाती थी। कर्मकांडीय – व्यवस्था के कुछ प्रमाण (?) प्राप्त हैं – इण्डियन आर्कियोलॉजी : ए रिव्यू, 1963 – 64 में अंकित है कि, अतरंजीखेड़ा से कुछ वृत्ताकार अग्निकुण्ड मिले हैं, जो शायद इसी उद्देश्य के लिए हो। डॉ० जी० आर० शर्मा का मत है कि, पुरुषमेध यज्ञ वेदी के प्रमाण कौशांबी से प्राप्त हैं। डॉ० डी० एन० झा एवं श्रीमाली का मत है कि, इस युग में एक ओर तो ब्राह्मणों द्वारा प्रतिपादित एवं पोषित यज्ञ, अनुष्ठान एवं कर्मकांडीय व्यवस्था थी तो दूसरी ओर इसके विरुद्ध उठाई गई उपनिषदों की आवाज।'

उत्तर वैदिक काल में उपनिषदों की विचारधारा ने कर्मकाण्डों पर गहरा आघात किया। मुण्डक उपनिषद में कहा गया है कि, "केवल कर्मकांडी मूर्ख है। यज्ञ के द्वारा संसार सागर से पार होना अनिश्चित है।" उपनिषदों ने ज्ञान मार्ग का रास्ता दिखाया। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि, "ज्ञान के बिना यज्ञ करना भी मृत्यु के आवर्त में ही चक्कर लगाना है।" उपनिषदों का विषय ब्रह्म और आत्मा है। उत्तर वैदिक काल में ब्रह्म, आत्मा, ज्ञान, मुक्ति और मोक्ष की अवधारणा स्थापित हो गयी थी। राधाकुमुद मुखर्जी का मत है कि, 'इस युग में हिन्दुत्व के प्रमुख सिद्धांत कर्म, माया और मुक्ति अर्थात् ब्रह्म में लीन होना आदि का प्रतिपादन हो गया था।' उत्तर वैदिक काल में प्रजापति सर्वोच्च देवता तथा रुद्र (शिव, महादेव, पशुपति) एवं विष्णु इस काल के प्रमुख देवता बन गए थे।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:

1. (क) यज्ञ एवं अनुष्ठान ।
(ख) उपनिषदों की विचारधारा ।
2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
(अ) उत्तर वैदिक कालीन धार्मिक स्थिति का विवरण दीजिये ?

2.4.4 राजनीतिक स्थिति :

उत्तर वैदिक काल की राजनीतिक स्थिति में अत्यधिक परिवर्तन आया। उत्तर वैदिक काल के राजनीतिक पटल पर साम्राज्यवाद का विकास हुआ। इस काल में कबायली संगठन में दरार पड़ी तथा शक्तिशाली राजतंत्रों का उदय हुआ। डॉ० आर० एस० शर्मा का मत है कि, विस्तार के दूसरे दौर में वैदिक लोग इसलिए सफल हुए कि, उन के पास लोहे के हथियार और अश्वचालित रथ थे।' ऐतरेय ब्राह्मण में राज्य की उत्पत्ति तथा राजा की दैवीय उत्पत्ति संबंधी विवरण दिए गये हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में राज्य, स्वराज्य, भौज्य, वैराज्य, महाराज्य और साम्राज्य का उल्लेख मिलता है। उत्तर वैदिक कालीन ग्रंथों से ज्ञात होता है कि, मध्य देश के राजा, 'राजा', पूर्व के राजा 'सम्राट', दक्षिण के 'भोज', पश्चिम के 'स्वराट' और उत्तरी जनपदों

के शासक 'विराट' कहलाते थे। राजा पदानुसार विभिन्न यज्ञों को सम्पादित करते थे। इस युग में राजा की अनिवार्यता एवं उसके दैवीय अधिकारों में वृद्धि हुई। अथर्ववेद के राजतिलकोत्सव मंत्र से स्पष्ट है कि, जनता राजा को चुनती थी किन्तु राजपद मुख्यतः वंशानुगत हो गया था। शतपथ ब्राह्मण में 'पाटव चाक्रस्थापिति' और 'दुष्टऋतु पौसायन' नामक राजाओं का उल्लेख है। इनके पूर्वज 10 पीढ़ियों से राज्य कर रहे थे।

राजा के राज्याभिषेक में 'रत्निनों' की सहमति आवश्यक थी। अथर्ववेद में 5, शतपथ ब्राह्मण में 11, तैत्तिरीय ब्राह्मण में 12 राज निर्माताओं का उल्लेख है। राजा के पदाधिकारी 'रत्निन' कहलाते थे। पंचविश ब्राह्मण में रत्निनों को 'वीर' कहा गया है। ये रत्निन थे – सेनानी, पुरोहित, ग्रामणी, युवराज, महिषी, क्षत्ता या क्षत्रि (प्रतिहारी), सूत्र (राजकीय चारण, कवि या स्थवाहक), अक्षवाप (जुए का निरीक्षक), पालागल (दूत), गोविकर्तन (आखेट में राजा का साथी), विकर्तन (राजा के साथ शतरंज खेलने वाला), संग्रहितृ (कोषाध्यक्ष), भागदूध (कर संग्रह करने वाला) आदि। इस युग में 'सचिव' नामक उपाधि का उल्लेख भी मिलता है। राजा सम्भवतः 1/16 आयकर लेता था। मजूमदार, रायचौधरी, दत्त का मत है कि, प्रांतीय शासन की नियमित व्यवस्था का प्रारम्भ स्थापति और शतपति के वर्णन से माना जा सकता है। स्थपति का काम बाहरी क्षेत्रों का प्रबंध करना था, जिनमें बहुधा केवल आदिवासी बसते थे जबकि शतपति सम्भवतः सौ गाँवों के एक समूह की देखभाल करता था। शतपति – स्मृति ग्रंथों में उल्लिखित ग्रामीण अधिकारियों की विशाल श्रृंखला के पूर्वज थे। प्रश्न उपनिषद के उल्लेखानुसार, इन अधिकारियों में 'ग्राम अधिकृत' सबसे निम्न स्तर पर थे, जिन्हें स्वयं राजा नियुक्त करता था।

2.4.4.1 सभा – समिति :

अथर्ववेद में सभा – समिति को प्रजापति की दो पुत्रियाँ कहा गया है। अथर्ववेद और ब्राह्मण ग्रंथों के वर्णनों से स्पष्ट है कि, इस काल में सभा – समिति की सम्मति के बिना राजा साधारणतया कुछ नहीं करता था। अथर्ववेद (5.19.15) में वर्णित है कि, राजा के लिए सबसे बड़ा श्राप यही था कि, उसे समिति का सहयोग प्राप्त न होना – "नास्मै समितिः कल्पते न मित्रं नयते वशम्।" डॉ० आर० एस० त्रिपाठी का मत है कि, 'राज्यों के विस्तृत होने के कारण सभा – समिति का राजा पर नियंत्रण स्वतः कम हो गया होगा।' डॉ० आर० एस० शर्मा का मत है कि, 'सत्ता धीरे धीरे प्रजाश्रित से प्रदेशाश्रित होती गई।' सभा न्यायिक कार्य भी करती थी।

2.4.4.2 न्याय – व्यवस्था :

उत्तर वैदिक काल में न्याय व्यवस्था में भी विकास हुआ। राजा सर्वोच्च न्यायाधीश होता था। उत्तर वैदिक काल में न्याय व्यवस्था से संबंधित अधिकारियों का उल्लेख मिलने लगते हैं। 'स्थपति' सम्भवतः न्यायाधीश होता था। ग्रामों में 'ग्राम्यवादिन' न्याय करता था। हत्या (मनुष्य) का दण्ड गाय देकर चुकाया जाता था। न्याय की 'दिव्य – प्रणाली' प्रचलित थी। प्रमुख अपराध चोरी, डकैती, व्यभिचार, हत्या, धोखाधड़ी थे। प्रो० रोमिला थापर का मत है कि, भूमि संबंधी झगड़ों और उत्तराधिकार की समस्याओं का उल्लेख मिलता है।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:

1. (क) सभा – समिति ।
(ख) न्याय व्यवस्था ।

2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:

(अ) उत्तर वैदिक कालीन राजनीतिक स्थिति का विवरण दीजिये ?

2.5 सारांश

वैदिक कालीन संस्कृति भारतीय मनीषियों की मेधा की उत्तम कृति है। प्रकृति के आंचल में पूर्व वैदिक कालीन संस्कृति का विकास हुआ। ग्राम प्रधान पूर्व वैदिक कालीन समाज के सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं राजनैतिक जीवन का क्रमिक विकास हुआ। उत्तर वैदिक कालीन संस्कृति में जटिल एवं परिपक्व प्रणालियों का विकास हुआ। समाज में वर्ण व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था, शिक्षा, धर्म में दार्शनिक एवं बौद्धिक चिंतनशील विचारधारा तथा जटिल यज्ञों एवं अनुष्ठानों का समावेश हुआ। राजनीतिक पटल पर साम्राज्यवादी राजतंत्रों का उदय हुआ। आर्थिक क्षेत्र में लौह तकनीक ने क्रांतिकारी योगदान दिया। लोग बड़े – बड़े ग्रामों और नगरों में रहने लगे।

2.6 तकनीकी शब्दावली

कृति :	रचना
मनीषी :	विद्वान, ऋषि – मुनि
लौकिक :	इस लोक का अर्थात् पृथ्वी लोक का
पारलौकिक :	ईश्वर का लोक अर्थात् स्वर्ग
अर्द्धांगी :	विवाहित पत्नी
महिषी :	रानी
रत्निन :	राज्य अधिकारी, सभासद, राजनीतिक रूप से प्रमुख व्यक्ति
ऋक् :	छन्दों और चरणों से युक्त मंत्र
साम :	गान
यजुः :	यज्ञ

2.7 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

इकाई 2.3.1 के स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

(प) निम्नलिखित वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर दीजिए:

1. देखिए 2.3.1.1 परिवार
2. देखिए 2.3.1.1 परिवार
3. देखिए 2.3.1.6 भोजन
4. देखिए 2.3.1.8 शिक्षा
5. देखिए 2.3.1.6 भोजन

(पप) निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:

1. (क) देखिए 2.3.1.8 शिक्षा
(ख) देखिए 2.3.1.5 वस्त्राभूषण
2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
(अ) देखिए 2.3.1.4 स्त्रियों की स्थिति

इकाई 2.3.2 के स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

(प) निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:

1. (क) देखिए 2.3.2.1 कृषि एवं पशुपालन

- (ख) देखिए 2.3.2.2 व्यवसाय
2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
(अ) देखिए 2.3.2.1 कृषि एवं पशुपालन

इकाई 2.3.4 के स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

- (प) निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:
1. (क) देखिए 2.3.4 धार्मिक – अवस्था
(ख) देखिए 2.3.4 धार्मिक – अवस्था
2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
(अ) देखिए 2.3.4 धार्मिक – अवस्था

इकाई 2.3.5 के स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

- (प) निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:
1. (क) देखिए 2.3.5.1 प्रशासनिक व्यवस्था
(ख) देखिए 2.3.5.1.6 विदथ (विधाता)
2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
(अ) देखिए 2.3.5.1.5 सभा और समिति

इकाई 2.4.1 के स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

- (प) निम्नलिखित वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर दीजिए:
1. देखिए 2.4.1.1 वर्ण – व्यवस्था
2. देखिए 2.4.1.2 आश्रम व्यवस्था
3. देखिए 2.4.1.4 विवाह
4. देखिए 2.4.1.5 स्त्रियों की स्थिति
5. देखिए 2.4.1.6 मनोरंजन के साधन
(पप) निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:
1. (क) देखिए 2.4.1.6 मनोरंजन के साधन
(ख) देखिए 2.4.1.7 खानपान
2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
(अ) देखिए 2.4.1.8 शिक्षा

इकाई 2.4.2 के स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:
(क) देखिए 2.4.2.2 लघु – उद्योग एवं व्यवसाय
(ख) देखिए 2.4.2.3 व्यापार – वाणिज्य
2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
(अ) देखिए 2.4.2.1 कृषि एवं पशुपालन

इकाई 2.4.3 के स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:
(क) देखिए 2.4.3 धार्मिक स्थिति
(ख) देखिए 2.4.3 धार्मिक स्थिति
2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:

(अ) देखिए 2.4.3 धार्मिक स्थिति

इकाई 2.4.4 के स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:

(क) देखिए 2.4.4.1 सभा – समिति

(ख) देखिए 2.4.4.2 न्याय – व्यवस्था

2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:

(अ) देखिए 2.4.4 राजनीतिक स्थिति

2.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. ओमप्रकाश – प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, नई दिल्ली, 1986
2. ओमप्रकाश – प्राचीन भारत का इतिहास, नई दिल्ली, 1986
3. बाशम, ए० एल० – अद्भुत भारत, आगरा, 1987
4. झा एवं श्रीमाली – प्राचीन भारत का इतिहास, दिल्ली, 2000
5. मिश्र, जयशंकर – प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पटना, 2006
6. मजूमदार, रायचौधरी, दत्त – भारत का बृहत्, इतिहास, खण्ड 1, नई दिल्ली, 1970
7. मजूमदार, रमेशचन्द्र – प्राचीन भारत, दिल्ली, 1973
8. मैकडोनल एवं कीथ – वैदिक इंडैक्स, लंदन, 1912
9. पाण्डेय, विमल चन्द्र – प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, इलाहाबाद, 1998
10. कौशांबी, डी० डी० – दि कल्चर एण्ड सिविलाजेशन ऑफ एशियन्ट इण्डिया, 1965
11. शर्मा, रामशरण – प्रारंभिक भारत का परिचय, नई दिल्ली, 2009
12. त्रिपाठी, आर० एस० – प्राचीन भारत का इतिहास, बनारस, 1998
13. काणे, पी० वी० – धर्मशास्त्र का इतिहास, पाँच जिल्दें, पूना, 1930 – 53
14. रायचौधरी, एच.सी. – पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एशियन्ट इण्डिया, कलकत्ता, बी.एन. मुखर्जी द्वारा सम्पादित, कलकत्ता, 1997
15. स्मिथ, बी.एस. – अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, ऑक्सफोर्ड, 1924
16. थापर, रोमिला – कल्चरल पास्ट्स : ऐसेज इन अर्ली इंडियन हिस्ट्री, एशियन्ट इण्डियन सोशल हिस्ट्री, नई दिल्ली, 1983
– भारत का इतिहास, नई दिल्ली, 1989
17. रैप्सन (संपा०) – कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, वो०1, कैम्ब्रिज, 1922

2.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. महाजन, विद्याधर – प्राचीन भारत का इतिहास, नई दिल्ली, 2008
2. श्रीवास्तव, के० सी० – प्राचीन भारत का इतिहास एवं संस्कृति, इलाहाबाद, 2007
3. शर्मा, आनन्द कुमार – भारतीय संस्कृति एवं कला, नई दिल्ली, 2011

2.10 निबंधात्मक प्रश्न

- प्रश्न 1. पूर्व वैदिक कालीन संस्कृति का विस्तृत रूप से विवरण दीजिये ?
- प्रश्न 2. उत्तर वैदिक कालीन संस्कृति का विस्तृत रूप से विवरण दीजिये ?

इकाई तीन : बौद्ध संस्कृति

- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 उद्देश्य
- 3.3 महात्मा बुद्ध का जीवन वृत्त
- 3.4 बौद्ध धर्म के सिद्धांत
 - 3.4.1 चार आर्य सत्य
 - 3.4.2 आष्टांगिक मार्ग
 - 3.4.3 मध्यमा प्रतिपदा
 - 3.4.4 प्रतीत्य समुत्पाद
 - 3.4.5 दस शील एवं आचरण
 - 3.4.6 क्षणिकवाद
 - 3.4.7 अनीश्वरवाद
 - 3.4.8 अनात्मावाद
 - 3.4.9 कर्म एवं पुनर्जन्म
 - 3.4.10 वेद, कर्मकांड एवं जाति में अविश्वास
 - 3.4.11 अहिंसा
 - 3.4.12 निर्वाण
- 3.5 महायान सम्प्रदाय
 - 3.5.1 योगाचार सम्प्रदाय
 - 3.5.2 माध्यमिक सम्प्रदाय
- 3.6 हीनयान सम्प्रदाय
 - 3.6.1 वैभाषिक सम्प्रदाय
 - 3.6.2 सौत्रान्तिक सम्प्रदाय

3.6.3 हीनयान और महायान सम्प्रदाय में अंतर

- 3.7 वज्रयान सम्प्रदाय
- 3.8 कालचक्रयान सम्प्रदाय
- 3.9 सारांश
- 3.10 तकनीकी शब्दावली
- 3.11 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर
- 3.12 संदर्भ ग्रंथ सूची
- 3.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 3.14 निबंधात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

छठी शताब्दी ई० पू० तक गंगा घाटी की उपत्तिकाओं में नीवन बौद्धिक वर्ग अस्तित्व में आने लगा था। इस समय चतुर्दिक भौतिक और अभौतिक प्रगति होने लगी। इस काल में लोहे के प्रयोग ने ऐतिहासिक भूमिका निभाई। लोहा युद्ध एवं कृषि कार्य में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने लगा, जिससे कुछ मूलभूत सामाजिक परिवर्तन सामने आने लगे। कृषिमूलक अर्थव्यवस्था ने वैदिक यज्ञ में पशुबलि का घोर विरोध करना प्रारंभ कर दिया। नवीन धार्मिक विचारधाराएँ वैदिक धर्म के विरुद्ध एक असंतोष के रूप में प्रगट होने लगीं। वैदिक कर्मकांडों, वैदिक यज्ञों में पशुबलि, बहुदेववाद, ब्राह्मणों के नैतिक पतन, सामाजिक असमानता, वर्णाश्रम व्यवस्था आदि अनेक कारणों से चतुर्दिक हलचल मचने लगी। चारों ओर तर्क – विर्तक होने लगे। चतुर्दिक धार्मिक बौद्धिक आंदोलन पुरातन जीवन दर्शन के विरोध में चलने लगे। इन्हीं परिस्थितियों और धार्मिक बौद्धिक आंदोलनों ने महात्मा बुद्ध और बौद्ध धर्म को जन्म दिया। तत्कालीन समय में बौद्ध संस्कृति ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर अपनी अमिट छाप छोड़ी।

3.2 उद्देश्य :

इस इकाई के अध्ययन के उद्देश्य निम्नलिखित हैं –

- 1 विद्यार्थी महात्मा बुद्ध के जीवन वृत्त को समझ सकेंगे।
- विद्यार्थी बौद्ध धर्म के सिद्धांतों को जान सकेंगे।
- विद्यार्थी सत्यचतुष्टय को समझेंगे।
- 4 विद्यार्थी आष्टांगिक मार्ग को जान सकेंगे।
- विद्यार्थी निर्वाण को समझ सकेंगे।
- विद्यार्थी महायान सम्प्रदाय को समझ सकेंगे।
- विद्यार्थी हीनयान सम्प्रदाय को समझ सकेंगे।
- विद्यार्थी योगाचार सिद्धांत के बारे में जानेगे।

3.3 महात्मा बुद्ध का जीवन वृत्त :

महात्मा बुद्ध का जन्म 563 ई० पू० में कपिलवस्तु के पास लुम्बिनी वन (वर्तमान रूमिन्देई) में हुआ था। लुम्बिनी वन वर्तमान उत्तर प्रदेश के बस्ती जिले के उत्तरी नेपाल की तराई में स्थित है। अशोक ने यहीं पर एक प्रस्तर स्तम्भ स्थापित करवाया था, जिस पर उत्कीर्ण है – ‘हिंद बुधे जाते साक्यमुनिहि हिंद भगवा जातेति’ अर्थात् यहाँ शाक्य मुनि बुद्ध उत्पन्न हुए थे – यहाँ भगवान उत्पन्न हुए थे। महात्मा बुद्ध के पिता शुद्धोधन शाक्य गणराज्य के राजा थे तथा माता का नाम मायादेवी (महामाया) था। मायादेवी (महामाया) कोलिय गणराज्य की राजकुमारी थीं। महात्मा बुद्ध के बचपन का नाम ‘सिद्धार्थ’ था। महात्मा बुद्ध के परिवार का गोत्र ‘गौतम’ था, इसी कारण महात्मा बुद्ध को ‘गौतम’ या ‘गौतम बुद्ध’ कहा जाता है। महात्मा बुद्ध के जन्म के सातवें दिन उनकी माता मायादेवी (महामाया) की मृत्यु हो गयी। इसी कारण मौसी व विमाता प्रजापति ने इनका पालन पोषण किया। महात्मा बुद्ध के जन्म के समय ज्योतिषियों ने भविष्यवाणी की थी कि, वे ज्ञानी या चक्रवर्ती सम्राट होंगे। वहीं, कालदेवल और कौडिन्य नामक ब्राह्मण विद्वानों ने भविष्यवाणी की कि, वे संसार का त्याग करेंगे अर्थात् संन्यासी होंगे।

महात्मा बुद्ध को समस्त प्रकार की राजकीय और युद्ध कौशल की उच्च शिक्षा दी गयी। महात्मा बुद्ध ने अपने प्रारंभिक राजकुमार कालीन जीवन में समस्त राजसी वैभव, सुख – सुविधाओं और ऐश्वर्यपूर्ण भोग – विलास आदि का उपभोग किया। 16 वर्ष की आयु में महात्मा बुद्ध का विवाह रामग्राम के कोलिय गणराज्य की राजकुमारी यशोधरा से हुआ। बौद्ध ग्रंथों में यशोधरा के भद्रकच्छा, बिम्बा, गोपा आदि नामों का भी उल्लेख मिलता है। किन्तु शनैः – शनैः महात्मा बुद्ध की प्रकृति और प्रवृत्ति चिंतनशील होने लगी। महात्मा बुद्ध की इस चिंतनशीलता को विविध घटनाओं ने तीव्रता प्रदान की। जिनका बौद्ध ग्रंथों में विस्तृत विवरण मिलता है। महात्मा बुद्ध को वृद्ध पुरुष, दुःखी रोगी, मृत शरीर तथा प्रसन्नचित संन्यासी इन चार दृश्यों को देखकर विरक्ति पैदा हुई। महात्मा बुद्ध ने सोचा कि, ‘संसार दुःखों का घर है तथा संन्यास ही इससे निवृत्ति का मार्ग है।’ महात्मा बुद्ध को 28 वर्ष की आयु में ‘राहुल’ नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। तब महात्मा बुद्ध ने कहा – “आज मेरे बंधन की श्रृंखला में एक कड़ी और जुड़ गई।”

अब महात्मा बुद्ध ने सांसारिक जीवन से संन्यास का निश्चय किया और 29 वर्ष की आयु में अपने प्रिय अश्व ‘कथक’ और सारथी ‘छन्दक’ को लेकर रात्रि में ही राज्य छोड़कर चले गये। गौतम बुद्ध के जीवन की इस घटना को बौद्ध ग्रंथों में “महाभिनिष्क्रमण” कहा गया है। महात्मा बुद्ध का गृहत्याग अचानक होने वाली कोई घटना नहीं थी, अपितु यह उनके दीर्घकालीन अनुभव और चिन्तन का परिणाम था।

महात्मा बुद्ध ने गृहत्याग के बाद ज्ञान की खोज में अनेक साधु-संन्यासियों से मुलाकात की तथा उनकी क्रियाओं एवं दर्शन का अनुसरण करने का प्रयास किया। आलार कालाम से साधना, वैराग्य, साँख्यदर्शन तथा उद्रक रामपुत्र से 'नैव संज्ञा - नासंज्ञायतन' नामक योग का ज्ञान प्राप्त किया। तत्पश्चात् गया के समीप निरंजना नदी के किनारे उरुबेला वन में 5 ब्राह्मणों के साथ कठोर तप किया। इससे भी उन्हें संतुष्टि नहीं मिली और उनका साथ छोड़ दिया। तत्पश्चात् उन्होंने निरंजना नदी (आधुनिक लिलाजन) के तट पर पीपल के वृक्ष के नीचे समाधि लगायी और आठवें दिन बैसाख पूर्णिमा के दिन उन्हें सच्चे ज्ञान की प्राप्ति हुई। इस घटना को 'सम्बोधि' कहा गया। पीपल के वृक्ष को 'बोधिवृक्ष', गया को 'बोध गया', पूर्णिमा को 'बुद्ध पूर्णिमा' तथा सिद्धार्थ को बुद्ध, तथागत, शाक्यमुनि कहा जाने लगा। इस प्रकार महात्मा बुद्ध ने दुःखों को दूर करने अर्थात् मुक्ति के मार्ग को ढूँढ लिया था। ज्ञातव्य रहे कि, महात्मा बुद्ध गृहत्याग के बाद लगातार 7 वर्षों तक ज्ञान की प्राप्ति के लिए भटकते रहे थे और उन्हें ये ज्ञान 35 वर्ष की आयु में प्राप्त हुआ था।

महात्मा बुद्ध ने सर्वप्रथम 'सारनाथ' (ऋषिपत्तन, मृगदाव) अपना पहला उपदेश दिया था। महात्मा बुद्ध ने उन पाँच तपस्वियों (आज, कौडिन्य, अस्सजि, वप्प, महानाम और भद्विय), जिन्होंने उनके साथ तपस्या की थी और पंचवर्गीय भिक्षु (पाँच के गुट में भ्रमण करने वाले भिक्षु) कहलाते थे को अपना पहला उपदेश दिया, जो 'धर्मचक्रप्रवर्तन' कहलाता है। महात्मा बुद्ध ने धर्म प्रचार हेतु वाराणसी में अपने 60 अनुयायियों के साथ एक संघ की स्थापना की। विद्वानों का मत है कि, यह संसार का पहला प्रचारक संघ था। महात्मा बुद्ध 45 वर्षों तक अनवरत् धर्मोपदेश करते रहे। वे अपने भ्रमण काल जीवन में पूर्व में चम्पा (आधुनिक भागलपुर) और संधाल परगना तक, पश्चिम में कुरुक्षेत्र (हस्तिनापुर - हरियाणा) के कम्पासदम्भ और शुल्लकोद्धित नगरों तक, उत्तर में कपिलवस्तु तथा दक्षिण में कौशाम्बी तक के क्षेत्रों में गए थे। उज्जैन के लोगों ने उन्हें बुलाया किन्तु वे वहां जा न सके। उनके जीवनकाल के लगभग 25 वर्ष श्रावस्ती में व्यतीत हुए।

80 वर्ष की अवस्था तक बुद्ध धर्म प्रचार करते रहे। 'पावा' में उनके शिष्य कुन्त लौहकार ने उन्हें भोजन में 'शूकर मांस' का भोजन खिला दिया, जिसके कारण उन्हें अतिसार रोग हो गया था। और 483 ई० पू० में वैशाख पूर्णिमा के दिन 'कुशीनगर' में शालवृक्ष के नीचे लेटे हुए रात्रि में उनका देहान्त हो गया। महात्मा बुद्ध के जीवन की इस घटना को बौद्ध ग्रंथों में "महापरिनिर्वाण" कहा गया है। कुशीनगर (उ० प्र० के देवरिया जिले का वर्तमान कसिया ग्राम) जो मल्लो की राजधानी थी। महात्मा बुद्ध के अंतिम शब्द थे - "समस्त संगठित पदार्थ क्षमशील है। परिश्रम के साथ चेष्टा करो।" महात्मा बुद्ध के मृत्यु स्थल (शालवन उपवत्तन, कुशीनगर) व दाहक्रिया स्थल (राम संभार सरोवर के किनारे) आज भी दो स्तूप विद्यमान हैं।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

(प) निम्नलिखित वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर दीजिए:

1. महात्मा बुद्ध का जन्म हुआ था ?

(क) 563 ई० पू०	(ख) 564 ई० पू०
(ग) 565 ई० पू०	(घ) इनमें से कोई नहीं
5. महात्मा बुद्ध की ज्ञान प्राप्ति कहते हैं ?

(क) धर्मचक्रप्रवर्तन	(ख) महाभिनिष्क्रमण
(ग) सम्बोधि	(घ) इनमें से कोई नहीं
3. महात्मा बुद्ध का गृहत्याग कहलाता है ?

- (क) धर्मचक्रप्रवर्तन (ख) महाभिनिष्क्रमण
(ग) सम्बोधि (घ) इनमें से कोई नहीं
4. महात्मा बुद्ध के प्रथम प्रवचन को कहते हैं ?
(क) धर्मचक्रप्रवर्तन (ख) महाभिनिष्क्रमण
(ग) सम्बोधि (घ) इनमें से कोई नहीं
5. महात्मा बुद्ध की मृत्यु को कहा जाता है ?
(क) धर्मचक्रप्रवर्तन (ख) सम्बोधि
(ग) महापरिनिर्वाण (घ) इनमें से कोई नहीं
- (पप) निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:
1. (क) महात्मा बुद्ध का गृहत्याग।
(ख) महात्मा बुद्ध का महापरिनिर्वाण।
2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
(अ) महात्मा बुद्ध के जीवन वृत्त का विवरण दीजिये ?

3.4 बौद्ध धर्म के सिद्धांत :

महात्मा बुद्ध ने बौद्ध धर्म के रूप में विश्व को एक ऐसी आचार संहिता दी है। जिसमें समस्त जीवों के कल्याण की भावना निहित है। महात्मा बुद्ध बड़े व्यावहारिक सुधारक थे। उनके उपदेशों का अंतिम उद्देश्य 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' था। वस्तुतः बौद्ध धर्म में मानवता की पराकाष्ठा निहित है। महात्मा बुद्ध ने अपने जीवन का प्रथम उपदेश सारनाथ में दिया था और उसी में बौद्ध धर्म के समस्त सिद्धांत और शिक्षाओं का सार निहित था। संयुक्त निकाय के धर्मचक्रप्रवर्तन सूत्र के उल्लेखानुसार, बुद्ध के प्रथम उपदेश निम्न थे – परिव्राजक को काया – क्लेश और काम सुख से बचना चाहिए। उसे 'मज्झिम पतिपदा' (मध्यम मार्ग) का अनुसरण करना चाहिए तथा 'सत्यचतुष्टय' का पालन करना चाहिए।

3.4.1 चार आर्य सत्य (सत्यचतुष्टय) :

बौद्ध धर्म के मूलभूत सिद्धांतों की आधारशिला चार आर्य सत्य है। बौद्ध धर्म की विविध शिक्षाओं और सिद्धांतों की जड़ों में चार आर्य सत्यों का सार निहित है। किसी न किसी रूप में चार आर्य सत्य बौद्ध धर्म के अंगोपांग में समाहित रहते हैं। ये चार आर्य सत्य हैं –

(अ) **दुःख** :- महात्मा बुद्ध के अनुसार संपूर्ण जीवन में जन्म से लेकर मृत्यु तक दुःख ही दुःख है। महात्मा बुद्ध ने कहा है कि, जन्म-मरण, प्रिय-वियोग, किसी प्रिय एवं इच्छित वस्तु का न मिलना आदि सभी दुःख हैं।

(ब) **दुःख समुदाय (दुःख का कारण)** :- महात्मा बुद्ध ने समस्त दुःखों की जड़ 'तृष्णा' को बताया है। महात्मा बुद्ध ने सांसारिक मोह – माया और व्यक्ति की अनंत इच्छाओं से उत्पन्न 'तृष्णा' को दुःखों का मूल कारण माना है। 'तृष्णा' के जाल में फंसा मनुष्य कभी भी दुःख से मुक्ति नहीं पा सकता।

(स) **दुःख निरोध** :- दुःख निरोध से आशय तृष्णाओं से मुक्ति या छुटकारा पाना है। महात्मा बुद्ध ने तृष्णाओं के नाश को 'दुःख निरोध' कहा है।

(द) दुःख निरोधगामिनी प्रतिपदा :- दुःख निरोधगामिनी प्रतिपदा से आशय ऐसे मार्ग से है, जिसके पालन करने से समस्त दुःखों से मुक्ति या छुटकारा मिल जाता है। दुःख निरोधगामिनी प्रतिपदा अर्थात् दुःख निरोध या दुःखों से मुक्ति के लिए महात्मा बुद्ध ने 'आष्टांगिक मार्ग' के पालन की सलाह दी है। महात्मा बुद्ध के कहने का आशय यह है कि, यदि दुःखों से मुक्ति या छुटकारा चाहिए तो 'आष्टांगिक मार्ग' सुचिता युक्त मार्ग पर चलो। प्र० रोमिला थापर का कथन है कि, 'आष्टांगिक मार्ग' अर्थात् संतुलित, सरल जीवन की ओर अग्रसर करने वाले कर्म के आठ सिद्धांत।'

3.4.2 आष्टांगिक मार्ग :

महात्मा बुद्ध ने ज्ञान और मुक्ति के मार्ग में आने वाली बाधाओं के मूल में समस्त प्रकार के दुःखों को माना है। इसीलिए महात्मा बुद्ध ने दुःखों के निवारण हेतु 'आष्टांगिक मार्ग' का सृजन किया। वस्तुतः दुःखों से मुक्ति और निर्वाण प्राप्ति हेतु महात्मा बुद्ध द्वारा सुझाया गया रास्ता, आष्टांगिक मार्ग है। आष्टांगिक मार्ग के आठ अंग हैं -

1. सम्यक दृष्टि :- सम्यक दृष्टि से तात्पर्य है, सही और वास्तविकता का ज्ञान होना। न्यायशील, तर्कयुक्त, जांच - परख कर किये गये कार्यों को 'सम्यक दृष्टि' कहा जा सकता है। बौद्ध धर्म ग्रंथों में सम्यक दृष्टि से तात्पर्य ऐसे तर्कयुक्त विवेक से है, जो चार आर्य सत्यों की सही परख कर सके।
2. सम्यक् संकल्प :- सम्यक् संकल्प से तात्पर्य है, सार्थक दृढ़ निश्चय से है। जोकि, ऐसी समस्त वस्तुओं का त्याग कर सके जो मुक्ति और निर्वाण की प्राप्ति में बाधक हो। बौद्ध धर्म ग्रंथों में सांसारिक मोह - माया का त्याग, द्वेष, हिंसा के त्याग का संकल्प करना सम्यक् संकल्प है।
3. सम्यक् वाक् :- सम्यक् वाक् से तात्पर्य, सही, उचित, सार्थक वाणी (बोलने) से है। महात्मा बुद्ध का उपदेश है कि, ऐसी वाणी बोलना चाहिए, जो सत्य हो, विनम्र हो, और दयालुतापूर्ण हो। वही, सम्यक् वाक् है। सम्यक् वाक् का प्रधान विषय 'धर्म - वार्ता' होता है।
4. सम्यक् कर्मान्त :- सम्यक् कर्मान्त से तात्पर्य, सही, उचित और सार्थक सत्कर्मों से है। बौद्ध धर्म ग्रंथों में अहिंसा तथा इंद्रिय संयम को सम्यक् कर्मान्त माना गया है।
5. सम्यक आजीव :- सम्यक आजीव से तात्पर्य, सही, उचित और सार्थक कार्यों, व्यवसाय, उद्योग का जीवन यापन के लिए चुनाव करना। कुल मिलाकर जीवन यापन हेतु किसी प्रकार का अनुचित कार्य नहीं करना जिसे धर्म और समाज मान्यता प्रदान नहीं करता हो। सम्यक आजीव व्यक्ति को जीवकोपार्जना हेतु पवित्र और उचित रास्ते को चुनने का मार्ग है।
6. सम्यक् व्यायाम :- सम्यक व्यायाम से तात्पर्य ऐसे प्रयत्न से है, जो पूर्णतः शुद्ध और ज्ञान युक्त हो।

7. सम्यक् स्मृति :- सम्यक् स्मृति से तात्पर्य है, मन, वचन तथा कर्म की प्रत्येक क्रिया के प्रति सचेत रहना।

8. सम्यक् समाधि :- सम्यक् समाधि से तात्पर्य है, मन की एकाग्रता से हैं। चित्त (मन) की एकाग्रता के बिना सम्यक् समाधि संभव नहीं है।

मज्जमदार, रायचौधरी, दत्त का मानना है कि, “यह वह मार्ग था, जिसने ज्ञान चक्षु खोले, बुद्धि दी तथा जो मानसिक शान्ति, उच्चतर ज्ञान, पूर्ण मानसिक उन्नति और निर्वाण की ओर ले जाता था।” रिज्स डेविड्स का मानना है कि, “चार आर्य सत्य एवं आष्टांगिक मार्ग में ही बौद्ध धर्म का सार निहित है।

3.4.3 मध्यमा प्रतिपदा :

मध्यमा प्रतिपदा दो शब्दों मध्यमा और प्रतिपदा से मिलकर बना है। मध्यमा से तात्पर्य मध्यम या बीच का तथा प्रतिपदा का अर्थ रास्ते या मार्ग से है। अर्थात् मध्यमा प्रतिपदा से तात्पर्य बीच के रास्ते या मध्यम मार्ग से है। महात्मा बुद्ध ने मध्यमा प्रतिपदा सिद्धांत का प्रतिपादन अपने गहन अनुभवों एवं चिंतन से किया था। मध्यमा प्रतिपदा महात्मा बुद्ध के जीवन में हुई वास्तविक घटनाओं से प्राप्त ज्ञान का निचोड़ है। महात्मा बुद्ध ने अपने जीवन में राजसी वैभव, भोग – विलास आदि का अनुभव किया था। इससे उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ कि, अत्यन्त भोग – विलास से मुक्ति और निर्वाण की प्राप्ति संभव नहीं है। साथ ही, महात्मा बुद्ध ने अपने जीवन में स्वयं के शरीर को अत्यधिक शारीरिक कष्ट में झोंक दिया था और कठोर एवं घोर तपस्या की थी। इससे उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ कि, अत्यधिक शारीरिक कष्ट और कठोर तप-जप से भी मुक्ति और निर्वाण की प्राप्ति संभव नहीं है। अतः महात्मा बुद्ध ने ‘मध्यमा प्रतिपदा’ सिद्धांत का सृजन करके साधकों के लिए इनके बीच के रास्ते की खोज की। महात्मा बुद्ध ने अपने अनुयायियों से कहा कि, मुक्ति और निर्वाण के लिए शरीर को अत्यधिक कष्ट देने या अत्यन्त भोग – विलास की आवश्यकता नहीं है। बल्कि, मुक्ति और निर्वाण के लिए व्यक्ति को इसके बीच के मार्ग का चयन करना चाहिए। वस्तुतः दुःख निरोध हेतु प्रतिपादित आष्टांगिक मार्ग ही, मध्यमा प्रतिपदा (मध्यम मार्ग) हैं।

3.4.4 प्रतीत्य समुत्पाद :

बौद्ध धर्म के प्रतीत्य समुत्पाद सिद्धांत के मूल में कारणवाद या कार्य – कारण की धारणा निहित है। प्रतीत्य समुत्पाद दो शब्दों प्रतीत्य और समुत्पाद से मिलकर बना है। प्रतीत्य का अर्थ है, इसके होने से तथा समुत्पाद का अर्थ है, ऐसा होता है। तात्पर्य यह है कि, प्रत्येक बात या घटना के पीछे कोई न कोई कारण अवश्य होता है, बिना कारण कुछ नहीं होता। वस्तुतः यह प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति और अनुत्पत्ति का दर्शन है। डॉ० डी० एन० झा एवं श्रीमाली का मत है कि, “यह नियम शाश्वत् है तथा इसके आधार पर बुद्ध ने तृष्णा को दुःख का कारण बतलाया।” डॉ० विमलचन्द्र पाण्डेय का मत है कि, “रोग के कारण को समझे बिना निदान नहीं हो सकता – यही महात्मा बुद्ध का मंतव्य था।” बौद्ध धर्म में प्रतीत्य समुत्पाद का सिद्धांत वैज्ञानिक चिंतन और तर्कवाद का उत्तम उदाहरण है। प्रतीत्य समुत्पाद सिद्धांत के मूल में बौद्ध धर्मावलंबियों के लिए संदेश है कि, किसी वस्तु या बात को तब तक स्वीकार्य न मक करो, जब तक कि, इसके मंतव्य को न समझ लो। निश्चित रूप से प्रतीत्य समुत्पाद का सिद्धांत बौद्ध दार्शनिकों के गहन अनुभवों एवं चिंतन का प्रतिफल है। कतिपय विद्वानों की धारणा है कि, प्रतीत्य समुत्पाद का सिद्धांत सांख्य दर्शन, वृहदारण्यक उपनिषद आदि पूर्ववर्ती दार्शनिक चिंतन से अवश्य प्रभावित है।

3.4.5 दस शील एवं आचरण :

बौद्ध दार्शनिकों ने ज्ञान और मुक्ति के मार्ग को प्राप्त करने के लिए दस शील एवं शुद्ध, विकार मुक्त आचरण के पालन करने की सलाह दी है। बौद्ध धर्मावलंबियों के लिए मुक्ति के प्रयास की सर्वप्रथम आवश्यकता शील है – (1) अहिंसा (2) सत्य, (3) अस्तेय (चोरी न करना), (4) अपरिग्रह (सम्पत्ति का त्याग), (5) ब्रह्मचर्य (6) दुराचरण का त्याग (7) नृत्य, गान व मादक वस्तुओं का त्याग, (8) विलासिता का त्याग (9) असमय भोजन का त्याग (10) कामिनी कंचन का त्याग। उपर्युक्त प्रथम पाँच गृहस्थों के लिए एवं सभी दस शील भिक्षुओं के लिए थे, जिनके पालन से शुद्ध आचरण सम्भव हो सकता है।

3.4.6 क्षणिकवाद :

क्षणिकवाद बौद्ध धर्म के मूलभूत सिद्धांतों में से एक है। महात्मा बुद्ध ने संसार को क्षण – भंगुर माना है। महात्मा बुद्ध का कथन है कि, संसार की प्रत्येक वस्तु क्षणिक तथा सदैव परिवर्तनशील हैं। क्षणिकवाद सिद्धांत महात्मा बुद्ध के संसार के बारे में दार्शनिक चिंतन है। क्षणिकवाद सिद्धांत के द्वारा महात्मा बुद्ध बताना चाहते हैं कि, यह संसार और इसकी प्रत्येक रचना का विनाश निश्चित है। अतः मोह – माया को त्याग दो।

3.4.7 अनीश्वरवाद :

बौद्ध धर्म ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानता और नहीं सृष्टि की उत्पत्ति ईश्वर से मानता है। बौद्ध धर्म कहता है कि, सृष्टि की उत्पत्ति के लिए ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। बौद्ध धर्म का मानना है कि, इस संसार का निर्माण ईश्वर ने किया है। संसार एवं उसकी प्रत्येक वस्तु एवं जीवन की उत्पत्ति प्राकृतिक कारणों से हुई है। बौद्ध धर्म का मानना है कि, सृष्टि का उत्थान और पतन प्राकृतिक नियमों के अनुसार होता है। कार्य – करण श्रृंखला से विश्व चलता है। प्रो० रोमिला थापर का मानना है कि, “सृष्टि का विश्लेषण बौद्ध दर्शन में कारणवाद के आधार पर किया गया, जिसमें विवेकाश्रित तर्क की प्रधानता थी।” महात्मा बुद्ध ने कभी भी ईश्वर के अस्तित्व के बारे में पूछे गये प्रश्नों के उत्तर नहीं दिये थे। वे हमेशा ऐसे प्रश्नों को टाल देते थे।

3.4.8 अनात्मावाद :

बौद्ध धर्म आत्मा के अस्तित्व को नहीं मानता है। महात्मा बुद्ध की धारणा है कि, शरीर का निर्माण पृथक – पृथक प्रकार के विविध तत्वों से हुआ है और शरीर के ये तत्व मृत होने पर प्रकृति में विलीन हो जाते हैं। अतः शरीर के निर्माण और संचालन में आत्मा की कोई भूमिका नहीं है। महात्मा बुद्ध ने आत्मा के विषय पर चर्चा को निरर्थक माना। महात्मा बुद्ध ने हमेशा आत्मा के विषय एवं अस्तित्व के बारे में पूछे गये प्रश्नों के उत्तरों को टालना ही उचित समझा। बौद्ध धर्म ग्रंथ मज्झिम निकाय के सब्बासव सुत्तन्त में उल्लेखित है कि, बुद्ध ने आत्मा के विषय पर विचार करना मना किया था, उन्होंने इसे “अमनसिकरणीय” धर्म बताया है। डॉ० आर० एस० शर्मा का कहना है कि, “बुद्ध बड़े ही व्यावहारिक सुधारक थे। उन्होंने अपने समय की वास्तविकताओं को खुली आंखों से देखा। वे उन निरर्थक वाद – विवादों में नहीं उलझे जो उनके समय में ‘आत्मा’ और ‘परमात्मा’ के बारे में जोरों से चल रहे थे।” ए० एल० बाशम का कथन है कि, ‘बौद्ध धर्म, एक ऐसा धर्म है, जिसमें न कोई देवता है और न कोई आत्मा।’

3.4.9 कर्म एवं पुनर्जन्म :

महात्मा बुद्ध ने बौद्ध धर्म को कर्म प्रधान बनाने के लिए कर्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। महात्मा बुद्ध का उपदेश है कि, कर्म प्रतिफल का कारक है। मनुष्य जैसा कर्म करेगा उसे वैसा ही फल मिलेगा। मनुष्य के कर्मानुसार ही उसे सुख – दुःख मिलता है। प्रो० रोमिला थापर ने लिखा है कि, “बौद्धों के मुक्ति मार्ग के लिए कर्म का सिद्धान्त आवश्यक था।” महात्मा बुद्ध का कथन है कि, अच्छे कर्मों से निर्वाण प्राप्त होता है। मनुष्य के कर्मानुसार ही उसका पुनर्जन्म होता है। मनुष्य का वर्तमान जीवन उसके अतीत के कर्मों का साकार रूप होता है। बौद्ध धर्म ग्रंथ मज्झिम निकाय में उल्लेखित है कि, अपने कर्मों के आधार पर मनुष्य अच्छा – बुरा जन्म पाता है। आत्मा के अस्तित्व के अभाव में कर्मानुसार जन्म किसका होता है ? कौन फल भोगता है ? बौद्ध धर्म में इसका प्रतिवाद द्वीप शिक्षा से दिया गया है, जो अन्य दीप की शिक्षा को प्रज्वलित करके स्वयं बुझ जाती है। दोनों में कार्य – करण का संबंध है। मिलिन्दपन्हों में नागसेन इस प्रश्न का उत्तर देता है – ‘एक जन्म की अंतिम चेतना के विलय होते ही, दूसरे जन्म की प्रथम चेतना का उदय होता है, बिना किसी व्यवधान के।’ किन्तु यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात यह है कि, पुनर्जन्म का यहां पर यह अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि, आत्मा का एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश हो सकता है।

3.4.10 वेद, कर्मकांड एवं जाति में अविश्वास :

महात्मा बुद्ध ने ब्राह्मण धर्म की मूलभूत स्थापनाओं वेद, वैदिक कर्मकांडों एवं जाति व्यवस्था पर करार प्रहार किया। महात्मा बुद्ध ने वेदों की प्रामाणिकता को अस्वीकारते हुए इन्हें ईश्वर कृत नहीं माना। वस्तुतः वेद एवं वैदिक मंत्र महात्मा बुद्ध की दृष्टि में केवल जलविहीन मरुस्थल तथा पंथहीन जंगल के समान थे। महात्मा बुद्ध ने ब्राह्मण धर्म के कर्मकांडों, यज्ञ पशुबलि तथा जात – पांत के भेद को अस्वीकारते हुए समानता पर बल दिया। महात्मा बुद्ध ने बौद्ध धर्म के द्वार सभी जातियों एवं सभी प्रकार के व्यक्तियों के लिए खोल दिए थे। महात्मा बुद्ध ने समतामूलक समाज की परिकल्पना की थी।

3.4.11 अहिंसा :

अहिंसा बौद्ध धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों में से एक है। वस्तुतः अहिंसा का सिद्धान्त बौद्ध धर्म के आधार स्तम्भ के समान है। महात्मा बुद्ध प्राणी के लिए दया, करुणा और प्रेम के सागर के समान थे। वे प्राणी के प्रति किसी भी प्रकार के कष्ट या जीव हत्या के मौलिक रूप से विरोधी थे। वस्तुतः महात्मा बुद्ध अहिंसा के पुजारी थे। उन्होंने अपने संपूर्ण जीवन में ‘अहिंसा परमोधर्म’ के सिद्धान्त का उन्होंने प्रचार – प्रसार किया।

3.4.12 निर्वाण :

निर्वाण का सिद्धान्त बौद्ध धर्म का आधारभूत सिद्धान्त है। बौद्ध धर्म के समस्त धार्मिक सिद्धान्तों एवं क्रियाकलापों का अंतिम परम लक्ष्य निर्वाण है। निर्वाण का शाब्दिक अर्थ ‘बुझ जाना’ या जीवन की समस्त कामनाओं – लालसाओं से मुक्ति, दुःख का अंत, पुनर्जन्म से मुक्ति है। निर्वाण की स्थिति पूर्णतया शान्त, स्थिर, आसक्ति एवं तृष्णाविहीन होती है। वस्तुतः निर्वाण का अर्थ अज्ञान रूपी अंधकार का दूर होना है तथा ज्ञान युक्त परमसुख की स्थिति में पहुंचना है। निर्वाण प्राप्त व्यक्ति को ‘अर्हत्’ कहा जाता है। बौद्ध धर्म में निर्वाण व्यक्ति के जीवनकाल में ही प्राप्त होता है, मरने के बाद नहीं। महात्मा बुद्ध ने निर्वाण का अर्थ, ‘परम ज्ञान’ बताया है। महात्मा बुद्ध ने अपने जीवनकाल में ही निर्वाण प्राप्त किया था।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

(प) निम्नलिखित वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर दीजिए:

1. बौद्ध धर्म के दसों शील एवं आचरण का पालन करना किसके लिए आवश्यक है ?
(क) गृहस्थों के लिए (ख) भिक्षुओं के लिए
(ग) दोनों के लिए (घ) इनमें से कोई नहीं
2. बौद्ध धर्म के अनीश्वरवाद से आशय है ?
(क) ईश्वर के अस्तित्व को मानना (ख) ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानना
(ग) उपर्युक्त दोनों सही (घ) इनमें से कोई नहीं
3. बौद्ध धर्म के अनात्मावाद से आशय है ?
(क) आत्मा के अस्तित्व को मानना (ख) आत्मा के अस्तित्व को नहीं मानना (ग) उपर्युक्त दोनों सही (घ) इनमें से कोई नहीं
4. बौद्ध धर्म में कर्म एवं पुनर्जन्म की क्या धारणा है ?
(क) कर्म एवं पुनर्जन्म को मानना (ख) कर्म एवं पुनर्जन्म को नहीं मानना (ग) उपर्युक्त दोनों सही (घ) इनमें से कोई नहीं
5. बौद्ध धर्म का वेद, वैदिक कर्मकांडों एवं जाति व्यवस्था में अविश्वास था ?
(क) हाँ (ख) नहीं
(ग) कह नहीं सकते (घ) इनमें से कोई नहीं

(पप) निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:

1. (क) मध्यमा प्रतिपदा ।
(ख) प्रतीत्य समुत्पाद ।
2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
(अ) आष्टांगिक मार्ग का विवरण दीजिये ?

3.5 महायान सम्प्रदाय :

महायान शाखा का उदय, बौद्ध धर्म में नवीन परिवर्तन का प्रतीक है। बौद्ध धर्मावलंबियों की महात्मा बुद्ध में असीम श्रद्धा की भावना ने महायान के उदय में आधारभूत भूमिका निभायी। बौद्ध धर्मावलंबियों ने महात्मा बुद्ध को ईश्वर का रूप माना और 'दैवीय अवतार' मानकर भगवान की तरह पूजना प्रारंभ कर दिया। बौद्ध धर्मावलंबियों ने महात्मा बुद्ध की मूर्ति पूजा प्रारंभ कर दी। महायान धर्म में महात्मा बुद्ध एवं बोधिसत्त्वों को देव रूप माना। डॉ० विमलचन्द्र पाण्डेय ने ठीक ही लिखा है कि, "महायान ने महात्मा बुद्ध और अन्य बोधिसत्त्वों को देवरूप दे दिया। महात्मा बुद्ध के प्रति भक्ति और अनुराग अब मोक्ष के सर्वसुगम एवं सर्वश्रेष्ठ साधन बन गये, परिणामतः महायान भक्तिवादी, अवतारवादी और मूर्तिवादी बन गया।" हीनयानी इसे विधर्म तथा कुछ विद्वान बौद्ध धर्म का विकृत रूप कहने लगे। कुछ विद्वानों ने महायान को बोधिसत्त्वों का धर्म कहा है।

ए० एल० बाशम का मानना है कि, "महायान में बोधिसत्त्व की कल्पना एक ऐसी प्राणी के रूप में नहीं जो निर्वाण शीघ्र प्राप्त कर लेगा वरन् ऐसे प्राणी के रूप में जो अपने समय की उस अवधि तक प्रतीक्षा करेगा, जब तक क्षुद्रतम जीव भी सर्वोच्च उद्देश्य को प्राप्त नहीं कर लेता।" ए० एल० बाशम, महायान में बोधिसत्त्व की उपस्थिति को ईसाईयत् का प्रभाव मानते हैं। महायान के द्वार सभी प्राणियों के लिए खुले हुए थे। गृहस्थ भी इसे ग्रहण कर सकते थे। निर्वाण हेतु महायान साधक को 'दस अवस्थाओं से

होकर गुजरना होता था – मुदिता, विमला, प्रभाकारी, अर्चिष्मती, सुदुर्जया, अभिमुक्ति, दूरगंभा, अचला, साधमती तथा धर्मसेध।

विद्वानों का मत है कि, महायान बौद्ध धर्म का जन्म प्रथम शताब्दी ई० पू० में आंध्रदेश में हुआ था। कनिष्क काल में कश्मीर में हुई चतुर्थ बौद्ध संगीति ने महायान बौद्ध धर्म को अभूतपूर्व प्रसिद्धि प्रदान की। नागार्जुन, आर्यदेव, आसंग तथा वसुबंधु के नेतृत्व में महायान बौद्ध धर्म पूर्ण प्रसिद्धि को प्राप्त हो गया। महायान के उदय के विषय में डॉ० आर० सी० मजूमदार का मानना है कि, “महायान उत्थान से बुद्धमत को भारत तथा भारत से बाहर विकसित होने में विशेष सहायता मिली।” योगाचार (विज्ञानवाद) एवं माध्यमिक (शून्यवाद) या सापेक्षवाद महायान सम्प्रदाय के दो प्रसिद्ध मत हैं।

3.5.1 योगाचार (विज्ञानवाद) सम्प्रदाय :

योगाचार (विज्ञानवाद) सिद्धांत के संस्थापक प्रसिद्ध महायान बौद्ध धर्म के विचारक मैत्रयनाथ थे। योगाचार (विज्ञानवाद) सिद्धांत का मानना है कि, ‘बाह्य सत्ता की जानकारी ज्ञान से होती है। ज्ञान, विज्ञान और चित्त वास्तविक सत्ता हैं।’ ए० एल० बाशम का कथन है कि, ‘एक मात्र वास्तविक सत्ता (तथाता) सत्य थी, जिसे (धर्म धातु) भी कहते हैं, जो निर्वाण के शून्य की समकोटीय थीं।’ विज्ञान को ही एक मात्र सत्ता स्वीकारने के कारण ‘विज्ञानवाद’ तथा योग और आचार पर विशेष बल देने के कारण ‘योगाचार’ कहा गया। योगाचार (विज्ञानवाद) के प्रसिद्ध प्रचारक मैत्रयनाथ ने धर्मधर्माताविभंग, मनुष्यांतविभंग, योगाचार भूमिशास्त्र आदि ग्रंथों की रचना की थी। असंग ने ‘पञ्चभूमि, अभिधर्म समुच्चय’, महायान संग्रह की रचना की। योगाचार की सर्वाधिक महत्वपूर्ण रचना लंकावतार सूत्र हैं।

3.5.2 माध्यमिक (शून्यवाद) या सापेक्षवाद सम्प्रदाय :

माध्यमिक (शून्यवाद) या सापेक्षवाद सिद्धांत के संस्थापक महायान बौद्ध धर्म के महान् विचारक नागार्जुन थे। माध्यमिक (शून्यवाद) या सापेक्षवाद सिद्धांत का मानना है कि, ‘प्रत्येक वस्तु किसी कारण से बनी है, इसलिए वह शून्य है। इस प्रकार वस्तुओं का अस्तित्व ‘सापेक्ष’ सिद्ध होता है। यह भाव और अभाव की स्थिति है। निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता, इसलिए यह माध्यमिक दर्शन है।’ माध्यमिक (शून्यवाद) या सापेक्षवाद सिद्धांत के विचारक नागार्जुन ने ‘माध्यमिककारिका’, युक्तिषाष्टिका, शून्यतासप्तति, विग्रहव्यावर्तनी, प्रज्ञापारमिताशास्त्र आदि ग्रंथों की रचना की थी।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न :

1. निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:
 - (क) योगाचार ।
 - (ख) माध्यमिक ।
2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
 - (अ) महायान सम्प्रदाय का विवरण दीजिये ?

3.6 हीनयान सम्प्रदाय :

हीनयान सम्प्रदाय, बौद्ध धर्म का मूल रूप है। हीनयान सम्प्रदाय बौद्ध धर्म के प्राचीन मूल रूप को मानता था। वस्तुतः प्राचीन मूल बौद्ध धर्म का परिपालन हीनयान बौद्ध सम्प्रदाय में होता था। हीनयान का अभिप्राय है, निर्वाण हेतु अनुपयुक्त तथा निकृष्ट मार्ग का अनुसरण। हीनयान को 'श्रावकयान' भी कहते हैं। श्रावक उस व्यक्ति को कहते हैं, जो जीवन के क्लेश से त्रस्त होकर, निर्वाण पथ पर अग्रसर होता है। हीनयान साधक 'अर्हत्' पद को सर्वोत्कृष्ट एवं परम् लक्ष्य मानते हैं। वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक हीनयान सम्प्रदाय के दो प्रसिद्ध मत हैं।

3.6.1 वैभाषिक सम्प्रदाय :

वैभाषिक सिद्धांत का मानना है कि, जगत् का अनुभव इन्द्रिया के द्वारा होता है, जो उसकी बाह्य सत्ता होती है। प्रत्यक्ष या अनुमान दोनों से इसका परिज्ञान होता है। विषयगत् और विषयिगत् दो दृष्टियों से तत्त्वों का विचार इस मत में किया जाता है। वैभाषिक मत के दो भेद थे – कश्मीरी और पाश्चात्य वैभाषिक, जिसका केन्द्र गांधार था। इस मत के प्रधानतः चार आचार्य धर्मत्रात, घोषक, वसुमित्र, बुद्धदेव थे।

3.6.2 सौत्रान्तिक सम्प्रदाय :

सौत्रान्तिक सिद्धांत के संस्थापक कुमारलात थे। सौत्रान्तिक सिद्धांत का मानना है कि, 'यह बाह्य सत्ता को अवश्य स्वीकारता है, किन्तु इसका ज्ञान ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में नहीं होता। चित्त शुद्ध और निरकार है।' कुमारलात के शिष्य श्रीलाभ भी सौत्रान्तिक सिद्धांत के विचारक थे।

3.6.3 हीनयान और महायान सम्प्रदाय में अंतर :

1. हीनयान महात्मा बुद्ध द्वारा स्थापित मूल बौद्ध धर्म था, जबकि महायान, हीनयान का संशोधित एवं परिवर्तित रूप था।
2. हीनयान केवल महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं को मानता है, जबकि महायान महात्मा बुद्ध, प्रत्येक बुद्ध तथा बोधिसत्त्वों की शिक्षाओं को मानता है।
3. हीनयान प्रमुखतया दर्शन है और महायान धर्म है।
4. हीनयान की अपेक्षा महायान का कार्यक्षेत्र विस्तृत है। हीनयान का लक्ष्य व्यक्ति विशेष को और महायान का सम्पूर्ण विश्व को निर्वाण दिलाना था।
5. हीनयान महात्मा बुद्ध को एक महापुरुष तथा महायान उन्हें देवता का प्रतिरूप मानता है।
6. हीनयान के सिद्धांत कठोर हैं। चार आर्य सत्य एवं आष्टांगिक मार्ग का पालन करने पर ही निर्वाण प्राप्ति संभव है, जबकि महायान सरल एवं सुगम है। महात्मा बुद्ध के प्रति श्रद्धा भक्ति – प्रदर्शन द्वारा भी मोक्ष प्राप्त हो सकता है।

7. हीनयान का परम् लक्ष्य 'अर्हत्' प्राप्ति, जबकि महायान बोधिसत्व को परम् लक्ष्य मानता है।
8. हीनयानियों का मानना है कि, महात्मा बुद्ध ने अपने सभी अनुयायियों को एक ही प्रकार के उपदेश दिये। वहीं, किन्तु महायानियों का मानना है कि, बुद्ध ने साधारण कोटि में शिष्यों को 'प्रगट उपदेश' तथा अधिक योग्य शिष्यों को 'गुह्य उपदेश' दिये।
9. हीनयान 'प्रज्ञा' (ज्ञान) प्रधान तथा महायान 'करुणा' प्रधान है।
10. हीनयान 'संन्यासी' व महायान गृहस्थ जीवन पर बल देता है।
11. हीनयान की अपेक्षा महायान अधिक आशावादी है।
12. हीनयान मूर्ति उपासना नहीं मानता, महायान में मूर्तिपूजा की जाती है।
13. हीनयान ने 'पाली' तथा महायान ने 'संस्कृत' भाषा का प्रयोग किया।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न :

1. निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:
 - (क) वैभाषिक ।
 - (ख) सौत्रान्तिक ।
2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
 - (अ) हीनयान और महायान सम्प्रदाय में क्या अंतर है ?

3.7 वज्रयान सम्प्रदाय :

वज्रयान सम्प्रदाय बौद्ध धर्म का तांत्रिक सम्प्रदाय था। वज्रयान सम्प्रदाय का उदय पाँचवीं – छठीं शताब्दी ई० में हुआ था। वज्रयान सम्प्रदाय तंत्र-मंत्र द्वारा ईश्वरीय सत्ता की प्राप्ति का मार्ग बताता था। ए० एल० बाशम का कथन है कि, 'वज्रयान सम्प्रदाय में ईश्वरीय उत्पादन की क्रिया की कल्पना यौन संबंध के रूप में की गयी थी। वह विचार उतना ही प्राचीन था, जितना ऋग्वेद।' बौद्ध धर्म के तंत्र सिद्धान्त 'मंजूश्रीमूलकल्प और गुह्यसमाज' ग्रंथों में संग्रहित है।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न :

1. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
 - (अ) वज्रयान सम्प्रदाय का संक्षिप्त विवरण दीजिये ?

3.8 कालचक्रयान सम्प्रदाय :

9-10 वीं शताब्दी में उदय हुआ। कालचक्र दर्शन में कालचक्र को परम देवता के रूप में माना गया। इसमें 'शून्यता' और 'करुणा' है, जो प्रज्ञात्मक शक्ति से संयुक्त है। कालचक्र में अद्वयतत्व की धारणा व्यक्त होती है, जिसे कालचक्र में आदिबुद्ध कहा जाता है। इसमें मानव शरीर को ब्रह्माण्ड का प्रवर्तन माना गया है। 'कालचक्रतंत्र' और उसकी 'विमलप्रभा टीका' इस सम्प्रदाय का आधार ग्रंथ हैं।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न :

1. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:

(अ) कालचक्र सम्प्रदाय का संक्षिप्त विवरण दीजिये ?

3.9 सारांश

छठी शताब्दी ई० पू० के धार्मिक बौद्धिक आंदोलनों ने महात्मा बुद्ध और उनके बौद्ध धर्म के उदय में आधारभूत भूमिका निभाई। महात्मा बुद्ध ने बौद्ध धर्म के रूप में समतामूलक एक ऐसी आचार संहिता प्रदान की जिसके द्वार सभी के लिए खुले हुए थे। महात्मा बुद्ध ने बौद्ध धर्म के रूप में एक सरल, संतुलित, तर्कयुक्त मार्ग समस्त जीवों के कल्याण के लिए खोला। जिसमें 'सर्वो भवन्ति सुखिनः' और समस्त जीवों के कल्याण की भावना समाहित थी। महात्मा बुद्ध ने बौद्ध धर्म में मानवता की सर्वोच्चता और मानवाद की पराकाष्ठा को प्रतिष्ठित किया।

3.10 तकनीकी शब्दावली

भौतिक : इस लोक से संबंधित दिखने वाली वस्तुएँ अर्थात् पृथ्वी लोक से संबंधित वस्तुएँ समस्त

अभौतिक : आँखों से न दिखने वाली शक्ति, आत्मा, ईश्वर आदि

अर्हत् : संपूर्ण मनुष्य, जिसे परम ज्ञान की प्राप्ति हो गयी हो

बोधिसत्त्व : बुद्धत्व प्राप्त करने वाला

निर्वाण : ज्ञान प्राप्ति

बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय : सर्वजन (सभी) का कल्याण

3.11 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

इकाई 3.3 के स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

(प) निम्नलिखित वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर दीजिए:

1. देखिए 3.3 महात्मा बुद्ध का जीवन वृत्त
2. देखिए 3.3 महात्मा बुद्ध का जीवन वृत्त
3. देखिए 3.3 महात्मा बुद्ध का जीवन वृत्त
4. देखिए 3.3 महात्मा बुद्ध का जीवन वृत्त
5. देखिए 3.3 महात्मा बुद्ध का जीवन वृत्त

(पप) निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:

1. (क) देखिए 3.3 महात्मा बुद्ध का जीवन वृत्त
(ख) देखिए 3.3 महात्मा बुद्ध का जीवन वृत्त

2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
(अ) देखिए 3.3 महात्मा बुद्ध का जीवन वृत्त

इकाई 3.4 के स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

- (प) निम्नलिखित वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर दीजिए:

1. देखिए 3.4.5 दस शील एवं आचरण
2. देखिए 3.4.7 अनीश्वरवाद
3. देखिए 3.4.8 अनात्मावाद
4. देखिए 3.4.9 कर्म एवं पुनर्जन्म
5. देखिए 3.4.10 वेद, कर्मकांड एवं जाति में अविश्वास

- (पप) निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:

1. (क) देखिए 3.4.3 मध्यमा प्रतिपदा
(ख) देखिए 3.4.4 प्रतीत्य समुत्पाद
2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
(अ) देखिए 3.4.2 आष्टांगिक मार्ग

इकाई 3.5 के स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:
(क) देखिए 3.5.1 योगाचार (विज्ञानवाद) सम्प्रदाय
(ख) देखिए 3.5.2 माध्यमिक (शून्यवाद) या सापेक्षवाद सम्प्रदाय
2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
(अ) देखिए 3.5 महायान सम्प्रदाय

इकाई 3.6 के स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:
(क) देखिए 3.6.1 वैभाषिक सम्प्रदाय
(ख) देखिए 3.6.2 सौत्रान्तिक सम्प्रदाय

2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
(अ) देखिए 3.6.3 हीनयान और महायान सम्प्रदाय में अंतर

इकाई 3.7 के स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
(अ) देखिए 3.7 वज्रयान सम्प्रदाय

इकाई 3.8 के स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
(अ) देखिए 3.8 कालचक्रयान सम्प्रदाय

3.12 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. ओमप्रकाश – प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, नई दिल्ली, 1986
2. ओमप्रकाश – प्राचीन भारत का इतिहास, नई दिल्ली, 1986
3. बाशम, ए० एल० – अद्भुत भारत, आगरा, 1987

4. डेविड्स, आर० – बुदिस्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1955
5. झा एवं श्रीमाली – प्राचीन भारत का इतिहास, दिल्ली, 2000
6. मिश्र, जयशंकर – प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पटना, 2006
7. मजूमदार, रायचौधरी, दत्त – भारत का बृहत, इतिहास, खण्ड 1, नई दिल्ली, 1970
8. मजूमदार, रमेशचन्द्र – प्राचीन भारत, दिल्ली, 1973
8. पाण्डेय, विमल चन्द्र – प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, भाग 1, इलाहाबाद, 1998
9. कौशांबी, डी० डी० – दि कल्चर एण्ड सिविलाजेशन ऑफ एशियन्ट इण्डिया, 1965
10. शर्मा, रामशरण – प्रारंभिक भारत का परिचय, नई दिल्ली, 2009
– उज्जयिनीवंश ब्रह्मसूत्रस्य दशमोऽध्यायस्य श्लोकानि चर्चयति पद दशममदज
पदकपणं क्मसीपण 1983
11. तैन्सएँ दृ ाँज जीम ठनककीं जंनहीजए ठमकवितकए 1959
12. त्रिपाठी, आर० एस० – प्राचीन भारत का इतिहास, बनारस, 1998
13. काणे, पी० वी० – धर्मशास्त्र का इतिहास, पाँच जिल्दें, पूना, 1930 – 53
14. स्मिथ, बी.एस. – अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, ऑक्सफोर्ड, 1924
15. थापर, रोमिला – कल्चरल पास्ट्स : ऐसेज इन अर्ली इंडियन हिस्ट्री,
नई दिल्ली, 2000
– एशियन्ट इण्डियन सोशल हिस्ट्री, नई दिल्ली, 1983
– भारत का इतिहास, नई दिल्ली, 1989
16. रैप्सन (संपा०) – कौम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, वो०1, कौम्ब्रिज, 1922
17. उपाध्याय, बलदेव – भारतीय दर्शन, वाराणसी, 1945
18. त्तकमतए ाण्ण दृ प्दकपंद ठनककीपेउए टंतदेंपए 1970

3.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. महाजन, विद्याधर – प्राचीन भारत का इतिहास, नई दिल्ली, 2008
2. श्रीवास्तव, के० सी० – प्राचीन भारत का इतिहास एवं संस्कृति, इलाहाबाद, 2007
3. शर्मा, आनन्द कुमार – भारतीय संस्कृति एवं कला, नई दिल्ली, 2011

3.14 निबंधात्मक प्रश्न

- प्रश्न 1. महात्मा बुद्ध के जीवन वृत्त का विस्तृत रूप से विवरण दीजिये ?
- प्रश्न 2. बौद्ध धर्म के सिद्धांतों का विस्तृत रूप से विवरण दीजिये ?
- प्रश्न 3. हीनयान और महायान सम्प्रदाय पर प्रकाश डालिये ?
- प्रश्न 4. बौद्ध धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों पर प्रकाश डालिये ?

इकाई एक : मौर्यकालीन संस्कृति

- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 उद्देश्य
- 1.3 सामाजिक स्थिति
 - 1.3.1 वर्णाश्रम व्यवस्था
 - 1.3.2 दास प्रथा
 - 1.3.3 परिवार एवं विवाह
 - 1.3.4 स्त्रियों की स्थिति
 - 1.3.5 खानपान, रहन-सहन एवं नैतिकता
 - 1.3.6 मनोरंजन के साधन
- 1.4 आर्थिक स्थिति
 - 1.4.1 कृषि एवं पशुपालन
 - 1.4.2 व्यवसाय एवं उद्योग
 - 1.4.3 व्यापार
 - 1.4.4 मुद्रा
- 1.5 भाषा, शिक्षा एवं साहित्य
- 1.6 धार्मिक स्थिति
 - 1.6.1 वैदिक या ब्राह्मण धर्म
 - 1.6.2 बौद्ध धर्म
 - 1.6.3 जैन धर्म
 - 1.6.4 आजीविक सम्प्रदाय
- 1.7 मौर्यकालीन कला
 - 1.7.1 राजधानी एवं नगर
 - 1.7.2 स्तम्भ
 - 1.7.2.1 दंड
 - 1.7.2.2 कमलाकृति शीर्ष
 - 1.7.2.3 फलक
 - 1.7.2.4 शीर्षस्थ पशु मूर्तियाँ

1.7.3 स्तूप

1.7.4 विहार एवं शैलोत्कीर्ण गुफाएँ

1.7.5 लोक कला

1.8 सारांश

1.9 तकनीकी शब्दावली

1.10 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

1.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

1.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1.13 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

मौर्य साम्राज्य, भारतवर्ष का प्रथम सार्वभौमिक साम्राज्य था। मौर्य साम्राज्य, भारतीय इतिहास का वह साम्राज्य है, जिसकी उत्पत्ति शास्त्र और शस्त्र के संयोग की शक्ति का अद्भुत, अभूतपूर्व एवं सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं। शास्त्र ने शस्त्र को सामर्थ्य और शक्ति दी। जिसका बखान इतिहास के पन्नों में सुनहरे अक्षरों से अंकित हैं। वस्तुतः चाणक्य (विष्णुगुप्त, कौटिल्य) ने समय की वास्तविकताओं को खुली आँखों से देखा और वह कर दिखाया, जिसकी तार्किक परिणिति भारतवर्ष के प्रथम सार्वभौमिक साम्राज्य के रूप में सामने आयी। मौर्य साम्राज्य की स्थापना चाणक्य ने चन्द्रगुप्त मौर्य की सहायता से की थी। चाणक्य ने चन्द्रगुप्त मौर्य का उपयोग नंद राजवंश के विघटन के लिए साधन के रूप में किया था। वस्तुतः मौर्य साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक चाणक्य था, जो चाहता तो सम्राट बन सकता था, किन्तु उसने शास्त्र संवत् व्यवहार किया और चन्द्रगुप्त मौर्य को पाटलिपुत्र की गद्दी पर बैठाया और स्वयं उसका प्रधानमंत्री (सलाहकार) बना। चन्द्रगुप्त मौर्य, मौर्य साम्राज्य का प्रथम शासक था। मौर्य साम्राज्य ने 322 ई० पू० – 184 ई० पू० तक कुल 137 वर्षों तक शासन किया। मौर्य साम्राज्य में 9 या 10 शासक हुए। चन्द्रगुप्त मौर्य, बिन्दुसार, अशोक जैसे महान् शासक मौर्य साम्राज्य के शासक थे। मौर्य साम्राज्य का अंतिम शासक 'वृहदृथ' था, जिसकी हत्या 184 ई० पू० में उसके सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने कर दी थी। लगभग 137 वर्षों के मौर्यों के सुदीर्घ शासनकाल में सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, भाषा, शिक्षा, साहित्य एवं कला आदि सभी क्षेत्रों में मौर्यकालीन संस्कृति ने अपनी विशेषताएँ प्रगट कीं।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उद्देश्य निम्नलिखित हैं –

17. विद्यार्थी मौर्यकालीन संस्कृति को समझ सकेंगे।
 18. विद्यार्थी मौर्यकालीन सामाजिक स्थिति को जान सकेंगे।
 19. विद्यार्थी मौर्यकालीन आर्थिक स्थिति को समझेंगे।
 20. विद्यार्थी मौर्यकालीन भाषा, शिक्षा एवं साहित्य को जान सकेंगे।
 21. विद्यार्थी मौर्यकालीन धार्मिक स्थिति को समझ सकेंगे।
 22. विद्यार्थी मौर्यकालीन अशोक के बौद्ध धर्म के प्रचार – प्रसार के प्रयासों को जान सकेंगे।
 23. विद्यार्थी ने मौर्यकालीन कला को समझ सकेंगे।
 24. विद्यार्थी स्तूप स्थापत्य के बारे में जानेंगे।
-

1.3 सामाजिक स्थिति :

मौर्यकाल का सामाजिक जनजीवन मुख्यतः सनातन ब्राह्मण धर्म द्वारा विहित सामाजिक विधि – विधान पर आधारित था। अशोक के शासनकाल में बौद्ध धर्म – संस्कृति का अत्यधिक प्रभाव रहा। किन्तु फिर भी मौर्यकालीन सामाजिक व्यवस्था की मूलभूत आधारशिला ब्राह्मण धर्म द्वारा निश्चित निर्धारित सामाजिक प्रणालियों पर ही चलता रहा।

1.3.1 वर्णाश्रम व्यवस्था :

मौर्यकालीन संस्कृति की सामाजिक व्यवस्था की आधारशिला वर्णाश्रम व्यवस्था थी। समाज चार वर्णों में विभक्त था तथा आश्रम व्यवस्था मौर्यकाल में सुचारु ढंग से चल रही थी। समाज में लोग ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास आश्रमों का पालन कर रहे थे, यद्यपि यह व्यवस्था उच्च वर्णों में अधिक प्रचलित थी। मौर्यकाल में वर्ण व्यवस्था सुनियोजित परिपाटि पर चल रही थी, तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि, वर्ण व्यवस्था में कठोरता नहीं थी। अशोक के कर्म के सिद्धान्त पर जोर देने तथा बौद्ध एवं जैन धर्मों के प्रभावों के कारण वर्ण व्यवस्था निश्चित रूप से लचीली रही होगी। लेकिन यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि, वर्ण व्यवस्था, जाति व्यवस्था में परिवर्तित होकर जन्म पर आधारित हो गयी थी।

चातुर्य वर्णों में ब्राह्मणों का स्थान सर्वोच्च था। अध्ययन – अध्ययन, शिक्षा – दीक्षा तथा शासन का सलाहकार, यह बौद्धिक वर्ग धर्म एवं संस्कृति का संरक्षक तथा संवर्धक था। कौटिल्य एवं मेगस्थनीज से ज्ञात होता है कि, ब्राह्मणों का जीवन 'सादा जीवन – उच्च विचार' की युक्ति को चरितार्थ करता था। अशोक के तीसरे शिलालेख में उल्लेखित है कि, ब्राह्मणों और श्रवणों की सेवा करना उत्तम है। ब्राह्मण प्रशासन के अनेक पदों पर आसीन थे। मौर्यकाल में क्षत्रिय सामाजिक व्यवस्था के प्रमुख अंग थे। क्षत्रिय शासक वर्ग था। स्वयं सम्राट क्षत्रिय वर्ण के थे। क्षत्रिय शासकीय सुविधा भोगी, प्रशासनिक पदों पर आसीन, सैन्य क्रिया कलापों में संलग्न रहता था। वैश्य, मौर्यकाल की सामाजिक व्यवस्था का एक धनाढ्य वर्ग था। व्यापार एवं वाणिज्य का संपूर्ण कार्य वैश्यों के हाथों में था। कुल मिलाकर मौर्यकालीन अर्थव्यवस्था पर वैश्यों का आधिपत्य था। वैश्य व्यापार, शिल्प एवं कृषि कर्म में संलग्न थे। वैश्यों की मौर्यकालीन समाज में अच्छी स्थिति थी। मौर्यकालीन सामाजिक व्यवस्था में शूद्रों का चौथा स्थान था। शूद्र वर्ग, श्रम कृषि एवं शिल्प, व्यवसाय करते थे। कौटिल्य शूद्रों को भी 'आर्य' कहते हैं। शूद्रों को सम्पत्ति का अधिकार था। कौटिल्य ने शूद्रों को सेना में सैनिक के रूप में कार्य करने की अनुमति दी थी। मौर्यकाल में शूद्रों को नए विजित क्षेत्रों में जमीनें देकर कृषि करने को प्रोत्साहित किया जाता था। शूद्रों से समाज में 'विष्टि' लेने के प्रमाण भी मिलते हैं।

मौर्यकाल में शूद्रों की सामाजिक एवं धार्मिक नियोग्यताएँ विद्यमान थी, किन्तु इन पर कठोर प्रतिबंध नहीं था। अशोक के अभिलेखों में शूद्रों से अच्छे व्यवहार का निर्देश दिया है। मौर्यकालीन समाज में वर्ण संकर जातियाँ भी विद्यमान थीं। कौटिल्य ने 15 प्रकार की वर्ण संकर जातियों का उल्लेख किया है। जिनका प्रादुर्भाव अनुलोम – प्रतिलोम विवाहों तथा सामाजिक विधि – विधानों के उल्लंघन से हुआ होगा। ये मुख्य बस्ती से दूर अलग बस्ती में निवास करते थे। इन पर अनेक प्रकार के सामाजिक एवं धार्मिक प्रतिबंध थे। यूनानी लेखकों एवं मेगस्थनीज ने मौर्यकालीन समाज में सात जातियों – दार्शनिक, कृषक सैनिक, अहीर, कारीगर, निरीक्षक, मंत्री एवं परामर्शदाता का उल्लेख किया है।

1.3.2 दास प्रथा

दासप्रथा, प्राचीन भारतीय समाज की वास्तविकता थी। मौर्यकाल में भी दास प्रथा विद्यमान थी, हालांकि यूनानी लेखकों एवं मेगस्थनीज ने लिखा है कि, मौर्यकाल में दास प्रथा नहीं थी। वस्तुतः भारत में दासों के साथ इतना अच्छा व्यवहार किया जाता था कि, यूनानी लेखक दास प्रथा की विद्यमानता को पहचान नहीं सके। यूनान की तरह क्रूर एवं कठोर व्यवहार दासों के साथ नहीं होता था और इसी कारण यूनानी लेखक भारत में दास प्रथा को समझ नहीं पाये थे। इतिहासकार रीज डेविड्ज कहते हैं कि, मौर्यकालीन समाज में दासों के साथ अच्छा व्यवहार किया जाता था, उन्हें घरेलू नौकरों की तरह रखा जाता था। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में नौ प्रकार के दासों का उल्लेख किया है। कौटिल्य ने बड़े पैमाने पर दासों को कृषि कार्यों में लगाये रखा था। दासों को सम्पत्ति रखने एवं बेचने का अधिकार प्राप्त था। इसके साथ ही, दासों को दासत्व मुक्ति का भी अधिकार था। दास, सम्पत्ति या मूल्य प्रदान करके दास प्रथा से मुक्त हो सकता था। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में दासों के साथ गलत व्यवहार करने पर दण्ड का प्रावधान किया था। अशोक ने भी अपने अभिलेखों में दासों के साथ समान एवं मधुर व्यवहार करने का निर्देश दिया है। अतः स्पष्ट है कि, मौर्यकालीन समाज में दासों की स्थिति पश्चिमी देशों की अपेक्षा बहुत अच्छी थी।

1.3.3 परिवार एवं विवाह

मौर्यकालीन समाज में संयुक्त परिवार व्यवस्था थी। परिवार पितृसत्तात्मक होते थे। समाज में विवाह एक पवित्र संस्कार माना जाता था। कौटिल्य ने आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख किया है— ब्राह्म, प्रजापात्य, आर्ष, देव, असुर, गान्धर्व, राक्षस एवं पिशाच विवाह। समाज में प्रथम चार विवाहों को उचित तथा अंतिम चार को अनुचित माना जाता था। यूनानी लेखकों ने आर्ष, प्राजापत्य, असुर एवं स्वयंवर विवाहों का उल्लेख किया है। मेगस्थनीज ने लिखा है कि, विवाह का उद्देश्य जीवन साथी प्राप्त करना, भोग एवं संतानोत्पत्ति करना था। मौर्यकाल में सोलह वर्ष के लड़के एवं बारह वर्ष की लड़की का विवाह आदर्श माना जाता था। समाज में बहुविवाह, विधवा विवाह, पुनर्विवाह की प्रथा प्रचलित थी। समाज में अंतर्जातीय विवाहों को भी मान्यता प्राप्त थी। सगोत्र, सप्रवर, सपिण्ड विवाहों को अनुचित माना जाता था। समाज में अनुलोम – प्रतिलोम विवाहों के भी प्रमाण मिलते हैं।

1.3.4 स्त्रियों की स्थिति

मौर्यकाल में स्त्रियों की स्थिति बहुत संतोषजनक नहीं थी। उनकी स्वतंत्रता पर पर्याप्त रूप से प्रतिबंध लगा दिया गया था तथा कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में सामाजिक कड़े नियमों के उल्लंघन पर अत्यधिक कठोर शारीरिक एवं आर्थिक दण्डों का उल्लेख किया है। स्त्रियाँ उच्च शिक्षा से वंचित हो गयी थी। स्त्रियों के विविध कलाओं में प्रवीणता के उल्लेख मिलते हैं। समाज में वेश्यावृत्ति प्रचलित थी। राज्य ने वेश्यावृत्ति पर निगरानी एवं नियंत्रण के लिए 'गणिकाध्यक्ष' नामक पदाधिकारी की नियुक्ति की थी। मौर्यकाल में स्त्रियों को विधवा-विवाह, संबंध-विच्छेद, संपत्ति पर अधिकार आदि के अधिकार प्राप्त थे। मेगस्थनीज ने लिखा है

कि, स्त्रियां राजा की अंगरक्षिकाएँ थी, वे गुप्तचरों के रूप में भी कार्य करती थी तथा पति के दुर्व्यवहार करने पर न्यायालय की शरण में जा सकती थी। कौटिल्य के साथ-साथ इस काल के बौद्ध – जैन अनुश्रुतियां सती – प्रथा का उल्लेख नहीं करते हैं किन्तु यूनानी लेखकों ने उत्तरी – पश्चिमी भारत में सैनिकों की स्त्रियों के सती होने का उल्लेख किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि, समाज एवं परिवार में पर्दे की प्रथा नहीं थी कौटिल्य ने नियोग प्रथा की भी अनुमति प्रदान की है। नियोग प्रथा के तहत विशेष परिस्थितियों में कोई भी स्त्री पर पुरुष का वरण करके संतान उत्पन्न कर सकती थी। दहेज प्रथा के भी प्रमाण है।

1.3.5 खानपान, रहन-सहन एवं नैतिकता

मौर्यकालीन समाज का नैतिक स्तर उच्च एवं खानपान तथा रहन-सहन सीधा-सादा था। मौर्यकाल में शाकाहारी एवं माँसाहारी दोनों प्रकार का भोजन किया जाता था। शाकाहारी भोजन में गेहूँ, चावल, जौ, सब्जियाँ, फल, दूध, शरबत आदि का सेवन करते थे। यूनानी लेखक चावल के भात को भारतीयों का प्रिय भोज्य बताते हैं। यूनानी लेखक भोजन में पकवानों के परोसे जाने का भी उल्लेख करते हैं। मौर्यकाल में सम्राट और अन्य लोग माँसाहार के शौकीन थे। अशोक के अभिलेखों एवं मेगस्थनीज के विवरण से ज्ञात है कि, सम्राट के लिए अनेक प्रकार के पशु – पक्षियों का माँस परोसा जाता था। बौद्ध धर्म के प्रभाव में आकर बाद में अशोक ने शाही भोजन में माँस पर प्रतिबंध लगा दिया था। यूनानी लेखकों ने लिखा है कि, लोग मसालेदार पका हुआ माँस खाते थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी लोगों के माँस खाने का पता चलता है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में माँस बेचने वालों का विवरण दिया। पशु-पक्षियों को मारने के लिए अनेक वधगृहों का उल्लेख मिलता है। मेगस्थनीज ने लिखा है कि, भारतीय लोग भोजन जमीन पर बैठकर करते थे, भोजन करते समय एक तिपाई के आकार की मेज उनके सामने रख दी जाती थी, जिस पर सोने का प्याला रखा होता था। भोजन में चावल एवं अन्य पकवान परोसे जाते थे। मौर्यकालीन समाज में सुरापान का भी प्रचलन था। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में मदिराओं और उनकी निर्माण प्रणालियों का विवरण दिया है। मौर्य प्रशासन ने सुसंगठित मदिराओं की स्थापना की थी। मदिरालयों में बैठने, सोने एवं खाने की व्यवस्था होती थी। राज्य मदिरालयों पर कड़ी नजर रखता था। मदिरा शासन वर्ग एवं क्षत्रियों को विशेष प्रिय थी। सामान्य जनता में मदिरा का अधिक प्रचलन नहीं था।

भारतीयों का सामाजिक जीवन चिरकाल से नैतिक रूप से बहुत ऊँचा रहा है। मौर्यकाल में भी सामान्यजन का नैतिक स्तर बहुत ऊँचा था। मेगस्थनीज ने लिखा है कि, मौर्यकाल में जनता का सामाजिक जीवन सरल, सादा एवं सुव्यवस्थित था। सामान्यजन चरित्रवान, सत्यवादी, मितव्ययी एवं साहसी थे। समाज में चोरी करने एवं झूठ बोलने को पाप माना जाता था। सत्य, अहिंसा, उदारता, सहिष्णुता, दया, अतिथि सत्कार आदि उच्च नैतिक गुण विद्यमान थे। अशोक ने भी अपने अभिलेखों में जनता को सद्मार्ग पर चलने एवं पापों से दूर रहने की सलाह दी है। मेगस्थनीज ने लिखा है कि, लोग अपनी सम्पत्ति को बिना किसी सुरक्षा के घरों में छोड़ देते थे, चोरी – चपारी का डर बहुत कम था। लोग बहुत कम न्यायालयों में न्याय के लिए जाते थे। अतः स्पष्ट है कि, मौर्यकालीन सामाजिक लोगों का नैतिक स्तर बहुत ऊँचा था, जिसमें निश्चित रूप से धर्म की सकारात्मक भूमिका रही होगी।

1.3.6 मनोरंजन के साधन

मौर्यकालीन समाज में दैनिक जीवन को आनंदित एवं प्रफुल्लित रखने के लिए मनोरंजन के अनेक साधन विद्यमान थे। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र ऐसे कलाकारों का उल्लेख किया है जो राज्य में राजकीय अनुज्ञा पत्र (लाईसेन्स) लेकर मनोरंजन करने का कार्य करते थे। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में गाने-बजाने वालों, नट, नर्तक, मदारी, चारण, रस्सी पर नाचकर कर्तब दिखाने वाले, विविध प्रकार की मुंह से आवाज निकाल कर

मनोरंजन करने वालों का उल्लेख किया है। शिकार खेलने की प्रथा राजवंशीय लोगों के साथ-साथ सामान्य जनता में भी लोकप्रिय थी। यूनानी लेखक एलियन मनुष्यों एवं पशुओं में मल्ल युद्धों एवं रथदौड़ का मनोरंजन के साधन के रूप में विवरण देता है। कालान्तर में अशोक ने पशुओं एवं मनुष्यों के मध्य मल्ल युद्ध की प्रथा पर प्रतिबंध लगा दिया था। मेगस्थनीज ने मल्ल युद्ध, घुड़दौड़, रथदौड़, साँड युद्ध, विहार यात्रा का मनोरंजन के साधन के रूप में विवरण दिया है। मौर्यकालीन समाज में समाजों एवं उत्सवों द्वारा मनोरंजन के विधि रूपों का आयोजन किया जाता था। विशेष त्यौहारों एवं सामाजिक अवसरों पर भी आमोद-प्रमोद के कार्यक्रमों का आयोजन होता था। ग्रामीण स्तर पर अनेक प्रकार के खेलों एवं तमाशों का आयोजन होता था। अशोक के अभिलेखों एवं मेगस्थनीज के विवरण से ज्ञात है कि, सम्राट विहार यात्रा पर जाता था। सम्राट जब शिकार पर जाता था, तब पूरी सुरक्षा व्यवस्था के साथ जाता था। अशोक ने अपने शासनकाल में विहार यात्राओं एवं समाजों पर प्रतिबंध लगा दिया था।

1.3.7 वस्त्राभूषण

मौर्यकालीन समाज स्त्री एवं पुरुष दोनों आभूषणों के शौकीन थे। धातु एवं मिट्टी दोनों के आभूषणों का उल्लेख मिलता है। सामान्य जनता सूती वस्त्रों को पहनती थी। मेगस्थनीज ने लिखा है कि, भारतीय सुन्दर चटकीले रंगों के वस्त्रों को पहनते थे। वस्त्रों पर सोने की कड़ाई की जाती थी। सुन्दर मलमल के वस्त्रों पर फूलदार पच्चीकारी की जाती थी। वस्त्रों को मूल्यवान रत्नाभूषणों से सुसज्जित करने के भी प्रमाण है।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

(प) निम्नलिखित वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर दीजिए:

- कौटिल्य ने शूद्रों को कहा है ?

(क) आर्य	(ख) अनार्य
(ग) अछूत	(घ) इनमें से कोई नहीं
- कौटिल्य ने कितने प्रकार की वर्ण संकर जातियों का उल्लेख किया है?

(क) 13	(ख) 14
(ग) 15	(घ) 16
- मौर्यकाल में वेश्यावृत्ति पर निगरानी एवं नियंत्रण के लिए नियुक्त था ?

(क) सीताध्यक्ष	(ख) सुराध्यक्ष
(ग) गणिकाध्यक्ष	(घ) इनमें से कोई नहीं
- किस मौर्य शासक ने विहार यात्राओं पर प्रतिबंध लगाया था ?

(क) चन्द्रगुप्त मौर्य	(ख) बिन्दुसार
(ग) अशोक	(घ) इनमें से कोई नहीं
- मौर्यकालीन समाज में परिवार होते थे ?

(क) पितृसत्तात्मक	(ख) मातृसत्तात्मक
(ग) दोनों प्रकार के	(घ) इनमें से कोई नहीं

(पप) निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:

- (क) दास प्रथा ।
(ख) स्त्रियों की स्थिति ।
- नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
(अ) मौर्यकालीन वर्णाश्रम व्यवस्था का विवरण दीजिये ?

1.4 आर्थिक स्थिति

मौर्यकाल में राज्य की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ थी। कौटिल्य के कठोर प्रशासन में कृषि, उद्योग, व्यापार – वाणिज्य तथा कर व्यवस्था के सुदृढ़ होने के कारण चतुर्दिक समृद्धि थी। साथ ही, मौर्यकाल में राजनीतिक एकता स्थापित हो जाने से भी आर्थिक क्रियाकलापों को काफी बल मिला। कृषि, व्यापार एवं वाणिज्य, उन्नत शिल्प, ठोस कर प्रणाली आदि अर्थव्यवस्था की रीढ़ थी। कौटिल्य ने कृषि, पशुपालन और वाणिज्य को 'वार्ता' कहा है।

1.4.1 कृषि एवं पशुपालन

कृषि, मौर्यकालीन अर्थव्यवस्था की धुरी थी। बहुसंख्यक प्रजा कृषि कार्यों में संलग्न थी। राज्य कृषि एवं कृषकों की सुरक्षा का पूरा ध्यान रखता था। युद्ध के समय में भी कृषि एवं कृषकों को कोई हानि नहीं पहुँचायी जाती थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में कृष्ट (जुती हुई), अकृष्ट (बिना जुती हुई), स्थल (ऊँची) आदि अनेक प्रकार की भूमियों का वर्णन किया गया है। आदेवमातृक भूमि, वह भूमि होती थी, जिसमें बिना वर्षा के भी अच्छी फसल हो जाती थी। यूनानी लेखकों मेगस्थनीज, स्ट्रैबों एवं एरियन राजा को भूमि का स्वामी बताते हैं। किन्तु कौटिल्य निजी भूमि का भी संकेत देता है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में क्षेत्रक (भू-स्वामी), उपवास (काश्तकार) एवं स्वाम्य शब्दों का प्रयोग किया है। विद्वानों ने स्वाम्य से तात्पर्य निजी भूमि स्वामी से लगाया है। इससे भूमि पर व्यक्ति का अधिकार सिद्ध होता है, जिसे वह स्वयं अपनी इच्छा से क्रय-विक्रय कर सकता था। राजकीय भूमि को 'सीता' कहा जाता था, इसकी संपूर्ण आय या फसल सीधे केन्द्रिय खजाने में जाती थी। सीता भूमि के प्रबंधन के लिए 'सीताध्यक्ष' नामक अधिकारी नियुक्त किया गया था। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में वर्ष में तीन फसलें—रबी की फसल, खरीफ की फसल, जायद की फसल उगाए जाने का उल्लेख किया है। वहीं, मेगस्थनीज वर्ष में दो बार फसलों को उगाये जाने की सूचना देता है। कृषि, हल और बैलों की सहायता से होती थी। भूमि को उपजाऊ बनाने के लिए खाद् का प्रयोग किया जाता था।

मौर्य प्रशासन कृषि सिंचाई का विशेष प्रबंध करता था। इसे 'सेतुबंध' कहा जाता था। कौटिल्य ने सिंचाई के लिए नदी, तालाब, कुएँ, नहर का उल्लेख किया है। कौटिल्य ने कुएँ से राहट एवं पवन चक्की द्वारा सिंचाई का भी उल्लेख किया है। सुदर्शन झील राज्य सिंचाई का प्रमुख उदाहरण है, जिसका निर्माण चन्द्रगुप्त मौर्य के सुराष्ट्र प्रान्त के गवर्नर पुष्यगुप्त वैश्य ने प्रारंभ कराया और अशोक के गवर्नर तुषास्य ने पूर्ण कराया। जिसका उल्लेख रुद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख में मिलता है। मौर्यकाल में चावल, गेहूँ, दालें, सरसों, मूंग, गन्ना, कपास, आलू, सब्जियाँ आदि की फसल होती थी। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में धान की फसल को सर्वोत्तम तथा गन्ने की फसल को सर्वाधिक निकृष्ट बताया है। मेगस्थनीज ने लिखा है कि, 'भारत की भूमि बहुत उपजाऊ है, यहाँ पर्याप्त फसल होती है। यहाँ वर्षा बहुत होती है। अकाल यहाँ कभी नहीं पड़ता है। खाने-पीने की वस्तुएँ पर्याप्त एवं सस्ती है।'

कृषि में बैलों के बढ़ते महत्व ने पशुपालन को प्रोत्साहन दिया। कृषि के साथ ही पशुपालन कृषकों का प्रमुख व्यवसाय था। भार वाहन पशुओं के साथ ही दुधारु पशुओं का पालन भी कृषक करते थे। वस्तुतः पशुपालन भारत के सामाजिक आर्थिक जनजीवन का महत्वपूर्ण हिस्सा प्राचीनकाल से ही रहा है। राज्य पशुओं की सुरक्षा एवं चिकित्सा का पूरा प्रबंध करता था।

1.4.2 व्यवसाय एवं उद्योग

मौर्यकालीन अर्थव्यवस्था में व्यवसायों एवं उद्योग धंधों की आधारभूत भूमिका थी। मौर्य प्रशासन ने साम्राज्य में व्यवसायों एवं उद्योग धंधों को नियामक रूप प्रदान करके राजकीय विभागों एवं अधिकारियों के

द्वारा आर्थिक गतिविधियों को संरक्षित, सुरक्षित एवं प्रोत्साहित किया। मौर्यकाल में विविध प्रकार के व्यवसाय एवं उद्योग धंधे संचालित थे। वस्त्र, धातु, सूरा व्यवसाय एवं विविध प्रकार शिल्प उन्नत अवस्था को प्राप्त कर चुके थे। वस्त्र उद्योग मौर्यकाल का प्रमुख व्यवसाय था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में बंग, वत्स, अपरान्त, काशी, मदुरा आदि सूती वस्त्र उद्योग के रूप में वर्णित है। इन नगरों में सूती वस्त्र तैयार करने वृहद् एवं लघु उद्योग संचालित थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मगध, पुण्डू एवं सुवर्ण कुड्य को सन के वस्त्र उद्योग के लिए उन्नत बताया गया है। बंगाल में उन्नत श्रेणी का मलमल बनाया जाता था। नेपाल में ऊनी वस्त्र उद्योग उन्नत अवस्था का था। वहाँ से ऊनी वस्त्र एवं कंबल मगाये जाते थे। चीन से रेशमी वस्त्रों के आयात का भी उल्लेख मिलता है। मेगस्थनीज लिखता है कि, भारतीय सोने-चाँदी एवं रत्न जड़ित वस्त्र पहनते थे। इससे स्पष्ट है कि, वस्त्र उद्योग एवं वस्त्रों का व्यवसाय उन्नत अवस्था में था। कौटिल्य ने लिखा है कि, वस्त्र निर्माण उद्योग 'सूत्राध्यक्ष' नामक अधिकारी के निरीक्षण में चलता था।

मौर्यकाल में काष्ठशिल्प अत्यन्त उन्नत अवस्था में था। मौर्यकाल में नगरों के भवन लकड़ी के बने होने के प्रमाण मिले हैं। पाटलिपुत्र का राजभवन एवं विभिन्न भवन लकड़ी के बने थे। लकड़ी की विविध जीवनोपयोगी वस्तुएँ बनायी जाती थी। रथ, बैलगाड़ी, हल, तख्ते, दरवाजे, जहाजों एवं नौकाओं आदि का निर्माण लकड़ी से होता था। यूनानी लेखक लकड़ी से जहाजों एवं नौकाओं के निर्माण उद्योग को उत्कृष्ट स्तर का बताते हैं। इस प्रकार मौर्यकाल में काष्ठकला चर्मत्कर्ष पर थी। मौर्यकाल वनोपज राजस्व का एक बड़ा साधन था। इसके लिए मौर्य प्रशासन ने 'आटविक' नामक अधिकारी नियुक्त किया था, जो वन विभाग का प्रधान होता था।

मौर्यकाल में मदिरा व्यवसाय भी उन्नत दशा में था। राज्य में सुसंगठित मदिरालयों के उल्लेख मिलते हैं। कौटिल्य ने छः प्रकार की मदिराओं का उल्लेख किया है। मदिरालय राज्य के कठोर नियंत्रण में रहते थे, इसके लिए 'सुराध्यक्ष' की नियुक्ति की गयी थी। मौर्यकाल में पत्थरों पर कार्य करने वाले कारीगरों और शिल्पियों की दक्षता उत्कृष्ट अवस्था में थी। मौर्यकालीन अभिलेखों, स्तम्भों, मूर्तियों, स्तूपों, पाषाण गुफाओं आदि को देखने से प्रतीत होता है कि, इनका निर्माण अत्यन्त कुशल तक्षण शिल्पियों द्वारा किया गया होगा और निश्चित रूप से इन कुशल शिल्पियों का संगठन रहा होगा। मौर्यकाल में चर्म व्यवसाय का भी उल्लेख मिलता है। चर्म के वस्त्र एवं अनेक समाजोपयोगी वस्तुएँ बनायी जाती थी। मौर्यकाल में धातु से विधि प्रकार की वस्तुओं के निर्माण में दक्ष थे। धातुकर्मी धातुओं को गलाने, शुद्धी करने एवं मिश्रित धातु के निर्माण में कुशल थे। सोने, चाँदी, ताँबे, काँसें, पीतल, लोहा आदि धातुओं से विविध जीवनोपयोगी आवश्यक वस्तुओं का निर्माण होता था। राज्य का खानों एवं खनिज पदार्थों पर पूर्ण नियंत्रण रहता था। इसके लिए 'आकराध्यक्ष' नामक अधिकारी राज्य की ओर नियुक्त किया गया था। सोने-चाँदी की धातु से विविध प्रकार के आभूषण बनाये जाते थे। लोहे, ताँबे, पीतल आदि धातुओं से अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण किया जाता था। कौटिल्य ने समुद्र से प्राप्त विविध समुद्री रत्नों एवं वस्तुओं का उल्लेख किया है। जिनका उपयोग आभूषणों एवं औषधियों के व्यवसाय में किया जाता था।

1.4.3 व्यापार

मौर्यकाल की अर्थव्यवस्था में व्यापार का बड़ा योगदान था। कौटिल्य ने व्यापार एवं व्यापारियों के लिए ठोस आर्थिक नियामक विधानों को लागू किया था। राज्य व्यापार एवं व्यापारियों पर कठोर नियंत्रण के साथ ही उनकी सुरक्षा का पूरा प्रबंध करता था। मौर्य प्रशासन ने सड़क मार्गों, नदियों एवं समुद्रमार्ग से होने वाले देशी-विदेशी व्यापार के लिए उच्चाधिकारियों की नियुक्ति की थी। 'पण्याध्यक्ष' व्यापार एवं वाणिज्य तथा 'संस्थाध्यक्ष' व्यापारिक मार्गों का अधिकारी थी। मौर्यकाल के समय विदेशी व्यापार ईरान, रोम, मिश्र, सीरिया, यूनान, नेपाल, चीन एवं पूर्वी देशों के साथ होता था। भृगुकच्छ बंदरगाह से पश्चिमी देशों एवं ताम्रलिप्ति

बंदरगाह से पूर्वी देशों के साथ व्यापार होता था। सोपारा तथा बारबैरिकम् बन्दरगाह से भी विदेशी व्यापार होता था। मौर्यकाल में विदेशों से घोड़े, ऊन, ऊनी एवं रेशमी वस्त्र, मोती, मीठी शराब आदि वस्तुओं का आयात होता था। मौर्यकाल में हाथी दाँत की वस्तुएँ, मोती, बहुमूल्य लकड़ी, औषधियाँ, शंख, सीपियाँ, नील, कछुआ आदि का विदेशों को निर्यात किया जाता था। काशी, उज्जैन, कन्नौज, मगध, कौशांबी, तोसली, प्रयाग आदि आंतरिक व्यापार के केन्द्र थे।

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में समुद्री जल मार्गों का उल्लेख करते हुए उन्हें 'संयानपथ' तथा समुद्री जहाजों को 'प्रवहरण' कहा है। राज्य ने व्यापारियों का लाभ भी तय कर रखा था। स्थानीय वस्तुओं पर 5 प्रतिशत तथा विदेशी वस्तुओं पर 10 प्रतिशत का लाभ लिया जा सकता था। निर्यात कर को 'निष्क्राम्य' तथा आयात कर को 'प्रवेश्य' कहा जाता था। आयात पर 20 प्रतिशत कर लगता था। बाजार में बेची जाने वाली वस्तु को 'पण्य' कहा जाता था। मौर्यकाल में 'पण्य संबंधी' चुंगी, तौल-माप, विदेशी व्यापार आदि का निरीक्षण क्रमशः शुल्काध्यक्ष, पोताध्यक्ष एवं अंतपाल किया करते थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से विदित है कि, व्यापारियों द्वारा वस्तुओं की खरीदी एवं बेचने पर अनुचित लाभ उठाने तथा खाने-पीने की वस्तुओं में मिलावट करने एवं कम तौल पर राजकीय अर्थदण्ड का सामना करना पड़ता था। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में राजधानी पाटलीपुत्र एवं राज्य के प्रमुख व्यापारिक नगरों के राजमार्गों एवं सड़कों से जुड़े होने का उल्लेख किया है। राजमार्गों एवं अन्य सड़कों की सुरक्षा का पूर्ण दायित्व राज्य द्वारा उठाया जाता था।

1.4.4 मुद्रा

मौर्य साम्राज्य में ठोस मुद्रा प्रणाली की स्थापना हो चुकी थी। कौटिल्य ने मुद्रा व्यवस्था को साम्राज्य में सुचारु रूप से संचालित होते रहने के लिए मुद्रा एवं टकसाल विभाग की स्थापना की थी, जिसका प्रमुख 'लक्षणाध्यक्ष' कहलाता था। मुद्राओं का परीक्षण 'रूपदर्शक' नामक अधिकारी करता था। कोई व्यक्ति धातु एवं निर्धारित शुल्क देकर सिक्का बनवा सकता था। राज्य में सोने-चाँदी एवं ताँबे की मुद्राएँ चलती थी। 'पण' मौर्य साम्राज्य की राजकीय मुद्रा थी। एक पण 3/4 तोले के बराबर चाँदी का सिक्का था। अधिकारियों का वेतन 'पण' में ही दिया जाता था। मौर्य साम्राज्य का सर्वाधिक प्रचलित सिक्का चाँदी का 'कार्षापण' था। सोने का सिक्का-निष्क एवं सुवर्ण, चाँदी का पण या रूप्यरूप, कार्षापण, धरण, शतभान, ताँबे का माषक एवं काकणी कहलाता था। मयूर, पर्वत अर्द्धचन्द्र चिन्ह छाप वाली 'आहत रजत मुद्राएँ' मौर्य साम्राज्य में खूब चलती थीं।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

- निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:
 - व्यापार ।
 - मुद्रा ।
- नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
 - मौर्यकालीन कृषि एवं पशुपालन का विवरण दीजिये ?

1.5 भाषा, शिक्षा एवं साहित्य

मौर्यकाल में भाषा, शिक्षा एवं साहित्य प्रगतिशील अवस्था में थे। मौर्यकाल में सामान्य जनता की भाषा पाली (प्राकृत) थी। अभिजात वर्ग एवं उच्च वर्णों में संस्कृत भाषा बोली जाती थी। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय संभवतः संस्कृत राजकीय भाषा थी, किन्तु अशोक के समय पाली (प्राकृत) राजकीय भाषा बन गयी थी। बहुसंख्यक आम जनता की भाषा होने के कारण ही अशोक के अधिकांश अभिलेख पाली (प्राकृत) भाषा में उत्कीर्ण किये गये हैं। ब्राह्मण धार्मिक शिक्षा संस्कृत भाषा में दी जाती थी। ब्राह्मण साहित्य भी संस्कृत भाषा में ही था। मध्यदेश में मागधी भाषा बोली जाती थी। मौर्यकाल में सर्वाधिक ब्राह्मी लिपि का प्रचलन था, जिसकी लेखन

शैली बाँये से दाँये थी। अशोक के अभिलेखों में सर्वाधिक ब्राह्मी लिपि का ही उपयोग किया गया है। वैसे, अशोक के अभिलेख ब्राह्मी, खरोष्ठी, अरामाईक एवं ग्रीक लिपि चार लिपियों में मिलते हैं।

मौर्यकाल में शिक्षा का स्तर बहुत ऊँचा था। सामान्य जनता, राज्य द्वारा प्रजा को जारी किये गये राज्यादेशों को समझ सकती थी। अशोक द्वारा साम्राज्य में प्रजा के दिशा-निर्देश हेतु जारी किये गये अभिलेखों, शिलालेखों स्तंभ लेखों आदि को प्रजा पढ़ सकती थी। यूनानी लेखकों ने उल्लेख किया है कि, मौर्य साम्राज्य के राजमार्गों पर दूरी सूचक पत्थर लगे होते थे और उन पर एक निश्चित दूरी अंकित होती थी। अतः यह आसानी से समझा जा सकता है कि, सामान्य जनता साक्षर थी। प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ० वी० ए० स्मिथ ने तो यहाँ तक लिखा है कि, “मौर्यकाल में आम जनता, अंग्रेजी भारत की अपेक्षा अधिक शिक्षित थी।” मौर्यकाल में शिक्षा के लिए अलग से कोई विभाग नहीं था। प्राचीनकाल की तरह मौर्यकाल में शिक्षा के स्रोत गुरुकुल और आश्रम थे। गुरुकुलों में धार्मिक संस्कारित शिक्षा के साथ ही जीवनोपयोगी शिक्षा भी दी जाती थी। मठ एवं विहार भी शिक्षा प्रदान करने के केन्द्र थे।

मौर्य प्रशासन शिक्षा दान करने वाले आश्रमों, गुरुकुलों, मठों एवं विहारों को मुक्त हस्त दान देता था। बौद्धों एवं जैनियों के धार्मिक केन्द्र भी शिक्षा प्रसार का कार्य करते थे। मौर्यकाल में तक्षशिला, काशी, उज्जयिनी, मथुरा आदि शिक्षा के बड़े केन्द्र थे। तक्षशिला विश्वविद्यालय तो इस समय शिक्षा का विश्व प्रसिद्ध शिक्षा केन्द्र था। जहाँ विश्वभर से छात्र शिक्षा लेने आते थे। स्वयं चाणक्य भी तक्षशिला विश्वविद्यालय से शिक्षित था। मौर्यकालीन साहित्य की सबसे बड़ी निधी कौटिल्य का ‘अर्थशास्त्र’ है। प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य मोग्गलिपुत्त तिस्स ने ‘कथावस्तु’ रचना मौर्यकाल में ही की थी। प्रसिद्ध जैन आचार्य भद्रबाहु मौर्यकाल की देन थे, उन्होंने चन्द्रगुप्त मौर्य को जैन धर्म में दीक्षित किया था। सुबन्धु, वररुचि, जबूस्वामी, स्थूलभद्र, यशोभद्र, संभूति आदि अनेक विद्वान मौर्यकाल में हुए।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:

(अ) मौर्यकालीन भाषा, शिक्षा एवं साहित्य का विवरण दीजिये ?

1.6 धार्मिक स्थिति

मौर्यकाल धार्मिक सहिष्णुता एवं समन्वय का काल था। इस काल में वैदिक धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म एवं अन्य अनेक धार्मिक दार्शनिक विश्वासों की विद्यमानता थी, फिर भी आपस में कोई टकराव नहीं था, सभी अपने – अपने स्थान पर धार्मिक क्रियाकलापों में संलग्न थे। स्वयं मौर्य सम्राट भी विविध धर्मों को मानते थे। सम्राट ‘चन्द्रगुप्त मौर्य’ वैदिक धर्म मानते थे और जीवन के अंतिम समय में जैन धर्म को मानने लगे थे। महान मौर्य सम्राट ‘अशोक’ बौद्ध धर्म का अनुयायी था और उसने बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के अनेक कार्य किये। मौर्य शासक ‘सम्प्रति’ जैन धर्म अनुयायी था। कहने का तात्पर्य यह है कि, मौर्य सम्राटों ने विविध धर्मों को अपनाया! किन्तु उन्होंने अपनी प्रजा को किसी धर्म विशेष को मानने के लिए बाध्य नहीं किया।

1.6.1 वैदिक या ब्राह्मण धर्म

मौर्यकाल में विशेषतः वैदिक धर्म की ही प्रधानता थी। बहुसंख्यक जनता वैदिक धर्म की अनुयायी थी। वैदिक धर्म के आचार-विचार, वैदिक यज्ञ एवं कर्मकाण्डों की प्रधानता थी। अशोक के शासनकाल में वैदिक यज्ञों एवं कर्मकाण्डों में कमी आयी। मेगस्थनीज वैदिक यज्ञों में पशुबलि का उल्लेख करता है। मेगस्थनीज तीर्थ यात्रा का भी उल्लेख करता है, वह गंगा को सर्वाधिक पावन नदी कहता है। मेगस्थनीज एवं यूनानी लेखक कृष्ण एवं शिव की उपासना का उल्लेख करते हैं। समाज में बहुदेववाद का उल्लेख अर्थशास्त्र में भी मिलता है। वैदिक धर्म के अनुयायी ब्राह्मण दार्शनिकों की धार्मिकता, पवित्रता एवं विद्वता की प्रशंसा मेगस्थनीज के

साथ ही अन्य यूनानी लेखक भी करते हुए कहते हैं कि इनका बौद्धिक एवं आध्यात्मिक स्तर अत्यन्त ऊँचा है। इतिहासकार नीलकंठ शास्त्री लिखते हैं कि, “बौद्ध ग्रंथों में महाशाला नामक ब्राह्मणों के एक वर्ग का वर्णन मिलता है, जो सम्राट द्वारा दान दी गयी कृषि भूमि से कर वसूलते थे, जिसका उपयोग शिक्षा के प्रसार एवं धार्मिक क्रियाकलापों में करते थे।” मेगस्थनीज ‘मेन्डनिस’ नामक दार्शनिक बौद्धिक ब्राह्मण का उल्लेख करता है, जिसने सिकंदर के द्वारा मृत्यु दण्ड देने की धमकी को दरकिनारा करके उससे मिलने से इंकार कर दिया था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से देवी-देवताओं के मंदिरों एवं मूर्तियों का विवरण मिलता है। पतंजलि के महाकाव्य से मौर्यकाल में देवी-देवताओं की मूर्तियों के विक्रय का उल्लेख मिलता है। मौर्यकाल में देवी-देवताओं की मूर्तियों के निर्माण करने वाले शिल्पियों का उल्लेख मिलता है, इन्हें ‘देवताकरु’ कहा जाता था।

1.6.2 बौद्ध धर्म

बौद्ध धर्म मौर्यकाल में अशोक के शासनकाल में सर्वाधिक प्रभावशाली रहा। हालाँकि अशोक से पूर्व भी बौद्ध धर्म समाज में आदर के साथ प्रचलित था किन्तु अशोक ने स्वयं राजकीय प्रश्रय प्रदान करके बौद्ध धर्म को अधिक प्रभावशाली बना दिया था। अशोक ने धम्म (बौद्ध धर्म) के प्रसार – प्रचार के लिए ठोस नीतिगत फैसले लिए। इसके लिए अशोक ने प्रशासनिक मशीनरी का भरपूर उपयोग किया। साथ ही, स्वयं ने भी आगे बढ़कर सक्रिय रूप से धम्म के प्रसार – प्रचार का झण्डा अपने हाथों में थाम लिया था। अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार – प्रसार के लिए सार्वजनिक रूप से बौद्ध धर्म में आस्था प्रगट की। बौद्ध धर्म से संबंधित स्थलों की तीर्थ यात्रा की तथा बौद्ध धर्म को चोट पहुँचाने वालों को वह प्रत्यक्षतः चेतावनी देता है।

अशोक ने प्रशासन में फेरबदल करते हुए प्रशासनिक अधिकारियों को अतिरिक्त जिम्मेदारी सौंपी। अशोक ने अपने राज्याभिषेक (269 ई० पू०) के बारहवें वर्ष (258 ई० पू०) ‘धम्मनुशासन’ धर्म की शिक्षा प्रकाशित करवाया एवं प्रचार के लिए पदाधिकारियों की नियुक्ति की। अशोक के तीसरे शिलालेख में वर्णित है कि, उसने राजकुओं, युक्तों, एवं प्रादेशिकों को प्रति पाँचवें वर्ष धर्म प्रचार हेतु नियुक्त कर यात्रा करने का आदेश दिया। अशोक अभिलेखों में इसे ‘अनुसंधान’ की संज्ञा दी गयी है। साथ ही, अशोक ने धर्म की वृद्धि एवं प्रज्ञा के नैतिक तथा आध्यात्मिक उत्थान के लिए राज्याभिषेक (269 ई० पू०) में चौदहवें वर्ष (256 ई० पू०) में नवीन अधिकारियों के रूप में ‘धर्ममहामात्रों’ की नियुक्ति की। पाँचवें शिलालेख से स्पष्ट है कि, “धर्ममहामात्रों का मुख्य कार्य प्रजा की आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना था।”

अशोक स्वयं भी प्रत्यक्ष रूप से बौद्ध धर्म में आस्था प्रगट करता है। अशोक मास्की लघु शिलालेख में स्वयं को ‘बुद्ध शाक्य’ कहता है। भद्रु लघु शिलालेख (बैराट, राजस्थान) में अशोक बौद्ध त्रिरत्नों बुद्ध, धम्म, संघ में आस्था प्रगट करता है। अशोक ने बौद्ध धर्म में आस्था प्रकट करते हुए बौद्ध धर्म स्थलों की तीर्थ यात्रा की थी। ये धार्मिक यात्राएँ 10 वर्षों में होती थीं, प्रथम धर्म यात्रा (बौद्ध स्थल तीर्थ यात्रा) राज्यभिषेक के 10 वें वर्ष (260 ई० पू०) में ‘बोध गया’ की की। द्वितीय, राज्यभिषेक के 20 वर्ष (250 ई० पू०) लुम्बिनी की की। लुम्बिनी (रुम्मिनदेई) अभिलेख में वर्णित है कि, अशोक ने भूमि कर आधा अर्थात् 1/8 कर दिया। अशोक, लुम्बिनी के पास स्थित निगाली सागर की भी यात्रा की। निगाली सागर स्तम्भ लेख में उत्कीर्ण है कि, अशोक ने राज्यभिषेक (269 ई० पू०) के चौदहवें वर्ष (256 ई० पू०), कनकमुनि बुद्ध के स्तूप को बढ़ाकर दो गुना करवाया तथा राज्यभिषेक के 20 वें वर्ष यहाँ की यात्रा की थी। यह तथ्य उल्लेखनीय है कि, कनकमुनि प्रत्येक बुद्ध थे। ‘प्रत्येक बुद्ध उसे कहते हैं, जो स्वयं तो ज्ञान प्राप्त कर लेता है किन्तु दूसरों को उसका उपदेश नहीं देता।’ अशोक अपने आठवें शिलालेख में विहार यात्रा के स्थान पर धर्म यात्रा करने का उल्लेख करता है। अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रसार – प्रचार के तारतम्य में बुद्ध के अवशेषों (मूल 8 स्तूपों को खुदवाकर प्राप्त अवशेष) पर 84 हजार स्तूपों का निर्माण करवाया। बुद्ध के

अवशेषों पर स्तूप बनवाने की सूचना 'अहरौरा अभिलेख' (मिर्जापुर, जिला, उ० प्र०) देता है और यह संभवतः बुद्ध के अवशेषों पर अशोक द्वारा स्तूप बनाये जाने प्रथम उल्लेख करता है।

अशोक धम्म के प्रसार – प्रचार के साथ – साथ धम्म को चोट पहुँचाने वाले लोगों को सख्त लहजे में चेतावनी देने में पीछे नहीं हटता। अशोक साँची, सारनाथ एवं कौशाम्बी के अभिलेखों में संघ में फूट डालने वाले भिक्षुओं को चेतावनी देता है कि, यदि वे दोषी पाये गये, तो उन्हें श्वेत वस्त्र पहना कर संघ से बाहर निकाल दिया जायेगा। इस प्रकार अशोक बौद्ध धर्म के संगठनकर्ता की मुख्य भूमिका भी धारण कर लेता है, जैसाकि डॉ० डी० आर० भण्डारकर लिखते हैं कि, "अशोक बौद्ध संघ (बुद्धिस्त चर्च) का भी स्वामी या प्रमुख बन गया था तथा सम्राट और पोप (धर्म गुरु) दोनों की शक्तियाँ उसने धारण कर ली थीं।"

अशोक ने बौद्ध धर्म को अपने जीवन एवं प्रशासनिक नीतियों में अधिक समाहित करते हुए अनेक कार्यों को संपादित किया। वह अब जनता को धर्म श्रावण अर्थात् धर्म संदेश देने लगा, जैसाकि सातवें स्तम्भ लेख से ज्ञात होता है। उसने आम जनता के हितों को दृष्टिगत रखते हुए अनेक कार्य किये। जैसे, कुँए खुदवाना, वृक्ष लगाना, चिकित्सालयों तथा औषधियों की व्यवस्था करना, सड़कें बनवाना आदि। जिनका विस्तृत वर्णन सातवें स्तम्भ लेख एवं दूसरे शिलालेख में मिलता है।

साथ ही, अशोक अपने सम्पूर्ण क्रियाकलापों में अहिंसा के सिद्धान्त को प्रमुख स्थान प्रदान करता है। हिंसा का परित्याग करते हुए घोषणा करता है कि, अब वह शस्त्र – विजय का त्यागकर 'धर्म विजय' करेगा, जैसाकि तेरहवें शिलालेख में उल्लेखित है। चौथे शिलालेख में वर्णित है कि, अशोक राज्य में 'भेरी घोष' (युद्ध का शंखनाद) के स्थान पर सभी तरफ 'धर्म घोष' (धार्मिक वातावरण का बोलवाला) गूँज रहा है, अर्थात् "युद्ध का त्याग कर धार्मिक कृत्यों से सारा राज्य आप्लावित हो रहा है।" अशोक ने अहिंसा की नीति को तार्किक परिणति प्रदान करते हुए के अपने राज्याभिषेक (269 ई० पू०) के छब्बीसवें वर्ष (244 ई० पू०) में 'हिंसा निषेध' लागू किया। प्रथम शिलालेख में वर्णित है कि, उसने समाजों (उत्सवों) पर प्रतिबंध लगा दिया। इन समाजों (उत्सवों) में मनोरंजन के लिए पशु – पक्षियों की लड़ाई होती थी तथा नृत्य संगीत के साथ भोजन के लिए पशु – पक्षियों का वध किया जाता था। पाँचवें शिलालेख में अशोक ने उन पशुओं के नाम दिये हैं, जिनका वध दण्डनीय है।

अशोक ने प्रशासनिक व्यवस्था में जन कल्याण हेतु सुधार किये। अशोक ने दण्ड विधि में नरमता बरतते हुए कुछ सार्थक कदम उठाये। अशोक प्रतिवर्ष अपने 'राज्याभिषेक – दिवस' पर कैदियों की सजा माफ करते हुए जेलों से मुक्त करता था, जैसाकि पाँचवें स्तम्भ लेख में उल्लेखित है। विद्वानों का मानना है कि, अशोक ने अपने शासनकाल में कुल 26 बार सामूहिक रूप से कैदियों (अपराधियों) को आम माफी दी थी। इसके साथ ही, अशोक ने मृत्यु दण्ड पाये अपराधियों के प्रति नरमता बरतते हुए मृत्यु दण्ड से पूर्व 'तीन दिन' का अतिरिक्त समय देने का आदेश दिया, जैसाकि चौथे स्तम्भ लेख में उल्लेख है।

अशोक ने धम्म की वृद्धि एवं प्रसार – प्रचार के लिये तथा धम्म में अपनी आस्था को प्रगट करते हुए 250 ई० पू० में 'तृतीय बौद्ध संगीति' का आयोजन किया। यह संगीति पाटलिपुत्र के अशोक विहार में 'मोग्गलिपुत्र तिस्स' की अध्यक्षता में हुई। संगीति में 'अभिधम्मपिटक' का सृजन किया गया। ज्ञातव्य रहे कि, इस तृतीय बौद्ध संगीति का उल्लेख मात्र दीपवंश एवं महावंश करते हैं। अशोक के किसी भी अभिलेख में इसका उल्लेख नहीं आया है। दीपवंश – महावंश में वर्णित है कि, अशोक ने राज्याभिषेक का सत्रहवें तथा महात्मा बुद्ध के महापरिनिर्माण के 236 वर्ष बाद पाटलिपुत्र में 'मोग्गलिपुत्र तिस्स' की अध्यक्षता में एक 'बौद्ध संगीति' आयोजित की गयी। कतिपय विद्वानों का मानना है कि, अशोक का भब्रू (वैराट, राजस्थान) अभिलेख 'तृतीय बौद्ध संगीति' के प्रमाण देता है। इस विषय में डॉ० डी० आर० भण्डारकर का मानना है कि, भब्रू अभिलेख में सम्राट अशोक के वक्तव्यों से विदित होता है कि, वह इस संगीति में आये बौद्ध भिक्षुओं

को अपना परिचय देता है तथा भिक्षुओं को धर्म ग्रंथों के अध्ययन की सलाह देता है तथा धम्म की दीर्घकालीन होने की कामना करता है।

अशोक ने तृतीय बौद्ध संगीति के बाद विदेशों में बौद्ध धर्म प्रचार को भेजा। अशोक का दूसरा, पाँचवाँ, तेरहवाँ शिलालेख एवं सातवाँ स्तम्भ लेख तथा दीपवंश, महावंश, सामंतपासादिका धर्म प्रचार का उल्लेख करते हैं। साथ ही, साँची स्तूप (जिला रायसेन, मध्य प्रदेश) से प्राप्त एक पट्टिका पर दस धर्म प्रचारकों का नाम लिखा मिला है। तेरहवें शिलालेख में यवन (यूनानी) राजाओं का उल्लेख में, तुरमाय (मिस्त्र का यूनानी राजा टालमी द्वितीय फिलाडेल्फस), अंतिकिनी (मेसीडोनिया का यूनानी राजा ऐण्टीगोनस), मग (सीरिया का यूनानी राजा मगा, मैगस), अंतियोक (सीरिया का यूनानी राजा एण्टियोकस द्वितीय थियोस), अलिकसुन्दर (एपिरस का एलेग्जेण्डर) धर्म प्रचार भेजे। इसके अतिरिक्त अनेक स्थानों तथा देशों में अशोक ने धर्म प्रचार को भेजे।

स्थान (देश)	प्रचारक
1. कश्मीर, गंधार	— मज्झन्तिक
2. यवन देश (यूनानी राज्य)	— महारक्षित
3. मैजू (और मांधाता)	— महादेव
4. अपरान्तक	— धर्मरक्षित
5. हिमालय प्रदेश	— मज्झिम
6. महाराष्ट्र	— महाधर्मरक्षित
7. बनवासी (उत्तर कनारा)	— रक्षित
8. सुवर्ण भूमि (पेगू, वर्मा)	— सोन एवं उत्तरा
9. श्रीलंका	— महेन्द्र, संघमित्र, सम्बल, भद्रसाल

इस प्रकार अशोक ने दक्षिणी एवं पश्चिमी देशों में धम्म मिशनों (धर्म शिष्टाचार प्रतिनिधी मण्डल) के द्वारा संपर्क स्थापित किया। इन मिशनों की तुलना आधुनिक सद्भावना मिशनों से की जा सकती है।

1.6.3 जैन धर्म

जैन धर्म, मौर्यकालीन समाज में एक प्रमुख धर्म था। जैन धर्म के अधिकांश अनुयायी व्यापारी वर्ग एवं वैश्यों में से आते थे। व्यापारी वर्ग जैन धर्म के विकास एवं प्रसार के लिए प्रचुर धनराशि दान में देता था। मौर्यकाल में लगभग 300 ई० पू० में पाटलिपुत्र में प्रथम जैन धर्म सभा संपन्न हुई थी। जिसमें जैन धर्म के प्रधान भाग 12 अंगों का सम्पादन हुआ। यह सभा स्थूलभद्र एवं सम्भूति विजय के निरीक्षण में हुई थी। इसी जैन संगीति के बाद जैन धर्म श्वेताम्बर एवं दिगम्बर सम्प्रदायों में बंट गया था। मौर्यकाल में मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य को जैन के छठे थेर (स्थविर) ने जैन धर्म में दीक्षित किया था। चन्द्रगुप्त ने जीवन का अंतिम समय भद्रबाहू के साथ दक्षिण भारत में श्रवणवेलगोला में व्यतीत किया था और इसी काल में दक्षिण भारत में जैन धर्म का प्रचार-प्रसार तीव्रता से हुआ। अशोक का पौत्र सम्प्रति भी जैन धर्म का अनुयायी था। उसके समय भी जैन धर्म का प्रसार-प्रचार हुआ।

1.6.4 आजीविक सम्प्रदाय

मौर्यकाल में आजीविक सम्प्रदाय का बड़ा प्रभाव था। आजीविक सम्प्रदाय की स्थापना 'मक्खलिपुत्र गोसाल' ने की थी। आजीविक सम्प्रदाय के अनुयायी श्रवण वर्ग के थे। अशोक एवं उसके पौत्र दशरथ ने आजीविकों को अपना संरक्षण प्रदान किया था। बिम्बिसार के कला में आजीविक परिव्राजक उसकी राजसभा में रहता था, अतः आजीविक सम्प्रदाय को बिम्बिसार का भी संरक्षण प्राप्त था। अशोक ने गया के पास बराबर पहाड़ी पर दो गुफाओं का निर्माण आजीविकों के लिए करवाया था। मौर्य शासक दशरथ ने भी

आजीविकों के लिए नागार्जुनी पहाड़ी पर गुफाओं का निर्माण करवाया था। वस्तुतः आजीविक नगर-ग्रामों में दूर सन्यासियों का जीवन नग्न अवस्था में जंगलों में व्यतीत करते थे।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

(प) निम्नलिखित वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर दीजिए:

1. अशोक ने राज्याभिषेक के कौनसे वर्ष में 'हिंसा निषेध' लागू किया ?
(क) 24 (ख) 25
(ग) 26 (घ) इनमें से कोई नहीं
7. अशोक ने कितने हजार स्तूपों का निर्माण करवाया था ?
(क) 81 हजार (ख) 82 हजार
(ग) 83 हजार (घ) 84 हजार
3. अशोक ने अपने शासनकाल में कितने बार सामूहिक रूप से कैदियों को आम माफी दी थी ?
(क) 23 (ख) 24
(ग) 25 (घ) 26
4. किस मौर्य शासक के शासनकाल में तृतीय बौद्ध संगीति हुई थी ?
(क) चन्द्रगुप्त मौर्य (ख) बिन्दुसार
(ग) अशोक (घ) इनमें से कोई नहीं
5. किस मौर्य शासक ने विदेशों में बौद्ध धर्म के प्रचार भेजे थे ?
(क) चन्द्रगुप्त मौर्य (ख) बिन्दुसार
(ग) अशोक (घ) इनमें से कोई नहीं

(पप) निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:

1. (क) जैन धर्म ।
(ख) आजीविक सम्प्रदाय ।
2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
(अ) मौर्यकालीन बौद्ध धर्म का विवरण दीजिये ?

1.7 मौर्यकालीन कला

कला, मौर्यकालीन संस्कृति का अभिन्न अंग है। मौर्यकाल में कला के प्रत्येक क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रगति हुई थी। इतिहासकारों ने मौर्यकालीन कला को राजकीय एवं लोक कला में विभाजित किया है। मौर्य कालीन नगर राजमहल, स्तूप, स्तंभ, गुफाएँ, मूर्तियाँ राजकीय कला के अंतर्गत आते हैं। यक्ष मूर्तियाँ, पशु एवं पक्षियों की मूर्तियाँ आदि लोककला का हिस्सा हैं।

1.7.1 राजधानी एवं नगर

मौर्यकाल में पाटलीपुत्र, श्रीनगर, ललितपट्टन (नेपाल), देवपालन (नेपाल) आदि नगरों की स्थापना हुई। पाटलिपुत्र मौर्य साम्राज्य की राजधानी थी और यहाँ के नगर नियोजन एवं राजप्रसादों का उल्लेख यूनानी लेखकों ने किया है। इसके साथ ही वर्तमान पटना के पास बुलन्दीबाग एवं कुम्रहार के उत्खनन से महत्वपूर्ण अवशेष मिले हैं, जिनसे यूनानी लेखकों के प्रसंगों की साम्यता स्थापित होती है। यूनानी लेखक स्ट्रेबो ने पाटलिपुत्र का विवरण देते हुए लिखा है कि, "पाटलिपुत्र की लम्बाई 80 स्टेडिया तथा चौड़ाई 18 स्टेडिया है। नगर के चारों ओर 700 फीट चौड़ी एवं 30 फुट गहरी खाई है तथा नगर लकड़ी की एक

चहार दीवारी से घिरा है, जिसमें बाण चलाने के लिये छिद्र बने हैं। इस दीवार में 570 बुर्ज एवं 64 द्वार हैं। समानान्तर चतुर्भुज के आकार का यह नगर सोन एवं गंगा नदियों पर बसा हुआ था।

राजधानी पाटलिपुत्र में अशोक द्वारा निर्मित राजप्रसाद के अवशेष 1813 ई० में डॉ० स्पूनर ने पटना के पास कुम्रहार से उत्खनन प्राप्त किये। स्पूनर के एक विशाल 'सभा कक्ष' मिला था, जिसकी छत 80 पाषाण स्तम्भों पर टिकी हुई थी। इस विशाल 'सभा कक्ष' की छत एवं फर्श काष्ठ से निर्मित थी। इस सभा भवन की लम्बाई 140 फुट एवं चौड़ाई 120 फुट थी। स्तम्भों पर चमकदार पालिश मिली है। स्पूनर इन पाषाण स्तम्भों की चमकदार पॉलिश पर ईरानी प्रभाव मानते हैं। वहीं, डॉ० वी० एस० अग्रवाल ने भारतीय साहित्य से अनेक तथ्य खोजकर यह सिद्ध कर दिया है कि, यह मौलिक रूप से भारतीय है। फाह्यान जब भारत आया तब उसने भवन देखकर आश्चर्यजनक रूप से कहा कि, इसे देवताओं ने बनाया होगा। सातवीं शताब्दी में जब इत्सिंग भारत आया, तब तक यह भवन नष्ट हो गया था। ईलियन ने कहा है कि, "एकबटना एवं सूसा के राजप्रसाद भी मौर्य राजप्रसादों की बराबरी नहीं कर सकते थे।"

1.7.2 स्तम्भ

मौर्यकालीन कला की उत्कृष्ट कृति स्तम्भ है। स्तम्भों का निर्माण, इनकी पॉलिश एवं इन पर उत्तम कला उत्कीर्णन, इन्हें सर्वश्रेष्ठ बना देता है। अशोक ने अनेक स्तम्भ स्थापित करवाये थे। ऐसे छः स्तम्भ फाह्यान एवं पंद्रह स्तम्भ हेनसांग ने देखे थे। डॉ० वी० ए० स्मिथ का मानना है कि, अशोक ने ऐसे 30 स्तम्भों का निर्माण करवाया होगा। स्तम्भों की लम्बाई 40 से 50 फुट की है। स्तम्भों का वजन लगभग 50 टन का है। स्तम्भों का निर्माण चुनार (आधुनिक मिर्जापुर, उ० प्र०) के 'लाल बलुआ' पत्थरों से किया गया था। कतिपय स्तम्भों का निर्माण मथुरा की पहाड़ियों से लाये गये 'लाल बलुआ' पत्थरों से किया गया था। मौर्यकालीन सभी स्तम्भ 'एकाश्मक' (मोनोलिथिक) हैं। अशोक 10 स्तम्भ लेख युक्त तथा 4 लेख विहीन मिले हैं। लेखयुक्त स्तम्भ – प्रयाग स्तम्भ, दिल्ली टोपरा स्तम्भ, दिल्ली स्तम्भ, रूमिन्देई स्तम्भ, प्रयाग स्तम्भ, सारनाथ स्तम्भ, साँची स्तम्भ रामपुरवा स्तम्भ, लौरिया नन्दनगढ़ स्तम्भ, लौरिया अरराज स्तम्भ एवं लेख विहीन स्तम्भ – कौशाम्बी स्तम्भ, रामपुरवा स्तम्भ, वैशाली स्तम्भ, संकिसा स्तम्भ है। अशोक के स्तम्भों के चार भाग हैं। दंड, कमलाकृति शीर्ष, फलक और सर्वोच्च पशुमूर्ति।

1.7.2.1 दंड

दंड को यष्टि, लाट या तना भी इतिहासकारों ने कहा है। यह भाग पूर्णतः एकाश्मक है। ये दंड बिना किसी पीठिका के सहारे जमीन में सीधे खड़े किये गये हैं। दंड नीचे से ऊपर की ओर बड़े ही नियंत्रित ढंग से पतले होते गये हैं, इनकी आकृति गोल है। स्तम्भ के इस दंड भाग पर चमकदार ओपदार पॉलिश की गयी। समस्त दंडों की औसत ऊँचाई लगभग 32 फुट है। डॉ० वी० ए० स्मिथ ने इनकी प्रशंसा करते हुए लिखा है कि, कठोर पत्थर पर तक्षण की प्रवीणता का ऐसा उत्तम कार्य वर्तमान में भी संभव नहीं है।

1.7.2.2 कमलाकृति शीर्ष

कमलाकृति शीर्ष दंड के ऊपर दूसरे पत्थर को जोड़कर निर्मित की गयी है। किन्तु किस पदार्थ या धातु से जोड़ा है, वह आज तक स्पष्ट नहीं हो सका है। मार्शल आदि कतिपय इतिहासविद् कमलाकृति शीर्ष को घण्टाशीर्ष की संज्ञा देते हुए इसे 'हखामनी' (पर्सिपोलिस) से प्रभावित मानते हैं। वहीं, डॉ० वी० एस० अग्रवाल ने इसे भारतीय पूर्णघट (मंगल कलश) की अनुकृति प्रमाणित किया है। शीर्ष भाग में कमलशीर्ष फलक एवं सर्वोच्च पशुमूर्ति विद्यमान है। डॉ० आर० एन० मिश्र ने लिखा है कि, स्तम्भों में सीधे दंड पर बनी हुई पंखुड़ियों सहित वर्तुल कमल आकृति बड़ी मनोहर है। इनमें पंखुड़ियाँ लंबी, नुकीले सिरे वाली हैं।

इनके किनारे उठे हुए हैं। सभी स्तम्भों में पंखुड़ियों का लगभग एक जैसा नियमित अंकन है। कमलशीर्ष के ऊपरी भाग पर, पद्मबंध के किनारों के ऊपर फलक का भाग प्रारंभ होता था।

1.7.2.3 फलक

कमलशीर्ष के ऊपर सर्वोच्च पशुमूर्ति की पीठिका के रूप में फलक का विधान किया गया था। प्रारम्भ में फलक चौकोर बनाये गये बाद में विकसित होकर फलक गोल आकृति के अलंकरण युक्त बनने लगे।

1.7.2.4 शीर्षस्थ पशु मूर्तियाँ

स्तम्भों के सर्वोच्च भाग में पशु मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। शीर्षस्थ पशु मूर्तियों में सिंह, वृषभ, गज, अश्व पशुओं की मूर्तियाँ मिलती हैं। प्रमुख शीर्षस्थ पशु मूर्तियाँ स्तम्भ हैं – सारनाथ का चतुर्सिंह स्तम्भ, साँची का चतुर्सिंह स्तम्भ, लौरिया नन्दनगढ़ सिंह शीर्ष स्तम्भ, रामपुरवा सिंह शीर्ष स्तम्भ, बसाढ़ सिंह शीर्ष स्तम्भ, रामपुरवा वृषभ शीर्ष, संकिशा गजशीर्ष स्तम्भ, शीर्षस्थ पशु मूर्ति स्तम्भों में सारनाथ स्तम्भ कला की दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। सर जॉन मार्शल ने लिखा है कि, 'सारनाथ स्तम्भ स्थापत्य कला की उत्कृष्ट कृति है।' वस्तुतः शीर्षस्थ पशुमूर्तियाँ मौर्यकालीन कला की उत्कृष्टता एवं कलात्मकता का जीवंत उदाहरण हैं। विश्व में शायद ही इतनी सजीव और सुन्दर मूर्तियाँ निर्मित हुई हों। यह भारतीय कला के कलाकारों के पीढ़ियों के अनुभवों की साकार कृति है।

1.7.3 स्तूप

स्तूप, मौर्यकला के महत्वपूर्ण अंग हैं। मौर्यकाल में अशोक के शासनकाल में बहुत बड़ी संख्या में स्तूपों के निर्माण हुआ। बौद्ध ग्रंथों से ज्ञात होता है कि, अशोक ने 84000 स्तूपों का निर्माण करवाया था।

स्तूप का शाब्दिक अर्थ 'थूहा' अथवा 'ढेर' है। प्राकृत भाषा में स्तूप के लिए 'थूप' शब्द का प्रयोग मिलता है। स्तूप का प्राचीनतम साहित्यिक प्रमाण 'ऋग्वेद' में मिलता है। यजुर्वेद एवं शतपथ ब्राह्मण में भी स्तूप का उल्लेख मिलता है। बौद्ध ग्रंथ महापरिनिर्वाण सूत्र में उल्लेख मिलता है कि "महात्मा बुद्ध ने स्वयं अपने शिष्य आनन्द से कहा था कि, मेरी मृत्यु के बाद मेरे अवशेषों पर उसी प्रकार का स्तूप बनाया जाये जिस प्रकार चक्रवर्ती सम्राटों के अवशेषों पर बनाये जाते हैं।" इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि, बुद्ध के जीवन से पहले भी स्तूप विद्यमान थे।



अशोक के शासनकाल में बने स्तूपों में साँची का स्तूप सर्वाधिक प्रसिद्ध है। वर्तमान में साँची का स्तूप जिला रायसेन (मध्यप्रदेश) में स्थित है। साँची को मौर्यकाल में 'वेदिसगिरि' और 'चेतियगिरि' कहा जाता था। साँची का स्तूप नं. 01, जिसे 'महास्तूप' भी कहा जाता है, अशोक के शासनकाल में बना। इसके बाद यहाँ समय-समय पर स्तूप के आकार-प्रकार, अलंकरण आदि में परिवर्तन एवं परिवर्द्धन होते रहे। शुंग-सातवाहन काल में स्तूप के अण्ड भाग पर प्लास्टर किया गया। स्तूप के दक्षिणी तोरण द्वार का निर्माण उस पर उत्कीर्ण एक लेखानुसार सातकर्णी-द्वितीय के समय हुआ। गुप्तकाल में इस स्तूप के समीप अनेक छोटे-छोटे स्तूप निर्मित हुए। प्रतिहार परमार आदि राजवंशों के शासनकाल में भी यहाँ अनेक

गतिविधियाँ संपन्न हुई। मौर्यकाल में स्तूप के निर्माण में ईंटों का प्रयोग किया गया था। यह स्तूप वर्तमान सतह से चार फीट नीचे मौर्यकाल में बनाया गया था। अशोक के समय इस स्तूप का व्यास 60 फीट था, स्तूप के निर्माण में पकी हुई ईंटों का प्रयोग किया गया था जिनका आकार 16"×10"×3" है। भू-वेदिका, मेधि, अण्ड हर्मिका छत्र, यष्टि, आदि स्तूप की संरचना के वास्तु अंग हैं। साँची स्तूप का विकसित स्वरूप शुंग-सातवाहन काल में उभरकर आया। स्तूप की वेदिका और तोरणों की शिलाओं पर दान दाताओं के नाम भी उत्कीर्ण मिलते हैं, जिनमें अधिकांशतः आलेख शुंग कालीन ब्राह्मी लक्षणों से मेल खाते हैं।

स्तूप के वास्तु अंगों का विवरण निम्नांकित है -

भू-वेदिका :- स्तूप के चतुर्दिक भू-वेदिका का निर्माण किया गया है। यह अण्ड के व्यास से अधिक व्यास का है। अण्ड और भू-वेदिका के बीच एक निश्चित दूरी है, जो संभवतः प्रदक्षिणा पथ के रूप में प्रयुक्त की जाती थी। भू वेदिका के निर्माण में आलंबन, स्तम्भ, सूची और ऊष्णीस नामक वास्तु अंगों का उपयोग किया गया है। यह वास्तु अंग पाषाण से निर्मित है। अशोक के समय भू-वेदिका लकड़ियों से निर्मित की गयी थी।

मेधि (मध्य - वेदिका) :- मेधि का निर्माण स्तूप की ऊँचाई के मध्य में किया गया है। इसके निर्माण में भी भू-वेदिका की तकनीक और सामग्री का प्रयोग किया गया है। मेधि और अण्ड के बीच में पुनः एक निश्चित दूरी प्रदक्षिणा पथ हेतु छोड़ी गयी है। मेधि पर जाने के लिए स्तूप के धरातक से वर्तमान में दक्षिणी तोरण द्वार की तरफ में मेधि तक पहुँचने के लिए सोपान निर्मित हैं।

अण्ड :-स्तूप का प्रमुख वास्तु अंग, जो सूर्य के प्रतीक के रूप में बुद्ध का प्रतिनिधित्व करता है, अण्ड के नाम से जाना जाता है। मौर्यकाल में इसके निर्माण में ईंटों का प्रयोग किया गया था, जिस पर शुंगकाल में एक इंच मोटा प्लास्टर किया गया। यह अर्द्धवृत्ताकार या अर्द्धचन्द्राकार है।

हर्मिका :-स्तूप के शीर्ष भाग पर वर्गाकार हर्मिका निर्मित है, जिसके निर्माण में स्तम्भ, सूची और ऊष्णीस का विधान है। भू-वेदिका, मेधि और हर्मिका में तीन-तीन सूचीयाँ आड़ी दिशा में लगायी गयी है। स्तम्भों में सूची की चौड़ाई के आकार का छेद काटकर सूचियों को उनमें फंसाया गया है परंतु यहाँ आलंबन का विधान नहीं है क्योंकि इसका विधान स्तूप के शीर्ष पर उलान होने के कारण संतुलन की दृष्टि से उपयुक्त नहीं था जबकि भू-वेदिका और मेधि में जो स्तम्भ लगे हैं, उन्हें आलंबन शिला में कटाव करके फंसाया गया है।

यष्टि एवं छत्र :- स्तूप के शीर्ष पर निर्मित हर्मिका के केन्द्र बिन्दु में पाषाण निर्मित यष्टि (दण्ड) आरोपित है जिसमें तीन छत्र नीचे से ऊपर की तरफ घटते क्रम में लगाये गये हैं। ये तीनों छत्र क्रमशः बुद्ध, धर्म, संघ का प्रतिनिधित्व करते हैं। यष्टि बुद्ध की स्थिरता और उनके मत की अमरता का द्योतक है। छत्र यष्टि के माध्यम से स्तूप वास्तु में सम्भवतः यह परिकल्पना भी की गयी है कि बुद्ध या उसका ज्ञान आकाश की विशालता जैसे गुणों से निहित हैं, क्योंकि बौद्ध साहित्य में बुद्ध को सूर्यवंशीय बताया गया है।

तोरण द्वार :- तोरण अर्थात् द्वार के निर्माण में स्तंभ, बड़ेरियाँ, सूचियाँ आदि वास्तु अंगों का प्रयोग किया गया है। ये पत्थर से निर्मित हैं। तोरण द्वारों में दो स्तंभों पर तीन बड़ेरियाँ लगायी गयी हैं, बड़ेरियों पर बुद्ध की जातक कथाओं, उनके जीवन दृश्यों एवं आलंकारिक अभिप्रायों को अंकित किया गया है। बड़ेरियों के दोनों किनारों पर चक्रपुंज बनाए गए हैं। तोरण-द्वार में बड़ेरियों को एक-दूसरे से अलग करने के लिए तीन-तीन सूचियाँ ऊपर से नीचे लगायी गयी हैं। इन तोरण द्वारों में सबसे प्राचीन दक्षिणी तोरण द्वार (सातकर्णी-द्वितीय द्वारा निर्मित) है, इसके बाद क्रमशः उत्तरी, पूर्वी एवं पश्चिमी तोरण द्वार बने।

1.7.4 विहार एवं शैलोत्कीर्ण गुफाएँ

मौर्यकाल में अशोक एवं उसके उत्तराधिकारियों ने अनेक बौद्ध विहार एवं शैलोत्कीर्ण गुफाओं का निर्माण करवाया था। बुद्धघोष द्वारा रचित बौद्ध ग्रंथ 'सुमंगलविलासिनी' से ज्ञात है कि, अशोक ने 84000 विहार बनवाये थे। बौद्ध विहारों का निर्माण बौद्ध भिक्षुओं के निवास के लिए करवाया जाता था। हेनसांग अशोक के 100 विहारों का उल्लेख करता है। मौर्यकाल में शैलोत्कीर्ण गुहा कला का श्री गणेश अशोक ने ही किया था। अशोक एवं उसके पौत्र दशरथ ने बौद्ध भिक्षुओं एवं आजीविक सम्प्रदाय के भिक्षुओं के निवास करने के लिए बराबर एवं नागार्जुनी की पहाड़ियों की चट्टानों को काटकर गुफाओं का निर्माण करवाया था। चार गुफाएँ बराबर तथा तीन गुफाएँ नागार्जुनी पहाड़ी पर उत्कीर्ण है। इन सात गुफाओं को सामूहिक रूप से 'सतघर' कहा जाता है। इन गुफाओं के अलंकरण 'काष्ठकला' से प्रभावित है। गुफाओं की छत एवं दीवारों पर ओपदार चमकीली पॉलिश की गयी है। बराबर की पहाड़ी पर अशोक द्वारा निर्मित सुदामा की गुफा, कर्ण चौपड़ गुफा, विश्व झोपड़ी एवं दशरथ द्वारा निर्मित लोमश ऋषि की गुफा अपने अलंकरण एवं वास्तु विम्ब के कारण प्रसिद्ध है। नागार्जुनी गुफाओं का निर्माण मौर्य सम्राट दशरथ ने करवाया था। इनके नाम गोपी गुफा, वापि गुफा एवं पदथिक गुफा है।

1.7.5 लोक कला

मौर्यकाल की कला में लोक कला का भी प्रमुख स्थान है। लोक कला, आम जनता के लोक जीवन की कल्पनाशीलता एवं सृजनशीलता का साकार रूप था। मौर्यकालीन लोक कला में प्रमुखतः यक्ष – यक्षिणियाँ एवं पशुओं की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। यक्ष मूर्तियाँ विशालकाय, बलिष्ठ और मांसल की निर्मित है। यक्ष मूर्तियाँ कुरूक्षेत्र, राजघाट (वाराणसी), पटना, पद्मावती (गवालियर), मथुरा, नोह (भरतपुर), सोपारा आदि स्थानों से तथा यक्षिणी मूर्तियाँ दीदारगंज (पटना), झींग का नगला (मथुरा) बेसनगर (विदिशा), मेहरौली आदि स्थानों से प्राप्त हुई है। मौर्यकालीन लोककला के अंतर्गत मृण्मूर्तियाँ अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। इन मूर्तियों को आग में अच्छी तरह पकाया गया था। बसाढ़, मथुरा, बुलंदीबाग, कुम्हारार, मथुरा, सारनाथ, भीटा आदि स्थलों से बहुत बड़ी संख्या में मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

(प) निम्नलिखित वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर दीजिए:

1. मौर्य साम्राज्य की राजधानी थी ?
(क) पाटलिपुत्र (ख) उज्जयिनी
(ग) कौशाम्बी (घ) इनमें से कोई नहीं
2. मौर्यकालीन स्तम्भों का वजन था ?
(क) 30 टन (ख) 40 टन
(ग) 50 टन (घ) 60 टन
3. स्तूप का प्राचीनतम् साहित्यिक प्रमाण मिलता है ?
(क) ऋग्वेद में (ख) यजुर्वेद में
(ग) सामवेद में (घ) इनमें से कोई नहीं
4. हेनसांग अशोक के कितने विहारों का उल्लेख करता है ?
(क) 100 (ख) 200
(ग) 300 (घ) 400
5. नागार्जुनी गुफाओं का निर्माण किस मौर्य सम्राट ने करवाया था ?
(क) चन्द्रगुप्त मौर्य (ख) बिन्दुसार

- (ग) अशोक (घ) दशरथ
 (पप) निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:
1. (क) विहार एवं शैलोत्कीर्ण गुफाएँ ।
 (ख) लोक कला ।
 2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
 (अ) मौर्यकालीन स्तम्भों की कला का विवरण दीजिये ?

1.8 सारांश

भारत के प्रथम सार्वभौमिक साम्राज्य, मौर्य साम्राज्य ने देश पहली बार राजनैतिक एकता स्थापित की। मौर्य साम्राज्य ने अपने 137 वर्षीय सुदीर्घ शासनकाल में सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, भाषा, शिक्षा, साहित्य एवं कला आदि सभी क्षेत्रों में सुदृढ़ साँस्कृतिक प्रतिमान स्थापित किये। अशोक के सामाजिक – धार्मिक कृत्यों से वर्ण व्यवस्था लचीली हुई और धार्मिक सहिष्णुता एवं समन्वय की स्थापना हुई। बौद्ध धर्म का अभूतपूर्व विकास हुआ। पाली (प्राकृत) भाषा को राजकीय संरक्षण मिलने से इस भाषा का सर्वांगीण विकास हुआ। मौर्यकाल में राजनीतिक एकता स्थापित हो जाने से भी आर्थिक विकास तेजी से हुआ। कला के प्रत्येक क्षेत्र में कालजयी कृतियों का सृजन हुआ। इस प्रकार मौर्यकाल महान् साँस्कृतिक गतिविधियों का काल था।

1.9 तकनीकी शब्दावली

कृति : रचना
 मृन्मूर्तियाँ : मिट्टी की मूर्तियाँ
 चतुर्दिक : चारो ओर
 शास्त्र : धार्मिक ग्रंथ एवं साहित्य
 शस्त्र : हथियार
 सार्वभौमिक साम्राज्य : संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न राज्य
 स्थापत्य कला : भवन निर्माण कला
 विष्टि : बेगार
 मुद्रा : मानक सिक्का

1.10 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

इकाई 1.3 के स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

(प) निम्नलिखित वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर दीजिए:

1. देखिए 1.3.1 वर्णाश्रम व्यवस्था
2. देखिए 1.3.1 वर्णाश्रम व्यवस्था
3. देखिए 1.3.4 स्त्रियों की स्थिति
4. देखिए 1.3.6 मनोरंजन के साधन
5. देखिए 1.3.3 परिवार एवं विवाह

(पप) निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:

1. (क) देखिए 1.3.2 दास प्रथा
 (ख) देखिए 1.3.4 स्त्रियों की स्थिति
2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:

(अ) देखिए 1.3.1 वर्णाश्रम व्यवस्था

इकाई 1.4 के स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:

(क) देखिए 1.4.3 व्यापार

(ख) देखिए 1.4.4 मुद्रा

2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:

(अ) देखिए 1.4.1 कृषि एवं पशुपालन

इकाई 1.5 के स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:

(अ) देखिए 1.5 भाषा, शिक्षा एवं साहित्य

इकाई 1.6 के स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

(प) निम्नलिखित वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर दीजिए:

1. देखिए 1.6.2 बौद्ध धर्म

2. देखिए 1.6.2 बौद्ध धर्म

3. देखिए 1.6.2 बौद्ध धर्म

4. देखिए 1.6.2 बौद्ध धर्म

5. देखिए 1.6.2 बौद्ध धर्म

(पप) निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:

1. (क) देखिए 1.6.3 जैन धर्म

(ख) देखिए 1.6.4 आजीविक सम्प्रदाय

2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:

(अ) देखिए 1.6.2 बौद्ध धर्म

इकाई 1.7 के स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

(प) निम्नलिखित वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर दीजिए:

1. देखिए 1.7.1 राजधानी एवं नगर

2. देखिए 1.7.2 स्तम्भ

3. देखिए 1.7.3 स्तूप

4. देखिए 1.7.4 विहार एवं शैलोत्कीर्ण गुफाएँ

5. देखिए 1.7.4 विहार एवं शैलोत्कीर्ण गुफाएँ

(पप) निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:

1. (क) देखिए 1.7.4 विहार एवं शैलोत्कीर्ण गुफाएँ

(ख) देखिए 1.7.5 लोक कला

2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:

(अ) देखिए 1.7.2 स्तम्भ

3.12 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. ओमप्रकाश – प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, नई दिल्ली, 1986

2. बाशम, ए० एल० – अद्भुत भारत, आगरा, 1987

3. बोगार्ड लेविन, जी० एम०— मौर्यन इण्डिया, नई दिल्ली, 1985

4. टींदकंतांतए कण्ट दृ गीवांए बंसबनजजंए 1932
5. डेविड्स, आर० – बुदिस्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1955
6. गुप्त, एस० पी० – दि रूट्स ऑफ इंडियन आर्ट, दिल्ली, 1980
7. गोयल, श्रीराम – प्राचीन भारत का इतिहास, खण्ड 1, जोधपुर, 1998
8. झा एवं श्रीमाली – प्राचीन भारत का इतिहास, दिल्ली, 2000
9. मजूमदार, रायचौधरी, दत्त – भारत का बृहत, इतिहास, खण्ड 1, नई दिल्ली, 1970
10. मजूमदार, रमेशचन्द्र – प्राचीन भारत, दिल्ली, 1973
11. Mookerji, R.K.- Chandraguptas Mauryas and His Times, Banaras, 1960
- Ashoka, London, 1928
12. पाण्डेय, विमल चन्द्र – प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, भाग 1, इलाहाबाद, 1998
13. राय, निहार रंजन – मौर्य तथा मौर्यन्तर कला, दिल्ली, 1979
14. रोलैंड, बेजामिन – आर्ट एंड आर्किटेक्चर ऑफ इंडिया, हार्मड्सबर्थ, 1956
15. रैप्सन (संपा०) – कौम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, वो०1, कौम्ब्रिज, 1922
16. शर्मा, रामशरण – प्रारंभिक भारत का परिचय, नई दिल्ली, 2009
- 17^प Sastri, Nilakanta (ed.)- Age of the Nandas and Mauryas, Banaras, 1952
18. स्मिथ, वी. एस. – अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, ऑक्सफोर्ड, 1924
19. त्रिपाठी, आर० एस० – प्राचीन भारत का इतिहास, बनारस, 1998
20. थापर, रोमिला – कल्चरल पास्ट्स : ऐसेज इन अर्ली इंडियन हिस्ट्री,
- एशियन्ट इण्डियन सोशल हिस्ट्री, नई दिल्ली, 1983
- भारत का इतिहास, नई दिल्ली, 1989

3.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. ओमप्रकाश – प्राचीन भारत का इतिहास, नई दिल्ली, 1986
 2. महाजन, विद्याधर – प्राचीन भारत का इतिहास, नई दिल्ली, 2008
 3. मिश्र, जयशंकर – प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पटना, 2006
 4. श्रीवास्तव, के० सी० – प्राचीन भारत का इतिहास एवं संस्कृति, इलाहाबाद, 2007
 5. शर्मा, आनन्द कुमार – भारतीय संस्कृति एवं कला, नई दिल्ली, 2011
-

3.14 निबंधात्मक प्रश्न

- प्रश्न 1. मौर्यकालीन कला का विस्तृत रूप से विवरण दीजिये ?
- प्रश्न 2. मौर्यकालीन सामाजिक स्थिति का विस्तृत रूप से विवरण दीजिये ?
- प्रश्न 3. मौर्यकालीन आर्थिक स्थिति पर प्रकाश डालिये ?
- प्रश्न 4. मौर्यकालीन धार्मिक स्थिति पर प्रकाश डालिये ?

इकाई दो : कुषाण, शुंग, एवं सातवाहन कालीन संस्कृति

- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 उद्देश्य
- 2.3 शुंग कालीन संस्कृति
 - 2.3.1 धार्मिक स्थिति
 - 2.3.1.1 वैदिक या ब्राह्मण धर्म
 - 2.3.1.2 बौद्ध धर्म
 - 2.3.2 सामाजिक स्थिति
 - 2.3.2.1 वर्ण व्यवस्था
 - 2.3.2.2 आश्रम व्यवस्था
 - 2.3.2.3 स्त्रियों की स्थिति
 - 2.3.3 आर्थिक स्थिति
 - 2.3.4 साहित्य एवं भाषा
 - 2.3.5 कला
 - 2.3.5.1 स्तूप एवं उनके वास्तु अंगों का निर्माण
 - 2.3.5.2 चैत्य एवं विहारों का निर्माण
 - 2.3.5.3 गरुड़ ध्वज एवं अन्य कला कृतिया
- 2.4 सातवाहन कालीन संस्कृति
 - 2.4.1 सामाजिक स्थिति
 - 2.4.2 धार्मिक स्थिति
 - 2.4.3 आर्थिक स्थिति
 - 2.4.4 शिक्षा एवं साहित्य
 - 2.4.5 कला
 - 2.4.5.1 स्तूप
 - 2.4.5.2 चैत्य एवं विहार
- 2.5 कुषाण कालीन संस्कृति
 - 2.5.1 सामाजिक स्थिति
 - 2.5.2 आर्थिक स्थिति
 - 2.5.3 धार्मिक स्थिति
 - 2.5.3.1 चतुर्थ बौद्ध संगीति
 - 2.5.4 साहित्य का विकास
 - 2.5.5 कला
 - 2.5.5.1 मथुरा कला
 - 2.5.5.2 गांधार कला
- 2.6 सारांश

- 2.7 तकनीकी शब्दावली
- 2.8 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर
- 2.9 संदर्भ ग्रंथ सूची
- 2.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 2.11 निबंधात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

शुंग-सातवाहन एवं कुषाण राजवंशों ने द्वितीय शताब्दी ई० पू० से तीसरी ई० के मध्य शासन किया। शुंगों ने 184 ई० पू० – 72 ई० पू० तक कुल 112 वर्ष तक शासन किया। सातवाहन राजवंश भारत के महान राजवंशों में से एक था। दक्षिण भारत में सातवाहनों ने प्रथम शताब्दी ई० पू० से तीसरी ई० तक शासन किया। कुषाणों शासकों ने प्रथम शताब्दी ई० पू० से तृतीय शताब्दी ई० तक शासन किया। शुंग – सातवाहन राजवंशों के राजकीय सत्ता प्राप्ति से ब्राह्मणों की श्रेष्ठता पुनः स्थापित हो गयी तथा वैदिक संस्कृति की पुनः प्रतिष्ठा हुई। वैदिक धर्म एवं सामाजिक धार्मिक ढाँचे का पुनरुत्थान हुआ। राजनैतिक परिवर्तन के साथ ही धार्मिक परिवर्तन हुआ। ब्राह्मण धर्म को राजकीय संरक्षण मिला! फिर भी बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म पहले की तरह फलते-फूलते रहे। इसके साथ ही, अनेक विदेशी जातियों ने इस काल में बौद्ध एवं वैदिक धर्म को ग्रहण किया। कला के क्षेत्र में सर्वाधिक उन्नति स्तूप, चैत्य एवं विहार के स्थापत्य एवं विकास में हुई। कुषाण कालीन संस्कृति विविध धर्मों एवं समाजों का अद्भुत समन्वय थी। कुषाणों ने सभी धर्मों एवं समाजों को अपना संरक्षण दिया। कला के क्षेत्र में भी कुषाणों ने अभूतपूर्व योगदान दिया है।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उद्देश्य निम्नलिखित हैं –

- विद्यार्थी शुंग कालीन संस्कृति को समझ सकेंगे।
- विद्यार्थी सातवाहन कालीन संस्कृति को समझ सकेंगे।
- विद्यार्थी कुषाण कालीन संस्कृति को समझेंगे।
- विद्यार्थी शुंग, सातवाहन एवं कुषाण कालीन भाषा, शिक्षा एवं साहित्य को जान सकेंगे।
- विद्यार्थी मौर्यकालीन शुंग, सातवाहन एवं कुषाण कालीन धार्मिक स्थिति को समझ सकेंगे।
- विद्यार्थी शुंग, सातवाहन एवं कुषाण कालीन बौद्ध धर्म की स्थिति को समझ सकेंगे।
- विद्यार्थी ने शुंग, सातवाहन एवं कुषाण कालीन, कला को समझ सकेंगे।
- विद्यार्थी शुंग, सातवाहन एवं कुषाण कालीन स्तूप, चैत्य एवं विहार के स्थापत्य एवं विकास को जानेंगे।

2.3 शुंग कालीन संस्कृति :

मौर्य सम्राट बृहद्रथ के सेनापति 'पुष्यमित्र शुंग' ने बृहद्रथ की 184 ई० पू० में हत्या करके 'शुंग वंश' की स्थापना की। शुंग वंश के लिए तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियों एवं कमजोर – शिथिल राजा और राजतंत्र ने अनुकूल वातावरण तैयार किया। जिसका सही उपयोग पुष्यमित्र शुंग ने किया और राजसिंहासन हस्तगत कर लिया। शुंग 'ब्राह्मण' जाति के थे और पुष्यमित्र शुंग को प्राचीन काल में 'प्रथम ब्राह्मण' राज्य के गठन का श्रेय जाता है। पुष्यमित्र शुंग की राजधानी पाटलिपुत्र ही थी। पुष्यमित्र शुंग के पुत्र अग्निमित्र ने विदिशा को भी राजधानी बनाया। शुंगों ने 184 ई० पू० – 72 ई० पू० तक कुल 112 वर्ष तक शासन किया। इस वंश में कुल 10 शासक हुए। शुंग वंश का अंतिम शासक 'देवभूति' था। शुंगों के राजकीय सत्ता प्राप्ति से वैदिक संस्कृति की पुनः प्रतिष्ठा हुई। वैदिक धर्म एवं सामाजिक धार्मिक ढाँचे का पुनरुत्थान हुआ।

2.3.1 धार्मिक स्थिति :

शुंग राजवंश के ब्राह्मण जाति के होने कारण वैदिक या ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान शुंग काल में हुआ। वस्तुतः मौर्यकाल की समाप्ति और 'शुंग वंश' की स्थापना के साथ ही सर्वप्रथम राजनैतिक परिवर्तन के साथ ही धार्मिक परिवर्तन हुआ। वैदिक धर्म एवं ब्राह्मणों की श्रेष्ठता पुनः धार्मिक क्षेत्र में स्थापित हो गयी। शुंग काल में बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म का प्रचलन पूर्वतः प्रचलित रहा। शुंगों ने बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म संस्कृति में कोई हस्तक्षेप नहीं किया।

2.3.1.1 वैदिक या ब्राह्मण धर्म :

शुंगकाल में वैदिक या ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान हुआ। शुंगकाल में ब्राह्मण धर्म को राजकीय संरक्षण मिलने से वैदिक धर्म एवं यज्ञों की प्रभुता स्थापित हो गयी। ब्राह्मण धर्म के देवी – देवताओं की उपासना एवं उनसे संबंधित धर्म – कर्म, अनुष्ठान सम्पूर्ण शुंग शासनकाल में दृढ़ता के साथ किये जाने लगे। ब्राह्मणों की श्रेष्ठता पुनः स्थापित हो गयी। ब्राह्मण वैदिक धर्म के विशेषज्ञ एवं यज्ञों के कर्ता होने के कारण धार्मिक क्रियाकलापों के केन्द्र बिन्दु थे। शुंगों ने वैदिक यज्ञों को प्रतिष्ठित करते हुए दो 'अश्वमेघ यज्ञों' का आयोजन किया। जिसकी पुष्टि शुंग वंश के अयोध्या अभिलेखों से होती है। इनमें से एक यज्ञ की पुरोहितायी महान् आचार्य पतंजलि के द्वारा संपन्न हुई थी। शुंगों द्वारा अश्वमेघ यज्ञ किया जाना वैदिक धर्म की पुनः स्थापना का प्रतीक है। यज्ञों में पशुबलि को सिद्धान्त और व्यावहारिकतः स्वीकृति मिल गयी।

वस्तुतः यज्ञ हेतु पशुबलि के कारण हिंसा को सीमित दायरे में मान्यता प्रदान कर दी गयी। इसी काल में यह युक्ति प्रतिष्ठित हो गयी कि, “वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति” अर्थात् यज्ञों में की गयी हिंसा, हिंसा नहीं होती है तथा “जीवों जीवस्य भोजनम्” अर्थात् जीव ही जीव का भोजन (आहार) है।

शुंगकाल से विदेशी जातियों के भारतीय समाज वैदिक धर्म में सम्मिलित होने के प्रमाण मिलते हैं। इसकाल में तेजी से विदेशी जातियों ने वैदिक धर्म को बड़े ही उत्साह के साथ स्वतः अपनाया। इसका सबसे बड़ा उदाहरण हेलियोडोरस का बेसनगर (विदिशा) का गरुड़ ध्वज (स्तम्भ) है। जिसमें उसने स्वयं की भागवत धर्म में आस्था प्रगट की है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि, शुंगकाल में भागवत धर्म प्रसिद्ध हो चुका था। शुंगकाल में विदेशी जातियों ने ब्राह्मण एवं बौद्ध धर्म में स्वयं को दीक्षित किया। सबसे बड़ा उदाहरण हेलियोडोरस था, जिसने वैष्णव धर्म को अपनाया। शक क्षत्रप रुद्रदामन ने ब्राह्मण धर्म में अपनी आस्था प्रगट की।

2.3.1.2 बौद्ध धर्म :

शुंगकाल में बौद्ध धर्म, ब्राह्मण धर्म के बाद सर्वाधिक प्रचलित धर्म था। मौर्यों के राजकीय संरक्षण के कारण बौद्ध धर्म की अभूतपूर्व प्रगति हुई थी। वहीं, पुष्यमित्र शुंग बौद्ध धर्म के विरुद्ध ब्राह्मण क्रांति का साकार रूप था। शुंगकाल में बौद्ध धर्म से राजकीय संरक्षण छीन लिया गया और इसी कारण बौद्ध धर्मावलंबियों एवं उनके धार्मिक प्रतिमानों को भारी आर्थिक प्रशासनिक मदद बंद हो गयी। इसी कारण बौद्ध ग्रंथ पुष्यमित्र शुंग को बौद्धद्रोही घोषित करते हैं। बौद्ध ग्रंथ ‘दिव्यावदान’ पुष्यमित्र शुंग को बौद्धद्रोही घोषित करते हुये कहता है कि, पुष्यमित्र शुंग ने अशोक द्वारा निर्मित अनेक बौद्ध स्तूपों को नष्ट कर दिया और उसने साकल (स्यालकोट) में घोषणा की कि, जो कोई भी मुझे श्रमण का सिर काट कर देगा उसे मैं 100 दीनार ईनाम दूंगा। किन्तु इतिहासकारों का कहना है कि, ‘दिव्यावदान’ में यह कोरी काल्पनिकता है क्योंकि शुंगकाल में दीनार ‘मुद्रा’ प्रचलित ही नहीं थी। तिब्बत का बौद्ध विद्वान तारानाथ भी पुष्यमित्र शुंग को बौद्धद्रोही घोषित करते हुए कहता है कि, उसने बौद्धों की हत्या की तथा स्तूपों और विहारों को नष्ट किया था। ‘आर्यमंजूश्रीमूलकल्प’ एवं क्षेमेन्द्र कृत ‘अवदानकल्पना’ भी पुष्यमित्र शुंग को बौद्धद्रोही कहती है। इतिहासविदों की धारणा है कि, बौद्ध ग्रंथों द्वारा बहुत बड़ा – चढ़ाकर पुष्यमित्र शुंग को बौद्धद्रोही बताया है। जिनकी अन्य ग्रंथों एवं अभिलेखीय साक्ष्यों से कोई पुष्टि नहीं होती है। वहीं, पुष्यमित्र शुंग एवं उसके उत्तराधिकारियों की धार्मिक सहिष्णुता की पुष्टि होती है। जो ‘दिव्यावदान’ पुष्यमित्र शुंग को बौद्धद्रोही कहता है, उसी में लिखा है कि, पुष्यमित्र ने बौद्ध मंत्रियों की राज्य में नियुक्ति की थी। शुंगकाल में भरहुत, बोध गया एवं साँची में बौद्ध स्थापत्य के कतिपय अंगों का निर्माण शुंग शासकों ने करवाये। भाजा, नासिक, कार्ले के बौद्ध चैत्य एवं विहार शुंगकाल में ही बने थे। अतः स्पष्ट है कि, शुंग शासन बौद्ध द्रोही नहीं थे। वस्तुतः शुंग काल में बौद्ध धर्म पहले की तरह फलता-फूलता रहा। शुंग शासकों ने बौद्ध धर्म की पूजा पद्धति, पूजा स्थलों, स्तूपों, चैत्यों विहारों, बौद्ध गुफाओं एवं बौद्ध शिक्षा केन्द्रों में कोई हस्तक्षेप नहीं किया। इण्डो यूनानी शासक मीनेण्डर ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया और मिलिंद के नाम से प्रसिद्ध हुआ। कार्ले, जुन्नार, नासिक आदि गुहाभिलेखों में अनेक विदेशियों के बौद्ध धर्म को मानने के प्रमाण मिलते हैं।

शुंगकाल में जैन धर्म भी पहले की तरह प्रचलित रहा। शुंगों ने जैन धर्म संस्कृति एवं उनके सामाजिक – धार्मिक सरोकारों में कोई हस्तक्षेप नहीं किया।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

(प) निम्नलिखित वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर दीजिए:

1. शुंगकाल में किस धर्म का पुनरुत्थान हुआ ?

(क) ब्राह्मण धर्म (ख) बौद्ध धर्म

- (ग) जैन धर्म (घ) इनमें से कोई नहीं
8. गरुड़ ध्वज (स्तम्भ) किस धर्म से संबंधित है ?
 (क) ब्राह्मण धर्म (ख) जैन धर्म
 (ग) बौद्ध धर्म (घ) भागवत धर्म
3. बौद्ध ग्रंथ पुष्यमित्र शुंग को घोषित करते हैं ?
 (क) ब्राह्मणद्रोही (ख) जैनद्रोही
 (ग) बौद्धद्रोही (घ) इनमें से कोई नहीं
4. बौद्ध विद्वान तारानाथ किस देश का था ?
 (क) तिब्बत (ख) भारत
 (ग) नेपाल (घ) इनमें से कोई नहीं
5. शुंगकाल में किस धर्म को राजकीय संरक्षण प्राप्त था ?
 (क) ब्राह्मण धर्म (ख) बौद्ध धर्म
 (ग) जैन धर्म (घ) इनमें से कोई नहीं

(पप) निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:

- (क) ब्राह्मण धर्म ।
(ख) बौद्ध धर्म ।
- नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
(अ) पुष्यमित्र शुंग बौद्धद्रोही नहीं था ? विश्लेषण कीजिये ।

2.3.2 सामाजिक स्थिति

शुंग काल सामाजिक परिवर्तन का काल था। पूर्व कालीन बौद्ध सामाजिक व्यवस्था के स्थान पर ब्राह्मण धर्म द्वारा विदित वर्ण और आश्रम व्यवस्था को प्रोत्साहित किया गया। ब्राह्मण विचारधारा ने बौद्ध श्रवण विचार धारा पर गहरा प्रहार किया और समाज में ब्राह्मण वर्णाश्रम व्यवस्था पुनः प्रभावशाली हो गयी।

2.3.2.1 वर्ण व्यवस्था

शुंगकाल ब्राह्मण वर्ण व्यवस्था का पुर्नरूत्थान का काल था। वर्णाश्रम धर्म के आधार पर सामाजिक नियमों को स्थापित किया गया। शुंगकाल में वर्ण व्यवस्था कर्म पर आधारित थी। समाज चार वर्णों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र में कठोरता के साथ विभाजित था। शुंगकाल में ब्राह्मणों की सर्वोच्चता पुनः स्थापित हो गयी। क्योंकि ब्राह्मणों ने धर्मविदित आपातकाल धर्म का पालन करते हुए क्षत्रिय कर्म को अपनाया तथा अपने राष्ट्र की रक्षार्थ राजपद ग्रहण किया। प्रजा की विदेशी आक्रमणों से रक्षा की तथा दुर्बल-अयोग्य मौर्य शासक 'वृहद्रथ' की हत्या करके राज्य में 'शान्ती और व्यवस्था' का शासन स्थापित किया। वस्तुतः शुंगों द्वारा राजसत्ता प्राप्ति करना एक महान् 'ब्राह्मण क्रान्ति' थी। ब्राह्मणों ने राजनैतिक अव्यवस्था को समाप्त कर राजनैतिक एवं प्रशासनिक सुव्यवस्था स्थापित करके विपरीत कठिन परिस्थितियों में अपनी योग्यता प्रमाणित कर दी थी। शुंगकाल में ब्राह्मणों के धर्म विहित वही कर्तव्य थे, जो परंपरागत चले आ रहे थे। अध्ययन – अध्यापन, धार्मिक – यज्ञानुष्ठान, दान लेना आदि थे। शुंगकाल में ब्राह्मणों के राजनैतिक प्रशासनिक दायित्वों में बढ़ोत्तरी हुई। ब्राह्मण शुंगकाल में राजनैतिक रूप से शक्तिशाली हो गये थे। क्षत्रिय का कर्तव्य रक्षा – युद्ध, राजकाज से संबंधित था। वैश्य का कर्तव्य आर्थिक एवं क्रियाकलापों कृषि, पशुपालन, व्यापार एवं वाणिज्य से संबंधित था। शूद्र का कर्तव्य समाज की सेवा करना था शूद्र को धर्म ग्रंथों के अध्ययन अध्यापन एवं सुनने का अधिकार नहीं था। किन्तु मनुस्मृति में शूद्र छात्रों और शिक्षकों का विवरण मिलता है। इससे स्पष्ट है कि, शूद्र शिक्षा एवं शिक्षाजन से वंचित नहीं थे, संभवतः कतिपय

सामाजिक एवं धार्मिक विधानों उलंघन करने वालों पर प्रतिबंध रहा होगा। समाज में वर्ण शंकर के तेजी से बढ़ने के कारण सामाजिक व्यवस्थाकारों ने राज्य से समाज में कठोरता के साथ वर्ण संकरता को रोकने की सलाह दी है। संभवतः वर्ण संकरता के बढ़ने के कारण ही सामाजिक वर्ण एवं जाति में कठोरता देखने को मिलती है। मनुस्मृति में ऐसी ही शंका के कारण कहा गया है कि, वर्ण संकरता के कारण समाज का पतन हो सकता है। मनुस्मृति वर्णों के लिए निर्धारित अधिकार एवं कर्तव्यों के पालन न करने पर शासन को दण्ड का सुझाव देती है।

2.3.2.2 आश्रम व्यवस्था

शुंगकाल में समाज में आश्रम व्यवस्था का पुनरुद्धार हुआ। ब्राह्मण विचारधारा ने बौद्ध श्रवण व्यवस्था पर करारा प्रहार किया। ब्राह्मण संस्कृति का मानना था कि, यौवनावस्था में गृह एवं संसार त्याग, समाज एवं राज्य दोनों के लिए अनुचित है। क्योंकि ब्राह्मण विचारधारा के अनुसार, गृहस्थाश्रम पर ही समाज की नींव टिकी हुई थी। इसके साथ ही भिक्षुओं की आड़ में अनेक अपराधी प्रवृत्ति के लोगों ने संघों में शरण ले रखी थी। अतः समाज एवं राज्यहित में आश्रम व्यवस्था को हितकर बताते हुए शुंगकालीन समाज में आश्रम व्यवस्था का पुनरुद्धार किया गया। द्विजों को चारों आश्रमों का पालन करना अनिवार्य कर दिया गया। आश्रम व्यवस्था का पालन नहीं करने वालों को सामाजिक एवं राजकीय भय भी दिखाया गया।

2.3.2.3 स्त्रियों की स्थिति

शुंगकाल में स्त्रियों की स्थिति अच्छी थी। उसे शिक्षा धर्म एवं सामाजिक अधिकार प्राप्त थे। शुंगकालीन समाज में पुनर्विवाह, नियोग प्रथा, पर्दा प्रथा, बाल-विवाह प्रचलित थे। समाज में एक पत्नी विवाह आदर्श माना जाता था। हालाँकि शासक वर्ग में बहुपत्नी प्रथा प्रचलित थी। सती प्रथा के प्रमाण नहीं मिलते हैं। मनु स्त्रियों के बारे में दोहरा मत अपनाते है। मनु एक ओर कहते है कि, 'जहाँ नारी की पूजा होती है वहाँ ईश्वर निवास करते हैं। वही, दूसरी ओर जन्म से लेकर मृत्यु तक प्रत्येक अवस्था में पुरुष के नियंत्रण में रखने का विधान बताते हैं।' समाज में धर्म विहित आठ प्रकार के विवाह मान्य थे। अन्तर्जातीय, अनुलोम-प्रतिलोग विवाह होते थे। सगोत्र, सपिण्ड विवाह समाज में प्रचलित नहीं था।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

- निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:
 - आश्रम व्यवस्था ।
 - स्त्रियों की स्थिति ।
- नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
 - शुंग कालीन वर्ण व्यवस्था का विवरण दीजिये ?

2.3.3 आर्थिक स्थिति

शुंग कालीन शासन काल तक समाज में कृषि व्यवस्था ने विकसित स्थिति प्राप्त कर ली थी। इसी कारण शुंगकाल के आर्थिक जन-जीवन में कृषि प्रधान व्यवसाय था। बहुसंख्यक जनता अपने भरण-पोषण, रोजगार एवं आर्थिक संसाधनों के लिए कृषि कार्य में लगी हुई थी। इस काल में विविध प्रकार की फसलों के उत्पादन से किसान समृद्ध थे। भूमि पर कृषकों का मालिकाना हक होता था, किन्तु शासन भूमि का संरक्षक था। कृषक शासक को भूमिकर देते थे, जोकि संभवतः उपज का 1/6 भाग होता था। कृषि के साथ पशुपालन अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ था। पशुपालन से ग्रामीणों को कृषि एवं यातायात के पशु तथा खानपान के लिए दूध, दही, मक्खन, घी आदि की प्राप्ति होती थी।

शुंगकाल व्यापार एवं वाणिज्य में अभूतपूर्व प्रगति हुई। तत्कालीन ग्रंथों से विविध प्रकार के व्यवसायों एवं लघु उद्योगों की सूचना मिलती है। इसकाल में बड़े-बड़े नगरों ने व्यावसायिक प्रगति में महत्वपूर्ण योगदान दिया। व्यापार सड़कों एवं जलीय मार्ग दोनों से होता है। व्यापारी अपने व्यापारिक हितों एवं उन्नति के लिए व्यावसायिक संघों और श्रेणियों में संगठित हो गये थे। अलग-अलग व्यवसायों की अलग-अलग श्रेणियाँ या संघ होते थे और उनके आंतरिक विधि-विधान होते थे। आर्थिक प्रगति में सुदृढ़ मुद्रा-प्रणाली ने महत्वपूर्ण योगदान दिया। सोने-चाँदी एवं ताँबे की विधिक मुद्राओं का उल्लेख मिलता है।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
(अ) शुंग कालीन आर्थिक स्थिति का विवरण दीजिये ?

2.3.4 साहित्य एवं भाषा

शुंगकाल में साहित्य एवं भाषा की प्रगति हुई। ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान के साथ ही, शुंगकाल में संस्कृत भाषा का अभूतपूर्व उत्थान हुआ। शुंगकाल में ब्राह्मण वर्ण के साथ ही अन्य वर्णों में संस्कृत के प्रसार के प्रमाण मिलते हैं। शिक्षा का माध्यम संस्कृत बन गयी थी तथा राजकीय संरक्षण भी संस्कृत भाषा को प्राप्त हो गया था। इन सब कारणों से संस्कृत भाषा आम जनता में भी तेजी से प्रसारित हुई। हालाँकि, शुंगकाल में आम जनता में प्राकृत भाषा भी प्रचलित रही। संस्कृत भाषा को आम जनता के लिए सुगम बनाने में महान् आचार्य पतंजलि की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही। पतंजलि ने पाणिनी की अष्टाध्यायी पर महाभाष्य की रचना की। शुंगकाल में ही मनुस्मृति के वर्तमान स्वरूप की रचना हुई। कतिपय विद्वानों की धारणा तो यह भी है कि, महाभारत के नवीन रूप की रचना शुंगकाल में हुई।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
(अ) शुंग कालीन साहित्य एवं भाषा का विवरण दीजिये?

2.3.5 कला

शुंगकाल में कला एवं स्थापत्य में भी अभूतपूर्व प्रगति देखी गयी। शुंगकाल में स्तूपों के निर्माण के साथ ही, स्तूपों के विविध वास्तु अंगों एवं स्तूप स्थापत्य में विकास हुआ। अनेक विहार एवं चैत्यों का निर्माण हुआ। इसके साथ ही, अन्य अनेक कलात्मक गतिविधियों का प्रचलन होता रहा।

2.3.5.1 स्तूप एवं उनके वास्तु अंगों का निर्माण

शुंगकाल में स्तूपों के निर्माण में पत्थरों का उपयोग होने लगा। स्तूपों की वेदिकाएँ एवं तोरण (द्वार) पत्थरों के बनने लगे। उन पर विविध प्रकार के अलंकरण किये गये। शुंगकाल में कला राजकीय प्रभाव से निकलकर लोक जीवन से अधिक प्रभावित हो गयी। शुंगकाल में 'भरहूत स्तूप' (सतना, मध्य प्रदेश) के वास्तु अंगों में पाषाण निर्मित महावेदिका एवं तोरणों (द्वारों) का निर्माण हुआ। भरहूत स्तूप के पूर्वी तोरण पर शुंग नरेश 'धनभूति' का नाम अंकित था। इस वेदिका एवं तोरणों के स्तम्भों तथा तोरण के अन्य वास्तु अंगों पर जातक कथाओं एवं महात्मा बुद्ध के जीवन के दृश्यों, अन्य मूर्तियों एवं वनस्पति का कलात्मक उत्कीर्णन है। 'बोध गया' के स्तूप के चारों ओर वेदिका का निर्माण शुंगकाल में हुआ। संपूर्ण वेदिका तो नष्ट हो गयी थी किन्तु वेदिका के कुछ अवशेष मिले हैं। जिन पर महात्मा बुद्ध के प्रतीकों, जातक कथाओं एवं वनस्पति का कलात्मक उत्कीर्णन है।

'साँची' (रायसेन, मध्य प्रदेश) के तीन स्तूपों में शुंगकालीन कला के प्रमाण मिलते हैं। शुंग काल में स्तूप के अण्ड भाग पर प्लास्टर किया गया था। प्रथम 'महास्तूप' जिसकी महावेदिका एवं तोरणों का निर्माण

शुंगकाल में हुआ। महावेदिका पर कोई अलंकरण नहीं है। तोरणों के विविध वास्तु अंगों में महात्मा बुद्ध के जीवन की घटनाओं के प्रतीक, जातक कथाओं, शाल भंजिका, यक्षों एवं वनस्पति जगत का अंकन है। साँची के *द्वितीय स्तूप* में शुंगकाल में महावेदिका, मध्य वेदिका एवं हर्मिका का निर्माण हुआ। महावेदिका या भूवेदिका पर महात्मा बुद्ध की जीवन की घटनाओं का प्रतीकों के माध्यम से अंकन के साथ ही त्रिरत्न, श्रीवत्स एवं अन्य अंकनों का उत्कीर्ण किया गया है। साँची के *तीसरे स्तूप* के एक मात्र तोरण एवं वेदिका पर यक्ष, नाग, अश्व स्तूप पूजा आदि अनेक अंकन उत्कीर्ण हैं। मथुरा का एक जैन स्तूप शुंगकाल का माना जाता है।

2.3.5.2 चैत्य एवं विहारों का निर्माण

'भाजा' (महाराष्ट्र) का विहार एवं चैत्य शुंगकालीन है। भाजा के विहार में मुखमण्डप, स्तम्भ, अर्धस्तम्भ तथा विहार में अन्दर एक मण्डप, जिसमें बौद्ध भिक्षुओं के निवास के लिए तीन कोठरियाँ बनी हैं। भाजा के चैत्य में मण्डप एवं अंदर स्तम्भ तथा अंत में स्तूप का विधान है। इसकी छत गजपृष्ठाकार है। 'अजंता' (महाराष्ट्र) का चैत्य, गुफा नं. 09 शुंगकालीन है। चैत्यगृह में प्रवेश द्वार के साथ ही, दो पार्श्व गवाक्ष बने हैं। इनके ऊपर छज्जे, उसके ऊपर संगीतशाला, जिस पर कीर्तिमुख का विधान है। चैत्यगृह के अंदर स्तम्भयुत मण्डप है। चैत्यगृह में अनेक आकर्षक चित्र अंकित हैं। 'नासिक' (महाराष्ट्र) का चैत्यगृह शुंगकालीन है। इस चैत्य गृह के वास्तु अंगों में दो तलीय मुखमण्डप, प्रवेश द्वार एवं अंदर स्तम्भ युक्तमण्डल है। यह चैत्यगृह 'पाण्डुलेण' के नाम से जानी जाती है। 'कार्ल' (महाराष्ट्र) का चैत्य शुंगकालीन है। चैत्यगृह के वास्तु अंगों में मुखमण्डप, मुखमण्डप के चतुर्मुखी स्तम्भ, कीर्तिमुख, संगीतशाला, मण्डप, वृताकार गर्भगृह तथा दोहरा प्रदक्षिणापथ तथा मण्डप के स्तम्भ, गर्भगृह के बीच में स्तूप प्रमुख है। इस चैत्यगृह में ब्राह्मी में अनेक अभिलेख उत्कीर्ण हैं। इस चैत्यगृह को भारत के शैलोत्कीर्ण चैत्यों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है।

2.3.5.3 गरुड़ ध्वज एवं अन्य कला कृतियाँ

शुंग राजवंश के 9 वें शासक भागभद्र (भागवत) के शासनकाल में बेसनगर (विदिशा मध्य प्रदेश) में 'गरुड़ ध्वज' की स्थापना तक्षशिला के यूनानी शासक अंतलिकित के राजदूत हेलियोडोरस ने की। यह 'गरुड़ ध्वज' सनातन धर्म या भागवत का सर्वप्रथम स्तम्भ है। मथुरा की अनेक यक्ष-यक्षिणी प्रस्तर प्रतिमाओं को भी शुंगकालीन माना है। शुंगकालीन कला में मृन्मूर्तियों का भी महत्वपूर्ण स्थान है। शुंगकाल में विविध प्रकार की मृन्मूर्तियों का निर्माण हुआ। जोकि, लोककला की सर्वोत्तम कृति मानी जाती है। कौशाम्बी (उत्तर प्रदेश) से शुंगकालीन मिट्टी की मूर्तियाँ एवं खिलौने मिले हैं। शुंगकाल में मिट्टी की मूर्तियों एवं खिलौनों को साँचे में ढालकर बनाने की परंपरा प्रारम्भ हो गयी थी। इतिहासकारों का मत है कि, शुंगकाल में सबसे पहले मिट्टी की मूर्तियों को साँचे से बनाने की प्रथा प्रारंभ हुई थी।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:

(क) चैत्य एवं विहारों का निर्माण ।

(ख) गरुड़ ध्वज एवं अन्य कला कृतियाँ ।

2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:

(अ) शुंग कालीन स्तूप एवं उनके वास्तु अंगों का निर्माण का विवरण दीजिये ?

2.4 सातवाहन कालीन संस्कृति

सातवाहन राजवंश भारत के महान राजवंशों में से एक था। दक्षिण भारत में सातवाहनों ने प्रथम शताब्दी ई० पू० से तीसरी ई० तक शासन किया। कतिपय इतिहासविदों की धारणा है कि, सातवाहनों के बहुत लंबे समय तक दक्षिण भारत के अधिकांश भागों पर शासन किया था। यह अवधि लगभग साढ़े चार सौ वर्ष की थी। उनके शासनकाल में सामाजिक आर्थिक जीवन, कला – स्थापत्य, धर्म, भाषा एवं साहित्य आदि क्षेत्रों में स्मरणीय उन्नति हुई। इस प्रकार लगभग तीन – चार सौ वर्षों के वृहद् सातवाहनों के शासनकाल में दक्षिण भारत में अनेक साँस्कृतिक गतिविधियाँ संपन्न हुईं। जिन्होंने न केवल दक्षिण भारत को अपितु संपूर्ण भारत को अमूल्य साँस्कृतिक निधि प्रदान की है। कला – संस्कृति, साहित्य – सृजन, उन्नत अर्थव्यवस्था एवं सुदृढ़ राजनैतिक इच्छा शक्ति आदि को दृष्टिगत् रखते हुए प्रसिद्ध इतिहासविद् 'अजयमित्र शास्त्री' ने सातवाहन युग को दक्षिण भारत के इतिहास का 'स्वर्ण युग' की संज्ञा दी है।

2.4.1 सामाजिक स्थिति

सातवाहन कालीन समाज की प्रमुख विशेषता यह थी कि, यह वर्णों एवं वर्गों दोनों में बंटा हुआ था अर्थात् सातवाहन कालीन समाज में वर्ण व्यवस्था एवं वर्ग व्यवस्था दोनों साथ-साथ चल रही थी और बिना किसी विरोधाभास या संघर्ष के समानता एवं भाईचारे के सिद्धांत का परिपालन करते हुए। सनातन ब्राह्मण धर्म के अनुयायी चार वर्णों में बंटे हुए थे। सातवाहन काल ब्राह्मण प्रभुत्व का काल था। स्वयं सातवाहन शासक ब्राह्मण थे। सातवाहन शासक स्वयं अपने को 'अद्वितीय ब्राह्मण' एवं 'क्षत्रियों का दमन' करने वाला कहते हैं। समाज में ब्राह्मणों की सर्वोच्चता स्थापित थी। शिक्षा, धर्म एवं शासन-प्रशासन में ब्राह्मण प्रभावी भूमिका निभा रहे थे। क्षत्रिय, सैन्य, सुरक्षा एवं युद्ध, बहादुरी के कार्यों में संलग्न थे। वैश्य, कृषि, पशुपालन, व्यवसाय, व्यापार एवं वाणिज्य आदि आर्थिक गतिविधियों में संलग्न थे। शूद्र, सेवा कार्यों एवं विविध शिल्प कार्यों में संलग्न थे। सातवाहन कालीन समाज की यह प्रमुख विशेषता थी कि, किसी भी वर्ण के साथ कोई भेदभाव नहीं किया जाता था। सातवाहन काल में दक्षिण भारत में आर्य संस्कृति से इतर स्थानीय लोग अपने व्यवसायों एवं आजीविका के साधनों के आधार पर वर्गों के रूप में पहचाने जाते थे। जैसाकि, कृषकों 'हलिक', व्यापारी को 'सेठी', लुहार को 'कंगर' तेली को तिलपिसक, बढई को 'बंधकी' कहा जाता था। सातवाहन शासकों ने वर्ण व्यवस्था को समाज में स्थापित करने के प्रयास किये। किन्तु इसी काल में विदेशी जातियों शक, पहलव, यवनों ने ब्राह्मण एवं बौद्ध को स्वीकारा। अतः वर्ण व्यवस्था के द्वारा विदेशियों के लिए खोलकर सातवाहनों ने उदारता का परिचय दिया। गौतमीपुत्र ने वर्ण संकरता को रोकने का भी प्रयास किया। किन्तु व्यवहार में कठोरता का पालन नहीं किया और वर्ण संकरता निर्विरोध रूप से चलती रही।

सातवाहन काल में परिवार की 'संयुक्त परिवार' प्रथा प्रचलित थी। परिवार पितृसत्तात्मक होते थे। परिवार स्त्री और पुरुष दोनों की समानता स्थापित थी। समाज में आठ प्रकार के विवाह प्रचलित थे। समाज में एक पत्नी व्रत आदर्श माना जाता था। हालाँकि, बहुपत्नी प्रथा भी प्रचलित थी। अनुलोम-प्रतिलोम, अन्तर्जातीय विवाह भी होते थे। समाज में स्त्रियों की स्थिति बहुत अच्छी थी। सातवाहन नरेशों के नाम के साथ उनकी माताओं के नाम जुड़े होते थे और इसमें वे अपना नाम घोषित करने में गर्व अनुभव करते थे। सातवाहन काल में नागानिका, गौतमी, बलश्री आदि नारियों के उदाहरण यह प्रगट करते हैं कि, पतियों के साथ उनकी स्त्रियाँ भी शासन-संचालन करती थीं। सातवाहन काल में स्त्रियों को सामाजिक धार्मिक एवं प्रशासनिक अधिकार प्राप्त थे। स्त्रियाँ धार्मिक कार्यों के साथ ही दान देने के लिए भी स्वतंत्र थीं। डॉ० के० गोपालाचारी ने अपने शोध में लिखा है कि, अमरावती के 145 लेखों में 72, कुड़ा के 30 में 13, नासिक के 29 में 16 लेखों में स्त्रियों के स्वतंत्र रूप से या सहरूप से दान-पुण्य की भागीदार थीं।" स्त्रियों को बचपन

से ही शिक्षा प्रदान की जाती थी और वे निर्वाध रूप से उच्च शिक्षा प्राप्त कर सकती थीं। समाज में पर्दा प्रथा का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। अतः परिवार एवं समाज में स्त्रियों पर कोई प्रतिबंध नहीं रहा होगा।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:

(क) वर्ण व्यवस्था ।

(ख) वर्ग व्यवस्था ।

2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:

(अ) सातवाहन कालीन समाज में स्त्रियों की स्थिति का विवरण दीजिये ?

2.4.2 धार्मिक स्थिति

सातवाहन शासक अपनी धार्मिक सहिष्णुता के लिए प्राचीन भारतीय संस्कृति में जाने जाते हैं। ब्राह्मण धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म एवं अन्य सम्प्रदायों के मध्य सातवाहनों ने कोई भेदभाव नहीं किया तथा सभी धर्मों को राजकीय दान प्रदान किये गये। सातवाहन काल ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान काल था तथा स्वयं सातवाहन शासक भी ब्राह्मण थे। इसी कारण सातवाहन शासन काल में ब्राह्मण धर्म का अभूतपूर्व विकास हुआ। वैदिक यज्ञ एवं अनुष्ठानों का आयोजन सातवाहन शासकों ने किया। सातवाहन शासक शातकर्णी प्रथम ने दो अश्वमेध यज्ञ किये थे। सातवाहन अभिलेखों में अश्वमेध यज्ञ, राजसूय यज्ञ, वाजपेय यज्ञ, आग्न्याध्वेय यज्ञ, अप्तोर्यम यज्ञ, गार्गतिरात्र यज्ञ, दशरात्र यज्ञ आदि अनेक प्रकार के यज्ञों का उल्लेख किया गया है। समाज में आम जनता भी यथा सामर्थ्य धर्म-कर्म यज्ञ, कर्मकाण्ड एवं दानादि पुण्यार्थ करती थी। सातवाहन काल में दान-पुण्य, तीर्थ यात्राओं एवं पवित्र सरोवरों में स्नान करना धर्म-कर्म का हिस्सा माना जाता था। सातवाहन शासकों ने प्रभूत मात्रा में धर्म-पुण्य की की कामना से दान दिये। सातवाहन काल में ही सर्वप्रथम भूमिदान के प्रमाण मिलते हैं। सातवाहन शासकों एवं उनकी रानियों ने भारी मात्रा में वैदिक धार्मिक स्थलों एवं ब्राह्मणों को धन एवं भूमिदान दिये। सातवाहन काल में अनेक वैदिक देवी-देवताओं की उपासना के प्रमाण मिलते हैं। स्वयं सातवाहन शासक गौतमी पुत्र शातकर्णि अपने को वेदों का संरक्षक एवं अद्वितीय ब्राह्मण कहने में गौरवान्वित महसूस करता है। सातवाहन काल में शैव सम्प्रदाय और वैष्णव सम्प्रदाय के प्रभावशाली होने के प्रमाण मिलते हैं।

सातवाहन काल में बौद्ध धर्म बहुत सशक्त अवस्था में था। सातवाहन शासकों के स्वयं वैदिक धर्म के अनुयायी होने के बावजूत बौद्ध धर्म आम जनता में निर्वाध रूप से फलता-फूलता रहा। सातवाहन शासकों एवं राजकीय परिवार के सदस्यों ने बौद्ध संघों, विहार चैत्यों, स्तूपों एवं भिक्षुओं को दान-दक्षिणा, भूमिदान एवं ग्रामदान किये। दक्षिण भारत में अनेक बौद्ध गुहाओं, चैत्यों, विहारों का निर्माण सातवाहन काल में हुआ। सातवाहन काल में विदेशी जातियों अनेक विदेशी जातियों ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया और भारी मात्रा में दान पुण्य कार्य किया। दक्षिण भारत के अनेक अभिलेखों में चैत्य, विहार, स्तूप के निर्माण में दानदाताओं की सूची में विदेशियों के नाम मिलते हैं।

सातवाहन काल में जैनधर्म भी प्रगतिशील अवस्था में था। इतिहासविदों का मानना है कि, सातवाहन काल दक्षिण भारत में जैन धर्म के अनुयायियों की अनेक बस्तियाँ थी। तमिल देश एवं मैसूर में जैन धर्म अधिक प्रभावशाली था। इतिहासकार सेवेल ने वर्तमान आंध्र प्रदेश के लगभग हर जिले में जैन अवशेष देखे थे।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:

(क) बौद्ध धर्म ।

(ख) जैन धर्म ।

2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:

(अ) सातवाहन कालीन ब्राह्मण धर्म की स्थिति का विवरण दीजिये ?

2.4.3 आर्थिक स्थिति

सातवाहन काल में कृषि एवं व्यापार में अभूतपूर्व उन्नति हुई। कृषि सामान्य जनता की आर्थिक गतिविधियों की धुरी थी। सातवाहन काल में खेतिहर किसान को 'हलिक' कहा जाता था। सातवाहन काल में कृषि एवं भूमि का बहुत महत्व था। कृषि के साथ ही पशुपालन भी ग्रामीण कृषकों का प्रमुख व्यवसाय था। सातवाहन काल में भी गाय को पूज्य एवं पवित्र माना जाता है। सातवाहन शासकों ने दान में सहरत्रों गायों को दान दिया था, जिसका उल्लेख सातवाहनों के अभिलेखों में मिलता है। सातवाहन शासक कृषकों से उपज का 1/6 भाग राजस्व कर के रूप में लेते थे। सातवाहन काल में लघु उद्योग, व्यापार एवं वाणिज्य विकसित अवस्था में था। सातवाहन कालीन अभिलेखों, साहित्यिक ग्रंथों एवं विदेशी यात्रियों के वृत्तान्तों से व्यापार एवं वाणिज्य की प्रगति का ज्ञान होता है। नासिक एवं जुन्नार के अभिलेखों में अनेक व्यवसायों, व्यवसायकारों, व्यावसायिक संगठनों एवं अक्षयनिधियों का उल्लेख मिलता है। बढई, लुहार, कुम्हार, बुनकरों, ठठेरों, तेलियों, गंधिकों (इत्र व्यवसायियों), मछुआरों, स्वर्णकारों एवं अन्य धातु व्यवसायियों आदि के उल्लेख मिलते हैं। इन व्यवसायियों के अपने व्यावसायिक संगठन होते थे, जिन्हें श्रेणियाँ कहा जाता था।

सातवाहन काल में प्रतिष्ठान, धान्यकटक, भडौच, तगर (तेर), जुन्नार, नासिक, वैजयंती, विजयपुर, सोपास, कोंटाकोसिला, गुंडूर, अल्लोसीगें, हैदराबाद (गोलकुंडा), कुदूर आदि अनेक नगरों का व्यापारिक एवं व्यावसायिक मण्डियों के रूप में अभिलेखों, टॉलमी, पेरिप्लस ऑफ दि एरीथ्रियन सी में उल्लेखित है। ये नगर सड़क मार्ग से एक – दूसरे से जुड़े हुए थे। भडौच, सोपारा, कल्याण, कोंटाकोसिला, कोडोगरा (गुडूर) उल्लोसीगे, आदि नगरों के बंदरगाहों से विदेशों को व्यापार होता था। जी वैकटराव का मत है कि, "सातवाहन शासक पुलुमावि (द्वितीय) के शासनकाल में पूर्वी दकन में जहाजरानी के एक ऐतिहासिक युग का प्रादुर्भाव हुआ, जो यज्ञश्री के शासनकाल में अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गया था।" सातवाहन काल में विलासिता की वस्तुओं औषधियों, मसालों, विविध प्रकार के वस्त्रों, आकर्षक हीरे-मोती एवं अन्य रत्न आदि का निर्यात विदेशों को होता था। आयात की वस्तुओं में धातुओं के बर्तन, चकमक के गिलास, मूल्यवान पत्थर गाने वाले लड़के, सुंदर लड़कियाँ मंदिरा आदि थी। सातवाहन काल में व्यापार एवं वाणिज्य की उन्नति में मुद्रा व्यवस्था ने भी आधारभूत भूमिका निभायी होगी। सातवाहनों ने सीसे, पोटीन, चाँदी एवं ताँबे के सिक्के चलाये। इस काल में दक्षिण भारत में रोमन सिक्के भी मिलते हैं। अभिलेखों में स्वर्ण के सिक्कों का भी उल्लेख मिलता है।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:

(क) कृषि एवं पशुपालन ।

(ख) लघु उद्योग ।

2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:

(अ) सातवाहन कालीन व्यापार एवं वाणिज्य का विवरण दीजिये ?

2.4.4 शिक्षा एवं साहित्य

शिक्षा एवं साहित्य के विकास में सातवाहनों शासनों ने गहरी रुचि ली। शिक्षा राज्य का दायित्व नहीं था। शिक्षा गुरुकुलों, गुरुगृहों में, जैन एवं बौद्ध विहारों में दी जाती थी। सातवाहन काल में धार्मिक एवं समाजोपयोगी दोनों प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। विद्वानों का मत है कि, सातवाहन काल में संभवतः विविध शिल्पों की भी शिक्षा दी जाती होगी। सातवाहन शासन, व्यापारिक संघ, श्रेणियाँ, धनाढ्य वर्ग आदि अनुदान देकर शिक्षा को प्रोत्साहित करते थे। सातवाहन काल में प्राकृत भाषा राजकीय भाषा थी। प्राकृत के साथ-साथ संस्कृत भाषा का विकास भी सातवाहन काल में हुआ। सातवाहन काल की सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक कृति सातवाहन शासन 'हाल' की प्राकृत भाषा में 'गाथा सप्तशती' है। प्राकृत में ही गुणाढ्य की बृहत्कथा एवं संस्कृत में शर्ववर्मन का संस्कृत व्याकरण ग्रंथ 'कातंत्र' अमर कृतियाँ हैं।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:

(अ) सातवाहन कालीन शिक्षा एवं साहित्य का विवरण दीजिये ?

2.4.5 कला

सातवाहन शासनकाल के सुदीर्घ आधिपत्य में पश्चिम एवं दक्षिण भारत में कला का सर्वत्र सर्वांगीण विकास हुआ। सातवाहन काल में स्तूप, चैत्य, विहार, शैलोत्कीर्ण कला एवं मूर्तियों का अभूतपूर्व विकास हुआ। अमरावती, घंटशाल, गोली आदि में स्तूपों एवं मात्रा कार्ले, नासिक, पीतलखोरा, अजंता आदि में शैलोत्कीर्ण गुहा कला एवं मूर्तियों का भारी संख्या निर्माण हुआ।

2.4.5.1 स्तूप

सातवाहन शासनकाल में अनेक स्तूपों एवं उनके वास्तु अंगों का निर्माण हुआ। *अमरावती* (आंध्र प्रदेश) में सातवाहन काल में महास्तूप का निर्माण हुआ। अमरावती स्तूप का प्रमुख वास्तु अंग महावेदिक थी। महावेदिका पर जातक कथाओं के दृश्य एवं बुद्ध के जीवन की घटनाओं का उत्कीर्ण किया गया था। सूचियों पर कमल पुष्पों का उत्कीर्ण है। स्तूप के तोरण द्वारों पर बोधिवृक्ष, धर्मचक्र, स्तूप आदि का उत्कीर्ण है। *गोली* (गुंटूर जिला) नामक स्थल पर सातवाहन काल के स्तूप के अवशेष मिले हैं। गोली में शिलापट्ट पर स्तूप का उत्कीर्ण है। शिलापट्टों पर ही अनेक मूर्तियों के अंकन मिले हैं। *भट्टिप्रोलु* में भी सातवाहन कालीन एक महास्तूप मिला है। *घण्टशाल* एवं *जगय्यपट्ट* में भी सातवाहन कालीन स्तूप मिला है। *नागार्जुनीकोडा* (जिला गुंटूर) में सातवाहनों के सामंत इक्ष्वाकु वंश के शासकों ने महास्तूप का निर्माण कराया।

2.4.5.2 चैत्य एवं विहार

सातवाहन काल में शैलोत्कीर्ण गुफाओं का निर्माण संभवतः भारतीय इतिहास सर्वाधिक हुआ। डॉ० के० डी० वाजपेयी ने लिखा है कि "पश्चिम भारत के शैलगृहों की संख्या बहुत बड़ी है। उनमें सर्वाधिक लगभग 900 बौद्ध, शेष 200 जैनधर्म तथा वैदिक धर्मों से संबंधित है। शैलोत्कीर्ण गुहाओं में चैत्य एवं विहार दोनों सम्मिलित हैं। *भाजा* (पूना, महाराष्ट्र) में सातवाहन काल में चैत्य, विहार एवं चौदह छोटे-छोटे स्तूप बने थे। भाजा के चैत्य गृह के वास्तु अंगों में मण्डप, प्रदक्षिणा पथ, स्तम्भ, गजपृष्ठाकार छत प्रमुख है। *भाजा* के विहार के वास्तु अंगों में महामण्डप, कोडरिया, स्तम्भ, अर्धस्तम्भ प्रमुख है। *कोंडाने* की गुहा के वास्तु अंगों में महामण्डप, मण्डप, स्तम्भ, गजपृष्ठाकार छत प्रमुख है। *पीतलखोरा* (औरंगाबाद महाराष्ट्र) की 03 नं. की गुहा चैत्य गृह है। चैत्यगृह में ईंटों का अण्ड बना था। प्रदक्षिणा पथ एवं कक्ष का विधान है। गुहा नं० 04 विहार थी। *अजंता* की गुहा नं. 10 सातवाहन कालीन है। गुहा नं. 09 भी चैत्यशाला है। विहार

गुहा नं. 12, 13 एवं 08 विहार है। *बेजसा*, (नासिक, महाराष्ट्र) में विहार एवं चैत्य गृह दोनों, *जुन्नार* में लगभग 150 शैलगृह एवं 10 चैत्य शालाएँ हैं। *जुन्नार* हीनयान बौद्ध धर्म का बड़ा केन्द्र था। *कार्ला* (कार्ले) में एक चैत्यशाला एवं तीन विहार हैं। *कन्हैरी* में एक चैत्यगृह एवं अनेक विहारों का निर्माण सातवाहन काल में हुआ। पूर्वी भारत में सातवाहन काल में भुवनेश्वर (उड़ीसा) के पास उदयगिरि की पहाड़ी पर 19 गुफाओं एवं खण्डगिरि में 16 गुफाओं का निर्माण हुआ।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:

- (अ) सातवाहन कालीन स्तूपों एवं उनके वास्तु अंगों का विवरण दीजिये ?
- (ब) सातवाहन कालीन चैत्यों एवं विहारों का विवरण दीजिये ?

2.5 कुषाण कालीन संस्कृति

कुषाण पश्चिमी चीन के गोबी प्रदेश के मूल निवासी थे। इतिहासकार कुषाणों को 'यू-ची' जाति का मानते हैं। कुषाणों को उनके मूल स्थान से 'हूंग - नू' (हूण) जाति ने खदेड़ दिया था। कुषाणों ने बैक्ट्रिया पर अधिकार कर लिया और सोण्डियाना (आधुनिक बोखारा) को अपनी राजधानी बनाया। यहीं से कुषाणों ने अपने लिए सुरक्षित स्थान तलासने और अपने लिए राज्य निर्माण की लालसा से उत्तर पश्चिमी भारत में प्रवेश किया। कुषाणों का सबसे महान शासक कनिष्क प्रथम था। कनिष्क से पूर्व कुजुल कडफिसेस, विमकडफिसेस, सोटर मेगास आदि प्रारंभिक कुषाणों शासकों के नाम मिलते हैं। कुषाण शासक विमकडफिसेस ने भारत में सर्वप्रथम स्वर्ण मुद्राएँ प्रचलित की थी। विम कडफिसेस ने ही सबसे पहले कुषाण साम्राज्य को भारत में स्थापित किया था। कुषाण राजवंश का सबसे प्रतापी शासक कनिष्क (लगभग 78 ई० - 101 ई० तक) था। जिसका शासनकाल कुषाण राजवंश का प्रत्येक क्षेत्र में चर्मोत्कर्ष था।

2.5.1 सामाजिक स्थिति

भारतीय संस्कृति में कुषाण कालीन संस्कृति अपना विशिष्ट स्थान रखती थी। कुषाण कालीन संस्कृति विविध धर्मों एवं समाजों का सम्मिश्रण थी। कुषाण साम्राज्य में सनातन हिन्दू, बौद्ध, जैन एवं अन्य सामाजिक विचार धाराओं पर जीवन जीने वाले समुदाय रहते थे। इसीलिए कुषाण साम्राज्य में सामाजिक विविधा, कुषाण कालीन समाज की प्रमुख विशेषता थी। सनातन हिन्दू सामाजिक व्यवस्था चार वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र में विभक्त थी। चातुर्यवर्ण व्यवस्था के अनुसार ही अपने व्यवसायों में संलग्न थी। समाज प्राचीन आठ प्रकार के विवाहों के साथ-साथ अनुलोम-प्रतिलोम विवाह होते थे। वर्ण संकर जातियों का भी उल्लेख मिलता है।

समाज में बौद्ध एवं जैन धर्मावलम्बी अपनी-अपनी सामाजिक व्यवस्थाओं के अनुरूप रह रहे थे। कुषाणकाल में विदेशी जातियाँ अपनी सामाजिक परंपराओं के साथ ही भारतीय परंपराओं का सामाजिक जीवन में उपयोग कर रहे थे। अनेक विदेशी जातियों ने बौद्ध एवं ब्राह्मण धर्म को ग्रहण कर लिया था। स्वयं कुषाण शासकों ने भी बौद्ध एवं ब्राह्मण धर्म में अपनी आस्था प्रगट करके उनका सामाजिक जीवन अपनाया था। डॉ० बी० एन० पुरी ने लिखा है कि, कुषाणों के अधीन भारत में सामाजिक जीवन समृद्धि और विविधताओं से परिपूर्ण था। समाज में स्त्री एवं पुरुषों की वेशभूषा में भी भारी विविधताएँ थी। उत्तर मध्य भारत, राजपूताना, पंजाब के भौगोलिक क्षेत्र की वेशभूषा में भारी अंतर था। समाज में शाकाहारी एवं माँसाहारी दोनों प्रकार का भोजन प्रचलित था। कुषाण कालीन समाज में मनोरंजन के साधनों में नृत्य-संगीत-गायन के वाद्ययंत्रों ढोल-मंजीरा, सितार, सारंगी, एकतारा आदि का मूर्तियों में अंकन बहुत मिलता है। शिकार खेलना पाँसों का खेल, अखाड़े और व्यायाम शालाएँ, नाटकों तथा जादूगरों के खेल आदि मनोरंजन के साधन थे।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:

(अ) कुषाण कालीन सामाजिक स्थिति का विवरण दीजिये ?

2.5.2 आर्थिक स्थिति :

कुषाण काल में कृषि, पशुपालन, उद्योग धंधे एवं व्यापार— वाणिज्य उन्नतिशील अवस्था में था। बहुसंख्यक आम जनता कृषि एवं पशुपालन पर निर्भर थी। कुषाणकाल में राज्य द्वारा अनाज संग्रहण एवं वितरण किया जाता था। कुषाण काल उद्योग—धंधों एवं व्यापार—वाणिज्य की दृष्टि से अब तक के भारतीय इतिहास में सर्वश्रेष्ठ स्थिति में था। कुषाण साम्राज्य अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण अंतर्राष्ट्रीय व्यापारिक मार्गों एवं व्यापारिक स्थलों के केन्द्र में था। कुषाण साम्राज्य की सीमा पूर्व में चीन तथा पश्चिम में रोमन साम्राज्य से मिलती थी। इसी कारण रोम, ईरान, अफगानिस्तान, खोतन, चीनी तुर्किस्तान, काशगर, चीन, तिब्बत से व्यापारिक संपर्क स्थापित हो गया। इसके साथ ही दक्षिण पूर्वी देशों में भारतीयों ने हिंद चीन एवं हिन्देशिया में अपने उपनिवेश स्थापित किये थे। भारत से इन देशों में तथा यहाँ से व्यापारी चीन से व्यापार करते थे। कुषाण साम्राज्य से अंतर्राष्ट्रीय 'रेशम मार्ग' (सिल्क रूट) गुजरता था। इस रेशम मार्ग पर कुषाणों का नियंत्रण होने से स्थानीय व्यापारी बिचौलिये की भूमिका निभाकर भारी आर्थिक लाभ कमाते थे। भारतीय विदेशों को रेशम, मलमल, वस्त्र, सुगंधित पदार्थ, मोती, मलाल अन्य अनेक प्रकार की वस्तुएँ निर्यात करते थे। एक यूनानी लेखक लिखता है कि, रोम की स्त्रियाँ भारत के मलमल के परिधान पहनकर सौन्दर्य प्रदर्शन करती हैं।" यूनानी लेखन प्लिनी भारतीयों को होने वाले भारी आर्थिक लाभ पर दुःख प्रगट करता है। रोमन साम्राज्य में भारतीय रेशमी, मलमल के वस्त्रों एवं अन्य सौंदर्य सामग्री के उपयोग को सामाजिक उच्चता का प्रतीक समझा जाता था।

चीनी लेखक पानचाऊ अपने ग्रंथ 'शिन—हान—चाउ' में दक्षिण भारत के चीन से सामुद्रिक मार्ग से व्यापार का उल्लेख करता है। कुषाण काल में संगठित व्यावसायिक संघों एवं श्रेणियों के माध्यम से स्थलीय एवं जलीय मार्गों से बड़ी संख्या में व्यापार होता था। महावस्तु में उल्लेखित है कि, व्यापारी सामान से लदे जहाजों को लेकर समुद्र पार जाते थे। कुषाण कालीन व्यापार एवं वाणिज्य की समृद्धि में मजबूत मुद्रा प्रणाली में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। कुषाणों ने सोना, ताँबे के विविध प्रकार के सिक्के जारी किये।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:

(अ) कुषाण कालीन आर्थिक स्थिति का विवरण दीजिये ?

2.5.3 धार्मिक स्थिति

कुषाण काल धार्मिक सहिष्णुता एवं सामंजस्य का अद्भुत संगम था। कुषाण साम्राज्य में आम जनता मध्य एशियायी, यूनानी, सुमेरियन, ईरानी, बौद्ध, जैन, ब्राह्मण देवी—देवताओं की उपासना करती थी और शासक सभी का समानता के साथ सम्मान करते थे। कुषाण शासकों के सिक्कों पर ब्राह्मण, बौद्ध, यूनानी, सुमेरी, ईरानी, रोमन आदि धर्मों के देवी—देवताओं के चित्र मिलते हैं। कुषाणकाल में भी ब्राह्मण धर्म शक्तिशाली था अधिकांश जनता ब्राह्मण धर्मावलम्बी थी। कुषाणों ने अपने सिक्कों पर शिव, नंदी, वासुदेव, मित्र, यम, स्कन्द कुमार, उमा, विशाखा, महासेन, वरुण, मिहिर आदि ब्राह्मण देवी—देवताओं का अंकन करवाया। कुषाणों ने अपने शासनकाल में ब्राह्मण धर्म एवं ब्राह्मण धर्मावलंबियों का पूरा सम्मान किया।

कुषाण काल में जैन धर्म भी प्रचलित था। कुषाण साम्राज्य में मथुरा जैन धर्म का एक बड़ा केन्द्र था। संभवतः मथुरा में जैन धर्म का कोई बड़ा संघ रहा होगा। मथुरा से जैन तीर्थकरों की मूर्तियाँ जैन देवियों की मूर्तियाँ, आयागपट्ट आदि मिले हैं। इस प्रकार कुषाणकाल में जैन धर्म भी प्रगति करता रहा।

कुषाण शासकों ने बौद्ध धर्म में गहरी आस्था प्रगट की। अनेक कुषाण शासक बौद्ध धर्म के प्रति आस्थावान थे, वहीं महान कुषाण शासक कनिष्क प्रथम ने स्पष्टतः बौद्ध धर्म अपनाकर, बौद्ध के राजकीय संरक्षण दिया और बौद्ध धर्म के विस्तार एवं प्रगति में योगदान प्रदान किया। इतिहासकारों का मत है कि, कनिष्क को बौद्ध धर्म में सुदर्शन नामक बौद्ध विद्वान ने दीक्षित किया था। कनिष्क ने अपने शासनकाल के प्रारंभिक वर्षों में ही बौद्ध धर्म को अपना लिया था। कनिष्क ने बौद्ध धर्म की उन्नति के लिए अनेक कार्य किये। इसी कारण बौद्ध ग्रंथों में कनिष्क को बौद्ध धर्म का संरक्षक एवं दूसरे अशोक के रूप में उल्लेखित किया गया है। कनिष्क ने अनेक बौद्ध विहार स्तूपों एवं बौद्ध मूर्तियों का निर्माण करवाया। कनिष्क के बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए कनिष्कपुर, पुरुषपुर, मथुरा, तक्षशिला आदि अनेक स्थानों पर स्तूपों विहारों का निर्माण करवाया। कनिष्क ने बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए बौद्ध विद्वानों को चीन, तिब्बत, जापान एवं मध्य एशिया भेजा।

2.5.3.1 चतुर्थ बौद्ध संगीति

कनिष्क ने बौद्ध धर्म की प्रगति और प्रचार-प्रसार के साथ ही, तत्कालीन समय में बौद्ध धर्म में प्रचलित विभिन्न सिद्धान्तों, मतों एवं विवादों पर गहन अध्ययन एवं विचार विमर्श के लिए चतुर्थ बौद्ध संगीति का आयोजन करवाया। चतुर्थ बौद्ध संगीति कश्मीर के कुण्डलवन में आयोजित की गयी। इस संगीति के अध्यक्ष वसुमित्र तथा उपाध्यक्ष अश्वघोष को बनाया गया। संगीति में 500 से अधिक बौद्ध भिक्षुओं एवं विद्वानों ने हिस्सा लिया। बौद्ध संगीति में नागार्जुन एवं पार्श्व ने भी हिस्सा लिया था। यह संगीति छह माह तक चली। इसके सम्पूर्ण बौद्ध साहित्य पर विस्तृत चर्चा की गयी। विद्वानों ने गहन चिंतन-मनन करके त्रिपिटकों पर शुद्ध टीकाएँ लिखीं। टीकाओं को 'महाविभाष' नामक ग्रंथ में संकलित किया गया। यहीं 'महाविभाष' कालान्तर में 'बौद्ध धर्म का विश्वकोष' कहलाया। कनिष्क ने सभी टीकाओं को ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण कराके एक नवीन निर्मित स्तूप में संरक्षित करवा दिया। इस बौद्ध संगीति में बौद्ध धर्म में प्रचलित तत्कालीन 18 मतों (सिद्धांतों) में चला आ रहा विवाद गहन विचार-विमर्श के बाद समाप्त कर दिया गया। 'महायान' बौद्ध धर्म का उदय संगीति के विचार मंथन से हुआ।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:
 - (क) चतुर्थ बौद्ध संगीति ।
2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
 - (अ) कुषाण कालीन धार्मिक स्थिति का विवरण दीजिये ?

2.5.4 साहित्य का विकास

कुषाण काल साहित्यिक प्रगति का काल था। कुषाण शासक कनिष्क के काल में भाषा एवं साहित्य की चतुर्दिक प्रगति हुई। कुषाण काल में यूनानी संस्कृत, प्राकृत भाषा एवं ब्राह्मी एवं खरोष्ठी लिपियों का विकास हुआ। कनिष्क की राजसभा में वसुमित्र, अश्वघोष, नागार्जुन, पार्श्व, माठर, चरक संघरक्ष आदि महान विद्वानों को राजकीय प्रश्रय प्राप्त था। वसुमित्र ने चतुर्थ बौद्ध संगीति की अध्यक्षता की तथा महान बौद्ध ग्रंथ महाविभाष की रचना की थी। अश्वघोष ने चतुर्थ बौद्ध संगीति की उपाध्यक्षता की थी। अश्वघोष ने बुद्धचरित, सौन्दरानन्द जैसे महान् महाकाव्यों एवं शारिपुत्र प्रकरण जैसे सुप्रसिद्ध नाटक की रचना की थी। महान दार्शनिक एवं वैज्ञानिक नागार्जुन ने प्रसिद्ध ग्रंथ प्रज्ञापारमितासूत्र की रचना की। प्रज्ञापारमिता सूत्र में ही नागार्जुन ने अपने विश्व प्रसिद्ध सिद्धान्त 'सापेक्षवाद' (शून्यवाद) सिद्धान्त को प्रस्तुत किया। प्रसिद्ध चिकित्सक चरक ने आयुर्वेदिक ग्रंथ 'चरक संहिता' की रचना की। चरक को आयुर्वेद का जन्मदाता कहा जाता है। माठर (मथर) कनिष्क का सुप्रसिद्ध राजनीतिक सलाहकार था। डॉ० एच० सी० राय चौधरी ने

ठीक ही लिखा है कि, “कुषाणकाल साहित्यिक क्रियाशीलता का युग था, इसका ज्ञान अश्वघोष, नागार्जुन एवं अन्य विद्वानों की रचनाओं से होता है।”

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:

(अ) कुषाण कालीन साहित्य के विकास का विवरण दीजिये ?

2.5.5 कला

कुषाणों के काल में कला चर्मोत्कर्ष पर थी। मथुरा, गांधार, पुरुषपुर, मनिक्पाल, तक्षशिला, कौशांबी, सारनाथ आदि कुषाण कालीन कला के केन्द्र थे। कुषाण काल में विशेषतः कनिष्क ने कला के क्षेत्र में प्रशंसनीय योगदान प्रदान किया है। कनिष्क ने पुरुषपुर, तक्षशिला, बल्लू, खोतान, मनिक्पाल, गांधार आदि में अनेक स्तूपों एवं विहारों का निर्माण कराया। कुषाण काल में नगरीकरण की प्रगति में अत्यधिक तेजी आयी। अनेक नवीन नगरों की स्थापना हुई एवं पहले से स्थापित नगरों के नगरीकरण में भारी तेजी आयी। कनिष्क ने तक्षशिला में सिरकप तथा पुरुषपुर में कनिष्कपुर नामक नवीन नगरों की स्थापना की। कनिष्क के शासनकाल में मूर्तिकला के क्षेत्र में अभूतपूर्व कार्य हुआ। कनिष्क के शासनकाल ने कला के क्षेत्र में भारतीय संस्कृति को मथुरा कला एवं गांधार कला की महत्वपूर्ण कृतियाँ दी है। कनिष्क के शासनकाल में मथुरा कला एवं गांधार कला की ‘मूर्तिकला कला’ विश्वविख्यात हो चुकी थी।

2.5.5.1 मथुरा कला

भारत में मथुरा का कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान रहा है। मथुरा, कला की दृष्टि से एक लंबे समय तक कला की उत्कृष्ट कृतियों का सृजन करता रहा। कला के एक केन्द्र के रूप में मथुरा कला ने अपनी विशिष्टता को स्थापित किया। इसी कारण मथुरा को ‘मथुरा कला के विद्यालय’ (मथुरा स्कूल ऑफ आर्ट) की संज्ञा दी गयी। डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने मथुरा कला के विषय में लिखा है कि “मथुरा शिल्प में अलंकृत विषयों की मौलिकता और विविधता प्रतिभाशाली शिल्पियों की मौलिक संरचना एवं सृजनात्मता की उत्कृष्टता का द्योतक है।” वस्तुतः कुषाण काल में मथुरा कला अपने पूर्ण यौवन को प्राप्त कर चुकी थी, मथुरा कला अपनी मूर्तिकला कला में पूर्ण दक्ष हो चुकी थी, अपनी वैशिष्टक विशेषता के कारण इसने सम्पूर्ण भारत की कला को प्रभावित किया। मथुरा कला में बौद्ध, जिन, हिन्दू देवी – देवताओं, यक्ष, यक्षिणी आदि की मूर्तियों का निर्माण हुआ।

कुषाण कालीन मथुरा कला की विशेषताएँ :

1. कुषाण कालीन शिल्पी ने सम्मुख दर्शन के साथ-साथ पार्श्व दर्शन, पृष्ठ दर्शन आदि का प्रयोग किया है, देवताओं और राजपुरुषों की मूर्तियाँ सम्मुख दर्शन रूप में उकेरी गई हैं। उक्त मूर्तियों की श्रेष्ठता हेतु ‘सम्मुख दर्शन’ अपरिहार्य था।
2. मथुरा के शिल्पी को जहाँ जीवन में अनेक पहलू उद्भूत करने थे, वहाँ अनौपचारिकता का वातावरण उत्पन्न करना आवश्यक था और ऐसे दृश्यों में मुद्रा व कोणों की भिन्नता के द्वारा स्त्री-पुरुष आकृतियों में स्वाभाविकता लाना सम्भव था, जिसके लिये कलाकारों ने आकृतियों में मुद्रा व कोणों की भिन्नता को प्रदर्शित किया है।
3. उस समय की मूर्तियाँ पृष्ठ से अधिक उभरी हैं और इस कारण पूर्वकालीन मूर्तियों में जो चपटेपन का आभास होता है, वह कुषाण काल में समाप्त हो गया, जो मूर्तियाँ शिलापट्टों पर उभारकर बनाई गई हैं,

उनके भी पृष्ठ भाग पर केश सहित आभूषण अथवा वस्त्र दिखाये गये हैं या मूर्ति के पृष्ठ भाग पर पशु – पक्षी, पुष्प – पत्ती आदि आकृतियाँ प्रदर्शित की गई हैं।

4. कुषाण युग में आरम्भिक काल की स्थूलता के आधार पर मूर्तियों को सुडौल हस्त-पुष्ट एवं मांसल रूप में अंकित किया गया है। इसमें यह भी उल्लेखीय है कि, जंघा व पैरों के भारीपन को दूर करने का प्रयास कुषाण शिल्पियों ने आरम्भ कर दिया था, परन्तु दुर्भाग्यवश मथुरा के शिल्पी को जहाँ अनेकानेक सफलताएँ मिली। उससे वह गुप्त काल में इस दोष से मुक्त न हो सका।
5. कुषाण कालीन मथुरा कला के शिल्पी ने वस्त्र संरचना में भी नये-नये प्रयोग कर दिये थे, पूर्ण कालीन भारतीय वस्त्रों के स्थान पर मूर्तियों को सुरुचिपूर्ण व हल्के वस्त्रों से सुसज्जित किया गया।
6. कथानकों के अंकन की एक नई शैली का आरम्भ भी इसी युग में हो गया। पूर्व काल में एक ही चौखट के अन्तर्गत एक कथा से सम्बन्धित अनेक घटनाएँ प्रदर्शित कर दी जाती थीं, परन्तु अब विभिन्न घटनाओं को अलग-अलग स्पष्ट रूप में प्रदर्शित किया जाने लगा।
7. कुषाण कालीन मथुरा कला में निर्मित मूर्तियों पर मूँछें नहीं दिखायी गई हैं, वास्तव में मूँछों से रहित मूर्तियों के निर्माण की परम्परा भारतीय थी।
8. मथुरा की कुषाण कालीन देव प्रतिमा के दाहिने कन्धे पर वस्त्र प्रदर्शित नहीं किये गये हैं, दाहिना हाथ अधिकतर 'अभयमुद्रा' में ही पाया गया है।
9. मथुरा की कुषाण कालीन कला के विषय एवं तकनीक भारतीय है। मथुरा के शिल्पी भारतीय आदर्श व भावनाओं को पूर्णतः व्यक्त करते हैं।
10. मथुरा शैली की पाषाण कला कृतियाँ प्रायः चत्तेदार 'बलुआ पत्थर' से निर्मित हैं।

मथुरा कला शैली में प्रथमतः मथुरा में बुद्ध को प्रतीकों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया। ज्ञातव्य रहे कि, बुद्ध की प्रथम मूर्ति मथुरा कला में मथुरा में ही बनी। कुषाण काल में मथुरा कला का विकास हुआ। डॉ० आर० एन० मिश्र ने लिखा है कि, कनिष्क के काल से बुद्ध की आसन एवं स्थानक मूर्तियों का सुचारु एवं प्रभावशाली ढंग से निर्माण होने लगा था। इनमें मथुरा में निर्मित बुद्ध की कंकाली टीला, महोली, कौशांबी, सारनाथ की 'स्थानक मूर्तियाँ' प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त, कटरा तथा आन्योर की 'पद्मासन मुद्रा' में निर्मित बुद्ध की मूर्तियाँ भी कनिष्क के काल की हैं।

कुषाण कालीन मथुरा कला शैली में हिन्दू देवी – देवताओं की प्रतिमाओं का भी बड़ी संख्या में निर्माण हुआ। शिव, विष्णु, सूर्य, अग्नि, ब्रह्मा, कार्तिकेय, इंद्र, बलराम, कामदेव, दुर्गा, लक्ष्मी, मातृकाएं आदि हिन्दू देवी – देवताओं की मूर्तियों का निर्माण हुआ। कुषाण कालीन मथुरा कला शैली में यक्ष – यक्षिणी मूर्तियों का निर्माण बड़े सुन्दर ढंग से हुआ है। यक्ष – यक्षिणियों की मूर्तियों के निर्माण में आध्यत्मिक पक्ष की अपेक्षा भौतिक पक्ष पर अधिक बल दिया गया है। डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने यक्षिणियों एवं स्त्रियों की आकर्षक, मोहक, काम क्रीड़ा युक्त नग्न मूर्तियों को आम जनता के उत्सवों (लोकोत्सवों) से जोड़ा है। महोली, गोविन्दनगर से प्राप्त तथा मथुरा संग्रहालय में संरक्षित यक्ष मूर्तियाँ कुषाण कालीन मथुरा कला शैली की विशिष्ट यक्ष प्रतिमाएं हैं। डॉ० आर० एन० मिश्र लिखा है कि, यक्ष प्रतिमाएं मांसल, विशाल उदर, मोटी मूँछें, गोमुख, शंकुकर्ण, मेष कर्ण, मेंढक – मुँह, भयानक रूप वाले मिलते हैं। कुषाण कालीन मथुरा कला शैली में शिलाओं पट्टों, वेदिका स्तंभों आदि पर राजा – महाराजाओं की प्रतिमाएं मिलती हैं। इनमें कुषाण शासक कनिष्क की मथुरा संग्रहालय में संरक्षित पत्थर की मूर्ति प्रमुख है। कुषाण कालीन मथुरा कला शैली में जैन प्रतिमाएं भी मिलती हैं, जिनमें जैन सर्वतोभद्रिकाएं, स्वतंत्र जिन प्रतिमाएं, आयागपट्ट आदि प्रमुख हैं।

2.5.5.2 गांधार कला

गांधार मूर्तिकला का कुषाण काल में महत्वपूर्ण स्थान है। कुषाण काल में गांधार एशिया एवं यूरोप के मिलन का एक प्रमुख स्थल था। इसी कारण गांधार में एक विशिष्ट कला का विकास हुआ। जिसकी तकनीक यूनानी एवं विषय वस्तु भारतीय होने कारण विद्वानों ने ग्रीकों – रोमन, ग्रीकों – बुद्धिस्ट, इण्डो – रोमन, इण्डो – ग्रीक आदि नामों से संबोधित किया। किन्तु हाल के शोधों से प्रमाणित हो गया है कि इस विशिष्ट कला शैली का गांधार में ही उद्भव हुआ। अतः इसे 'गांधार मूर्तिकला शैली' कहना ही उचित है। गांधार मूर्तिकला कला शैली में निर्मित महात्मा बुद्ध की प्रतिमाओं में बुद्ध की मुखमुद्रा शक्त कठोर रूप में प्रदर्शित की गयी है। इसी कारण आनन्द कुमारस्वामी ने इन प्रतिमाओं को 'आत्मारहित पुतलें' कहा है। निहार रंजन राय ने इन प्रतिमाओं को 'कारखानों में मशीनों' द्वारा निर्मित कहा है।

डॉ० आर० एन० मिश्र लिखा है कि, गांधार मूर्तिकला कला शैली कुषाण काल में विकास के तृतीय चरण में थी। इसका विस्तार सुर्खकोतल, हद्दा, बेग्राम, तेपे शोतोर, तेपे सरदार, तेपे मरंदजान (अफगानिस्तान) खल्चयान, तेपे देलवर्जिन (दक्षिणी उज्बेकिस्तान) आदि क्षेत्रों में था। कुषाण कालीन गांधार कला शैली की प्रमुख प्रतिमाएं हैं, बर्लिन संग्रहालय की बोधिसत्व प्रतिमा, ब्रिटिश संग्रहालय की बुद्ध प्रतिमा, भारतीय संग्रहालय कलकत्ता की बुद्ध प्रतिमा, लौरिया टंगाई की बुद्ध प्रतिमा, गांधार क्षेत्र के बीमरान एवं शाहजी की ढेरी से मिली अस्थि मंजूषाओं की बुद्ध प्रतिमाएं आदि।

कुषाण कालीन गांधार कला की विशेषताएँ

1. गांधार की कृतियाँ 'स्वात घाटी' में उपलब्ध 'स्लेटी पत्थर' से निर्मित की गयी हैं।
2. गांधार कला के विषय वस्तु में भारतीय किन्तु तकनीकी विदेशी हैं, अधिकांश विद्वानों का मानना है कि वास्तव में गांधार कला के अन्तर्गत मूर्तियों का विषय भारतीय, किन्तु तकनीकी यूनानी है। एक यूनानी कला के द्वारा भारतीय विषयों की वास्तविक अभिव्यक्ति नहीं हो सकती थी। अतः गांधार के शिल्पी भारतीय आदर्श व भावनाओं को व्यक्त करने में असमर्थ रहे।
3. महात्मा बुद्ध को सिंहासन पर बैठे हुये दर्शाया गया है तथा कहीं-कहीं वे चप्पल भी धारण किये हुये हैं।
4. महात्मा बुद्ध केश व उष्णीश (जूड़ा) में दिखाये गये हैं तथा वे आभूषण धारण किये हुये हैं। यह यूनानी प्रभाव को इंगित करता है। अपोलो और एक्रोडाइट की यूनानी मूर्तियों में सिर पर जूड़े का प्रदर्शन किया जाता था। अपोलो की मूर्ति पर निर्मित उष्णीश को 'क्रेम्बीलोज' कहा जाता था।
5. गांधार में निर्मित की गयी कुछ मूर्तियों को रोम में प्रचलित 'शेग' की तरह का वस्त्र धारण किये हुये प्रदर्शित किया गया है। यह एक बड़ी प्रकार की चादर होती थी, जिससे सारे शरीर को ढंका जाता था।
6. बैजामिन रोलेन्ड ने स्पष्ट किया है कि रोम की ऑगस्टस युग की मूर्तियों में दिखाए जाने वाले वस्त्रों में सिलवटों को दिखाने के लिये जिस प्रकार से गहरी लकीरें उकेरी गई हैं ठीक उसी प्रकार गांधार की बुद्ध मूर्तियों के वस्त्रों की सिलवटें भी लकीरों में प्रदर्शित हैं, जो निश्चित ही प्रथम सदी ई० की रोमन कला के प्रभाव को सूचित करती हैं।
7. गांधार मूर्तियों में आध्यात्मिक व भावुकता का अभाव है, यही कारण है कि आनन्द कुमारस्वामी ने इन मूर्तियों को 'आत्मारहित पुतलें' कहा है, निहार रंजन रे ने लिखा है कि 'गांधार कला की मूर्तियाँ कलाकारों द्वारा नहीं अपितु बृहत् संख्या में कारखानों में मशीनों द्वारा निर्मित हैं।'
8. गांधार मूर्ति शिल्प में बुद्ध मूर्तियों के वस्त्र कुछ भारी तथा मोटे प्रतीत होते हैं, साथ ही मूर्तियों के दोनों कंधों को ढंका हुआ दिखाया गया है। कुछ आसन मूर्तियों के दाहिने कंधों पर वस्त्र का प्रदर्शन नहीं

हुआ है। मूर्तियों को अधिक वस्त्राच्छादित करने का कारण सम्भवतः गान्धार प्रदेश की शीतप्रद जलवायु की शिल्पियों की दृष्टि में रहा होगा। कुषाण परम्परा के प्रभाव कुछ मूर्तियों के चेहरे पर मूँछों का भी प्रदर्शन किया गया है।

9. गान्धार मूर्तिकला का विषय प्रधानतः बुद्ध, बोद्धिसत्व तथा बुद्ध से सम्बन्धित है।
10. यूनानी प्रभाव के कारण गान्धार मूर्तियों में बुद्ध 'अपोलो' देवता के समान लगते हैं।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

(प) निम्नलिखित वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर दीजिए:

1. कनिष्क ने कौनसे नगर की स्थापना की थी ?
 (क) तक्षशिला (ख) कनिष्कपुर
 (ग) पुरुषपुर (घ) इनमें से कोई नहीं
2. बुद्ध की प्रथम मूर्ति बनी थी ?
 (क) गान्धार में (ख) तक्षशिला में
 (ग) मथुरा में (घ) इनमें से कोई नहीं
3. गान्धार की कृतियाँ किस पत्थर से निर्मित की गयी हैं?
 (क) स्लेटी पत्थर (ख) बलुआ पत्थर
 (ग) लाल पत्थर (घ) इनमें से कोई नहीं
4. गान्धार कला की मूर्तियों को किसने 'आत्मारहित पुतले' कहा है ?
 (क) निहार रंजन राय (ख) वासुदेव शरण अग्रवाल
 (ग) आनन्द कुमारस्वामी (घ) इनमें से कोई नहीं
5. कुषाण शासक कनिष्क की पत्थर की मूर्ति संरक्षित है ?
 (क) मथुरा संग्रहालय में (ख) कलकत्ता संग्रहालय में
 (ग) ग्वालियर संग्रहालय में (घ) इनमें से कोई नहीं

(पप) निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:

1. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
 (अ) कुषाण कालीन मथुरा कला का विश्लेषण कीजिये ।
 (ब) कुषाण कालीन गान्धार कला का विश्लेषण कीजिये ।

2.6 सारांश

शुंग-सातवाहन शासकों ने ब्राह्मण राजवंशों की स्थापना की। सर्वप्रथम राजनैतिक परिवर्तन के साथ ही धार्मिक परिवर्तन हुआ। इससे समाज में पुनः ब्राह्मणों की श्रेष्ठता स्थापित हुई। ब्राह्मणों के राजकीय सत्ता प्राप्ति से वैदिक संस्कृति पुनः प्रतिष्ठित हुई। मौर्यकाल में राजकीय संरक्षण के कारण बौद्ध धर्म संस्कृति का प्रभुत्व बढ़ गया था। शुंग - सातवाहन शासकों के राजनैतिक उत्कर्ष के साथ ही वैदिक संस्कृति का पुनरुत्थान हुआ और वैदिक धर्म संस्कृति द्वारा विहित सामाजिक धार्मिक ढाँचे को दृढ़ता के साथ स्थापित किया गया। किन्तु वैदिक संस्कृति के उत्थान ने बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म के स्तूप, चैत्य एवं विहार के स्थापत्य एवं विकास में कोई रुकावट पैदा नहीं की। अपितु कला के क्षेत्र में सर्वाधिक उन्नति बौद्ध कला की ही हुई। कुषाण काल अपनी धार्मिक सहिष्णुता एवं समन्वय का उत्तम उदाहरण था। कुषाणों ने कला के क्षेत्र में अभूतपूर्व योगदान दिया तथा मथुरा एवं गान्धार कला जैसी महान् कला संस्कृति का उत्थान हुआ।

2.7 तकनीकी शब्दावली

मृण्मूर्तियाँ : मिट्टी की मूर्तियाँ

चतुर्दिक : चारों ओर

पुनरुत्थान : फिर से उत्थान होना

वस्त्राच्छादित : कपड़ों से ढके हुए या कपड़े पहने हुए

स्थापत्य कला : भवन निर्माण कला

चैत्य : पहाड़ों को काटकर गुफा के अंदर बना बौद्ध पूजा स्मारक

विहार : बौद्ध भिक्षुओं के रहने का भवन

आयागपट्ट : पत्थर की शिला पर बनीं जैन प्रतिमाएँ

2.8 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

इकाई 2.3 के स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

(प) निम्नलिखित वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर दीजिए:

1. देखिए 2.3.1.1 वैदिक या ब्राह्मण धर्म
2. देखिए 2.3.1.1 वैदिक या ब्राह्मण धर्म
3. देखिए 2.3.1.2 बौद्ध धर्म
4. देखिए 2.3.1.2 बौद्ध धर्म
5. देखिए 2.3.1.1 वैदिक या ब्राह्मण धर्म

(पप) निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:

1. (क) देखिए 2.3.1.1 वैदिक या ब्राह्मण धर्म
(ख) देखिए 2.3.1.2 बौद्ध धर्म
2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
(अ) देखिए 2.3.1.2 बौद्ध धर्म

इकाई 2.3.2 के स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:
(क) देखिए 2.3.2.2 आश्रम व्यवस्था
(ख) देखिए 2.3.2.3 स्त्रियों की स्थिति
2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
(अ) देखिए 2.3.2.1 वर्ण व्यवस्था

इकाई 2.3.3 के स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
(अ) देखिए 2.3.3 आर्थिक स्थिति

इकाई 2.3.4 के स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
(अ) देखिए 2.3.4 साहित्य एवं भाषा

इकाई 2.3.5 के स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:

1. (क) देखिए 2.3.5.2 चैत्य एवं विहारों का निर्माण
(ख) देखिए 2.3.5.3 गरुड़ ध्वज एवं अन्य कला कृतियाँ

2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
(अ) देखिए 2.3.5.1 स्तूप एवं उनके वास्तु अंगों का निर्माण

इकाई 2.4.1 के स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:

1. (क) देखिए 2.4.1 सामाजिक स्थिति
(ख) देखिए 2.4.1 सामाजिक स्थिति

2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:

(अ) देखिए 2.4.1 सामाजिक स्थिति

इकाई 2.4.2 के स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:

1. (क) देखिए 2.4.2 धार्मिक स्थिति
(ख) देखिए 2.4.2 धार्मिक स्थिति

2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:

(अ) देखिए 2.4.2 धार्मिक स्थिति

इकाई 2.4.3 के स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:

1. (क) देखिए 2.4.3 आर्थिक स्थिति
(ख) देखिए 2.4.3 आर्थिक स्थिति

2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:

(अ) देखिए 2.4.3 आर्थिक स्थिति

इकाई 2.4.4 के स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:

(अ) देखिए 2.4.4 शिक्षा एवं साहित्य

इकाई 2.4.5 के स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:

(अ) देखिए 2.4.5.1 स्तूप
(ब) देखिए 2.4.5.2 चैत्य एवं विहार

इकाई 2.5.1 के स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:

(अ) देखिए 2.5.1 सामाजिक स्थिति

इकाई 2.5.2 के स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:

(अ) देखिए 2.5.2 आर्थिक स्थिति

इकाई 2.5.3 के स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:

1. (क) देखिए 2.5.3.1 चतुर्थ बौद्ध संगीति
2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
(अ) देखिए 2.5.3 धार्मिक स्थिति

इकाई 2.5.4 के स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:

(अ) देखिए 2.5.4 साहित्य का विकास

इकाई 2.5.5 के स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

(प) निम्नलिखित वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर दीजिए:

1. देखिए 2.5.5 कला

2. देखिए 2.5.5.1 मथुरा कला

3. देखिए 2.5.5.2 गांधार कला

4. देखिए 2.5.5.2 गांधार कला

5. देखिए 2.5.5.1 मथुरा कला

(पप) निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:

1. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:

(अ) देखिए 2.5.5.1 मथुरा कला

(ब) देखिए 2.5.5.2 गांधार कला

2.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. ओमप्रकाश – *प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास*, नई दिल्ली, 1986
2. अग्रवाल, वासुदेवशरण – *भारतीय कला*, वाराणसी, 1987
3. भण्डारकर, आर० जी० – *द अर्ली हिस्ट्री ऑफ द डेवकन*, बम्बई, 1957
4. डेविड्स, आर० – *बुदिस्ट इण्डिया*, कलकत्ता, 1955
5. गुप्त, एस० पी० – *दि रूट्स ऑफ इंडियन आर्ट*, दिल्ली, 1980
6. गोयल, श्रीराम – *प्राचीन भारत का इतिहास*, खण्ड 1, जोधपुर, 1998
– *ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन बुद्धिज्म*, मेरठ, 1987
7. झा एवं श्रीमाली – *प्राचीन भारत का इतिहास*, दिल्ली, 2000
8. मजूमदार, रायचौधरी, दत्त – *भारत का बृहत, इतिहास*, खण्ड 1, नई दिल्ली, 1970
9. मजूमदार, रमेशचन्द्र – *प्राचीन भारत*, दिल्ली, 1973
10. मिश्र, आर० एन० – *भारतीय मूर्तिकला का इतिहास*, नई दिल्ली, 2002
11. पाण्डेय, विमल चन्द्र – *प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास*,
भाग 1, इलाहाबाद, 1998
12. पुरी, बी० एन० – *इण्डिया अण्डर दि कुषाणज*, बम्बई, 1965
13. राय, निहार रंजन – *मौर्य तथा मौर्यन्तर कला*, दिल्ली, 1979
14. रोलैंड, बेजामिन – *ऑर्ट एंड आर्किटेक्चर ऑफ इंडिया*, हार्मड्सबर्थ, 1956
15. रैप्सन (संपा०) – *कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, वो०1*, कैम्ब्रिज, 1922
16. रायचौधुरी, एच० सी० – *पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एंशेन्ट इण्डिया*, कलकत्ता, बी.
एन. मुखर्जी द्वारा सम्पादित, कलकत्ता, 1997
17. शर्मा, रामशरण – *प्रारंभिक भारत का परिचय*, नई दिल्ली, 2009
– *Material Culture and Social Formations in ancient India, Delhi, 1983*
18. Sastri, Nilakanta (ed.)- *A Comprehensive History of India, vol. 2*, Bombay, 1957
– *दक्षिण भारत का इतिहास*, पटना, 2006

19. स्मिथ, वी. एस. – *अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया*, ऑक्सफोर्ड, 1924
20. त्रिपाठी, आर० एस० – *प्राचीन भारत का इतिहास*, बनारस, 1998
21. थापर, रोमिला – *कल्चरल पास्ट्स : ऐसेज इन अर्ली इंडियन हिस्ट्री*, नई दिल्ली, 2000
– *एशियन्ट इण्डियन सोशल हिस्ट्री*, नई दिल्ली, 1983
– *भारत का इतिहास*, नई दिल्ली, 1989
22. वाजपेयी, कृष्णदत्त – *भारतीय वास्तुकला का इतिहास*, लखनऊ, 1990
23. याजदानी, जी. (संपा.) – *दकन का प्राचीन इतिहास*, नई दिल्ली, 1977

2.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. ओमप्रकाश – *प्राचीन भारत का इतिहास*, नई दिल्ली, 1986
2. महाजन, विद्याधर – *प्राचीन भारत का इतिहास*, नई दिल्ली, 2008
3. मिश्र, जयशंकर – *प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास*, पटना, 2006
4. श्रीवास्तव, के० सी० – *प्राचीन भारत का इतिहास एवं संस्कृति*, इलाहबाद, 2007
5. शर्मा, आनन्द कुमार – *भारतीय संस्कृति एवं कला*, नई दिल्ली, 2011

2.11 निबंधात्मक प्रश्न

- प्रश्न 1. शुंग कालीन संस्कृति का विस्तृत रूप से विवरण दीजिये ?
- प्रश्न 2. सातवाहन कालीन संस्कृति का विस्तृत रूप से विवरण दीजिये ?
- प्रश्न 3. कुषाण कालीन संस्कृति पर प्रकाश डालिये ?
- प्रश्न 4. कुषाण कालीन कला पर प्रकाश डालिये ?

इकाई –तीन : गुप्तकालीन संस्कृति

- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 उद्देश्य
- 3.3 सामाजिक स्थिति
 - 3.3.1 वर्ण व्यवस्था
 - 3.3.2 स्त्रियों की स्थिति
 - 3.3.3 मनोरंजन के साधन
 - 3.3.4 दास प्रथा
- 3.4 आर्थिक स्थिति
 - 3.4.1 कृषि
 - 3.4.2 उद्योग-धंधे, व्यापार एवं वाणिज्य
 - 3.4.3 श्रेणी
 - 3.4.4 मुद्रा
- 3.5 धार्मिक दशा स्थिति
 - 3.5.1 वैदिक धर्म
 - 3.5.1.1 वैष्णव धर्म
 - 3.5.1.2 शैव धर्म
 - 3.5.2 बौद्ध धर्म
 - 3.5.3 जैन धर्म
- 3.6 साहित्य
- 3.7 गुप्तकालीन कला
 - 3.7.1 गुहा स्थापत्य कला एवं चित्रकला
 - 3.7.1.1 बाघ की गुहा चित्रकला
 - 3.7.2 स्तूप स्थापत्य कला

3.7.3 मंदिर स्थापत्य कला

3.7.4 गुप्तकालीन मूर्तिकला

3.8 सारांश

3.9 तकनीकी शब्दावली

3.10 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

3.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

3.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

3.13 निबंधात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना :

भारतीय संस्कृति की प्रतिष्ठा और उन्नति को गौरवशाली पृष्ठभूमि गुप्तकाल के सांस्कृतिक उत्थान ने प्रदान की। गुप्त शासकों ने लगभग 275 ई० से 550 ई० तक शासन किया। इस प्रकार गुप्त शासकों ने तृतीय शताब्दी ई० से छठी शताब्दी ई० तक शासन किया। चन्द्रगुप्त प्रथम समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य जैसे प्रतापी शासक गुप्त राजवंश में हुए। गुप्तों ने देश में राजनैतिक एकता स्थापित की। जिससे चतुर्दिक प्रगति, नवचेतना और नवस्फूर्ति का संचार हुआ। गुप्तों के उदार सुशासन ने देश में सभी क्षेत्रों की प्रगति के द्वार खोल दिये थे। गुप्तों ने सभी धर्मों एवं समाजों के साथ समानता, समन्वय एवं सहिष्णुता का अद्भुत परिचय दिया था। इसी कारण सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक क्षेत्र में प्रगति के नवीन सोपानों का निर्माण गुप्तकाल में हुआ। साहित्य एवं कला की सृजनशीलता तो गुप्त शासकों का आश्रय पाकर अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच गयी थी। गुप्तकाल में सांस्कृतिक उत्थान की महान् उपलब्धियों ने गुप्तकाल को भारतीय इतिहास का 'स्वर्णकाल' बना दिया है।

3.2 उद्देश्य :

इस इकाई के अध्ययन के उद्देश्य निम्नलिखित हैं –

25. विद्यार्थी गुप्तकालीन संस्कृति को समझ सकेंगे।
26. विद्यार्थी गुप्तकालीन सामाजिक स्थिति को जान सकेंगे।
27. विद्यार्थी गुप्तकालीन आर्थिक स्थिति को समझेंगे।
28. विद्यार्थी गुप्तकालीन धार्मिक स्थिति को समझ सकेंगे।
29. विद्यार्थी गुप्तकालीन मूर्तिकला को समझ सकेंगे।
30. विद्यार्थी गुप्तकालीन मंदिर स्थापत्य कला को समझ सकेंगे।
31. विद्यार्थी ने गुप्तकालीन कला को समझ सकेंगे।
32. विद्यार्थी गुप्तकालीन भाषा, शिक्षा एवं साहित्य को जान सकेंगे।

3.3 सामाजिक स्थिति :

गुप्तकाल सामाजिक परिवर्तन का काल था। शुंग-सातवाहन काल में जिस 'वर्णाश्रम धर्म' का पुनरुत्थान हुआ था, वह गुप्तकाल में अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त कर चुका था। गुप्तकालीन सामाजिक जीवन अपनी प्राचीनता के साथ-साथ नवीन सामाजिक विचारों और पद्धतियों के साथ विकसित हुआ। गुप्तकाल तक आते – आते वर्ण व्यवस्था जन्म पर आधारित हो गयी थी। ब्राह्मण वर्णाश्रम व्यवस्था में सकारात्मक परिवर्तन भी गुप्तकाल में दिखने को मिलते हैं।

3.3.1 वर्ण व्यवस्था :

गुप्तकाल के सामाजिक पटल पर विविध परिवर्तन देखने को मिलते हैं। वर्ण व्यवस्था जन्म पर आधारित हो चुकी थी। साथ ही, वर्ण व्यवस्था में लोचता के अधिक प्रमाण मिलते हैं। गुप्तकालीन गौरव ग्रंथों में राजा को 'वर्णाश्रम धर्म' का संरक्षक कहा गया है और उससे आशा की गयी है कि, वह वर्णाश्रम धर्म की सीमाओं के उल्लंघन को रोके। समाज चार वर्णों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र में विभाजित था। गुप्तकाल में ब्राह्मणों के धर्म विहित वही कर्तव्य थे, जो परंपरागत चले आ रहे थे। अध्ययन – अध्यापन, धार्मिक – यज्ञानुष्ठान, दान लेना आदि थे। गुप्तकाल में अनेक ब्राह्मण उच्च प्रशासनिक पदों पर पदासीन थे। क्षत्रिय का कर्तव्य रक्षा – युद्ध, राजकाज से संबंधित था। वैश्य का कर्तव्य आर्थिक क्रियाकलापों कृषि, पशुपालन, व्यापार एवं वाणिज्य से संबंधित था। शूद्र का कर्तव्य समाज की सेवा करना था। किन्तु यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि, गुप्तकालीन वर्णाश्रम व्यवस्था में शूद्रों के जीवन में भारी सकारात्मक परिवर्तन दिखने को मिलते हैं।

फाह्यान से ज्ञात है कि, चारों वर्ण सामाजिक नियमों का पालन करते हुए अलग – अलग रहते थे। वाराहमिहिर ने 'बृहत्संहिता' में चारों वर्णों की अलग – अलग बस्तियों का विधान दिया है। दण्ड विधान में भी विभेद के प्रमाण मिलते हैं। ब्राह्मण की परीक्षा तुला से क्षत्रिय की अग्नि से वैश्य की जल से एवं शूद्र की

विष से लिये जाने की सलाह दी गयी है। नारद स्मृति की सलाह है कि, चोरी करने पर ब्राह्मण का अपराध सर्वाधिक तथा शूद्र का सबसे कम माना जाएगा। गुप्तकाल में शूद्रों को दण्ड विधान में भारी छूट मिली। उन्हें उच्च वर्णों की अपेक्षा सबसे कम दण्ड मिलता था। गुप्तकालीन दण्ड विधान का शूद्रों के लिए यह अभूतपूर्व परिवर्तन था। गुप्तकाल में शूद्रों के सम्पत्ति अधिकारों में भी वृद्धि हुई। शूद्रक ने मृच्छकटिक में लिखा है कि, ब्राह्मण और शूद्र एक ही कुएं से पानी भरते थे।

गुप्तकाल में जहाँ राजा को वर्णाश्रम धर्म की सीमाओं की सुरक्षा का दायित्व दिया गया था, वहीं सर्वाधिक वर्णाश्रम धर्म के उल्लंघन के प्रमाण गुप्तकाल में ही मिलते हैं। सर्वप्रथम तो गुप्त शासक ही संभवतः वैश्य थे। साथ ही, गुप्तकाल में ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य एवं शूद्र राजाओं का उल्लेख मिलता है। ब्राह्मण मयूरशर्मन एवं विंध्यशक्ति ने क्रमशः कदम्ब एवं वाकाटक राजवंशों की स्थापना की। सौराष्ट्र, अवन्ति, मालवा के 'शूद्र' राजाओं का उल्लेख मिलता है। हेनसांग भी सिंध एवं मतिपुर के शासकों को शूद्र बताता है। इस प्रकार गुप्तकाल में शूद्र प्रशासन एवं सैन्य व्यवस्था में क्रियाशील थे। वस्तुतः शूद्रों के जीवन में यह परिवर्तन उनकी सामाजिक स्वीकृति एवं उच्चता प्राप्ति का प्रतीक है। गुप्तकालीन ग्रंथों अमरकोष, याज्ञवल्क्य स्मृति, नृसिंह पुराण, बृहस्पति स्मृति आदि से पता चलता है कि, शूद्र केवल उच्च वर्णों की सेवक नहीं थे, अपितु शूद्र, कृषक, व्यापारी, शिल्पी, कामगारों आदि का कार्य करते थे। पुराणों ने भी शूद्रों को व्यापार एवं वाणिज्य की अनुमति दी है। गुप्तकाल में आर्थिक प्रगति होने से श्रमिकों की मजदूरी दुगनी होने के भी प्रमाण मिलते हैं। गुप्तकाल में शूद्रों के धार्मिक अधिकारों में भी वृद्धि हुई। गुप्तकालीन ग्रंथों में दान-पुण्य, भक्ति और यज्ञादि करते शूद्रों का उल्लेख है। मार्कण्डेय पुराण शूद्रों को दान देने और यज्ञ करने की अनुमति देते हुए इसे शूद्रों का कर्तव्य बताता है। मत्स्य पुराण भक्ति में मग्न, शुद्धाचरण युक्त शूद्र को 'मोक्ष' का भागी बताता है। याज्ञवल्क्य शूद्रों को 'पंचमहायज्ञ' करने की अनुमति देता है। इससे स्पष्ट है कि, शूद्र धर्म-कर्म में लीन रहते होंगे और धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन भी करते होंगे। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि, खानपान छुआ-छूत आदि की भावना गुप्तकाल में नहीं रही होगी। गुप्तकाल में शूद्रों का सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं धार्मिक विकास हुआ और इससे उनका निश्चित रूप से सांस्कृतिक उत्थान हुआ होगा।

गुप्तकाल के सामाजिक पटल पर कायस्थ नामक एक नवीन वर्ग प्रगट हुआ। जिसकी उत्पत्ति भूमि संबंधी राजस्व क्रियाकलापों से हुई। कायस्थों का प्रमुख कार्य लेखन, लेखाकरण, गणना, आय-व्यय, भूमिकर संग्रहण आदि थे। कायस्थ प्रमुखतः शासन की सेवा में रहते थे। याज्ञवल्क्य स्मृति में सर्वप्रथम 'कायस्थ वर्ग' का उल्लेख हुआ है। कालान्तर में गुप्तकाल के बाद की 'ओशनम् स्मृति' में कायस्थों का एक जाति के रूप में उल्लेख मिलता है। गुप्तकालीन समाज में वर्ण संकर जातियों का भी उल्लेख मिलता है। अमरकोष, याज्ञवल्क्य स्मृति, गौतम स्मृति आदि गुप्तकालीन ग्रंथों में मिश्रित जातियों एवं वर्णसंकर जातियों का उल्लेख मिलता है। इनका उदय अनुलोम-प्रतिलोम विवाहों और सामाजिक एवं धार्मिक नियमों के उल्लंघन से हुआ था। गुप्तकाल में चाण्डालों का उल्लेख अस्पृश्य जाति के रूप में हुआ है। फाह्यान ने चाण्डालों के अधम कार्यों में संलग्न रहने और ग्रामों से बाहर पृथक बस्ती में रहने का विवरण दिया है।

3.3.2 स्त्रियों की स्थिति :

गुप्तकालीन साहित्य व कला में स्त्रियों की आदर्शमय स्थिति का चित्रण मिलता है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि, स्त्रियों की स्थिति संतोषजनक रही होगी। गुप्त युग में रानी के रूप में नारी की

प्रधान स्थिति थी, वह कई स्थानों पर शासन संचालिका तथा प्रांतीय शासिका रही एवं उच्च वर्गों की लड़कियां उदार शिक्षा पाती थीं और उस युग के सांस्कृतिक कार्यों में खूब दिलचस्पी लेती थी। कुमारसंभव में कन्या को कुल का 'प्राण' कहा गया है। रघुवंश को 'स्त्री रत्न' एवं मालविकाग्निमित्र में 'वीरप्रसगिनी' कहा गया है। 'रघुवंश' एवं 'स्वप्नवासवदत्तम' में नायक अपनी पत्नी को प्रिये, सखी, सचिव, शिष्या कहता हैं, राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में लिखा है कि, स्त्रियाँ भी कवयित्री होती थी। 'अभिज्ञान शाकुन्तलम' में अनुसूया को 'इतिहास' का ज्ञाता कहा गया है। भवभूति, 'मालती-माधव' में माधवी को चित्र अंकित करते एवं संस्कृत समझने योग्य बताता है। अमरकोष स्त्रियों को शिक्षिका होना बताता है। कालीदास नारी साज सज्जा एवं प्रसाधनों पर विशेष जानकारी मिलती है। अजंता के भित्ति चित्रों से नारी केश सज्जा की विविध कलाओं का ज्ञान होता है। गुप्तकालीन समाज में गणिकाओं और देवदासियों के भी उल्लेख मिलते हैं।

इस काल में 'सती प्रथा' के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। कालीदास एवं वात्स्यायन ने 'सती प्रथा' का उल्लेख किया है। गुप्तकालीन स्मृतिकारों वृहस्पति स्मृति एवं विष्णुस्मृति में सती होने की अनुमति दी गयी है। इस काल में सती प्रथा का प्रथम अभिलेखीय स्पष्ट उल्लेख मिलता है। 510 ई. के भानुगुप्त के एरण अभिलेख में गोपराज की पत्नी के सती होने का उल्लेख मिलता है। फाह्यान, ह्येनसांग के विवरणों एवं अजंता-एलोरा के चित्रों से स्पष्ट है कि, समाज में पर्दा-प्रथा नहीं थी।

गुप्तकालीन समाज में पुनर्विवाह, पर्दा प्रथा, बाल-विवाह, अंतर-जातीय, अनुलोम-प्रतिलोम विवाह प्रचलित थे। समाज में एक पत्नी विवाह आदर्श माना जाता था। हालाँकि शासक वर्ग में बहुपत्नी प्रथा प्रचलित थी। गुप्तकालीन समाज में विधवा-विवाह प्रचलित था। नारद एवं पराशर स्मृति में विधवा-विवाह के समर्थन में उल्लेख मिलता है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपने बड़े भाई रामगुप्त की विधवा पत्नी ध्रुवदेवी से विवाह किया था। अंतर-जातीय एवं अनुलोम-प्रतिलोम विवाह के उल्लेख राजवंशों के आपसी विवाहों में मिलते हैं। चन्द्रगुप्त ने अपनी पुत्री प्रभावती गुप्त की शादी ब्राह्मण वंशीय वाकाटक राजवंश के राजकुमार रुद्रसेन द्वितीय से किया था। चन्द्रगुप्त का विवाह नागवंशीय कुबेरनागा से हुआ था। ब्राह्मण वंशीय कदम्ब राजवंश ने गुप्त राजकुमार से अपनी पुत्री का विवाह किया था। अतः स्पष्ट है कि, स्त्रियाँ शिक्षित होती थी तथा उनकी स्थिति अच्छी थी।

3.3.3 मनोरंजन के साधन :

गुप्तकालीन समाज में दैनिक जीवन को आनंदित एवं प्रफुल्लित रखने के लिए मनोरंजन के अनेक साधन विद्यमान थे। नृत्य – संगीत, नाटक, मल्ल युद्ध, घुड़दौड़, रथदौड़, साँड युद्ध, शिकार खेलना आदि का मनोरंजन के साधन के रूप में विवरण मिलता है। गुप्तकाल में द्युत क्रीड़ा एवं चौपड़ का खेल मनोरंजन का प्रमुख साधन था। पानगोष्ठियों में सामूहिक सुरापान करने के उल्लेख मिलते हैं। जल क्रीड़ा एवं नौका विहार, पशु-पक्षियों का युद्ध आदि मनोरंजन के साधन थे। राज्य शासन के ओर वार्षिक महोत्सवों 'शरद पूर्णिमा' को 'कौमुदी महोत्सव' तथा चैत्र की पूर्णिमा को 'वसंतोत्सव' मनाया जाता था। गुप्तकाल में नाटकों का मंचन भी मनोरंजन का साधन था। फाह्यान पाटलिपुत्र में वार्षिक 'रथयात्रा' उत्सव का उल्लेख करता है।

3.3.4 दास प्रथा :

दास प्रथा, प्राचीन भारतीय समाज की वास्तविकता थी। गुप्तकाल में भी दास प्रथा विद्यमान थी, हालांकि गुप्तकाल में दास प्रथा में सकारात्मक परिवर्तन आया। गुप्तकालीन स्मृति ग्रंथों से दास प्रथा के बारे में व्यापक सूचना मिलती है। कात्यायन, नारद, याज्ञवल्क्य स्मृति में नीचे की जाति का दास होना बताया गया है, अर्थात् स्वामी उच्च जाति का होना चाहिए। हालांकि, दास किसी को भी बनाया जा सकता था। गुप्तकाल में दास एवं दासियों के विदेशों से आयात करने के भी प्रमाण मिलते हैं। दासों को कृषि कार्य, घरेलू कार्य एवं अधम कार्य में लगाया जाता था। स्त्री दासियों के भी प्रमाण गुप्तकाल में मिलते हैं। स्त्री दासियों को घरेलू कार्य के साथ ही, भोग-विलास में संलग्न रखा जाता था। यदि कोई दासी अपने स्वामी के पुत्र को जन्म देती थी, तो उसे दासता से मुक्ति मिल जाती थी। गुप्तकालीन स्मृतिकार नारद ने 15 प्रकार के दासों का उल्लेख किया है। सर्वप्रथम गुप्तकालीन स्मृतिकार नारद ने ही दासता से मुक्ति के अनुष्ठान का विधान दिया है। गुप्तकाल में दास प्रथा कमजोर पड़ी। डॉ० रामशरण शर्मा की मान्यता है कि, भूमि संबंधों के कारण गुप्तकाल में दास प्रथा में शिथिलता आयी।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न :

(प) निम्नलिखित वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर दीजिए:

1. ब्राह्मण और शूद्र एक ही कुएं से पानी भरते हैं किसका कथन है ?

(क) याज्ञवल्क्य (ख) शूद्रक

(ग) वाराहमिहिर (घ) इनमें से कोई नहीं

9. अवन्ति का शासक कौन था?

(क) ब्राह्मण (ख) वैश्य

(ग) क्षत्रिय (घ) शूद्र

3. कदंब वंश के शासक किस वर्ण के थे?

(क) ब्राह्मण (ख) वैश्य

(ग) क्षत्रिय (घ) शूद्र

4. कायस्थ वर्ग का सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है ?

(क) याज्ञवल्क्य स्मृति (ख) नारद स्मृति

(ग) वृहस्पति स्मृति (घ) इनमें से कोई नहीं

5. गुप्तकालीन न्याय व्यवस्था का सर्वाधिक लाभ मिला ?

(क) ब्राह्मण (ख) क्षत्रिय

(ग) वैश्य

(घ) शूद्र

(पप) निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:

1. (क) गुप्तकाल में शूद्रों की स्थिति।

(ख) गुप्तकाल में स्त्रियों की स्थिति।

2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:

(अ) गुप्तकालीन वर्ण व्यवस्था का विवरण दीजिये ?

3.4 आर्थिक स्थिति :

गुप्तकाल का आर्थिक जन जीवन उन्नतिशील एवं समृद्ध था। गुप्तकालीन राजनैतिक स्थिरता एवं प्रशासनिक सुव्यवस्था ने आर्थिक प्रणालियों के विकास के मार्ग प्रशस्त किये। कृषि, पशुपालन, लघु उद्योग, विविध व्यवसायों, व्यापार एवं वाणिज्य आदि सभी आर्थिक क्षेत्रों में प्रगति होने से तत्कालीन आर्थिक जन जीवन समृद्धि के नवीन क्षितिजों को स्पर्श कर रहा था।

3.4.1 कृषि :

कृषि गुप्तकालीन अर्थव्यवस्था की रीढ़ थी। अधिकांश जनता कृषि पर निर्भर थी। गुप्तकाल में जौ, गेहूँ, चावल, दाले, तिल, सरसों, अदरक, सब्जियाँ, गन्ना आदि का उल्लेख गुप्तकालीन ग्रंथों में मिलता है। वाराहमिहिर ने वृहत्संहिता में रबी, खरीफ एवं तीसरी साधारण फसल के उत्पन्न होने का उल्लेख मिलता है। वाराहमिहिर ने वृहत्संहिता में आम, केला, नारियल, कटहल आदि अनेक फलों की खेती का विवरण दिया है। गुप्तकालीन ग्रंथों से काली मिर्च, इलायची लौंग, चंदन, कपूर आदि कृषि का उल्लेख भी मिलता है। कृषि बैलों और हल से की जाती थी। कृषि के पशुपालन भी गुप्तकाल के कृषक की आजीविका का प्रमुख साधन था। गुप्तकाल में कृषि की अवस्था अच्छी थी। कृषि उत्पादन मांग से अधिक उत्पन्न होता था। गुप्तकाल में राजा भूमि का स्वामी होता था। कृषि उत्पादन का 1/6 से लेकर 1/4 भाग तक कर लिया जाता था। कृषि उत्पादन कर को 'भाग' कहा जाता था। भाग, भोग, उद्रंग, उपरिकर आदि कृषिकरों का उल्लेख मिलता है। कृषक, नगद एवं अन्न दोनों रूपों में कर देने के लिए स्वतंत्र थे। गुप्तकाल में कर प्रशासन का ठोस ढाँचा स्थापित था। 'ध्रुवाधिकरण' भूमिकर संग्रह करता था तथा 'महाक्षपटलिक' एवं 'करणिक' नामक पदाधिकारी भूमि अभिलेखों को सुरक्षित रखते थे। भूमि संबंधी विवादों को सुलझाने के लिए 'न्यायाधिकरण' नामक पदाधिकारी की नियुक्ति की गयी थी। गुप्तकाल में भूमि माप से संबंधित निवर्तन, पाटक, नड, कुल्यावाप, द्रोणवाप, आढवाप आदि ईकाईयों का उल्लेख मिलता है। राज्य कृषि सिंचाई की ओर ध्यान देता था। स्कंदगुप्त के जूनागढ़ अभिलेख से सुदर्शन झील के जीर्णोद्धार का उल्लेख मिलता है। यह सिंचाई की ओर राज्य की प्रतिबद्धता का प्रमाण है। गुप्तकालीन ग्रंथों में सिंचाई के साधनों के रूप में अरघट्ट (रहट) का उल्लेख मिलता है। वाराहमिहिर की वृहत्संहिता में मौसम एवं वर्षा की भविष्यवाणियों का उल्लेख मिलता है। सिंचाई वर्षा, तालाब, कुआ, नदियों, झीलों आदि से होती थी।

3.4.2 उद्योग-धंधे, व्यापार एवं वाणिज्य :

गुप्तकाल में उद्योग धंधे, व्यापार एवं वाणिज्य उन्नत अवस्था थी। सुदृढ़ प्रशासनिक व्यवस्था एवं विकसित मुद्रा प्रणाली ने आर्थिक प्रगति को आधारभूत पृष्ठभूमि प्रदान की। गुप्तकालीन प्रशासन ने सुसंगठित व्यापारिक संघों एवं श्रेणियों की स्थापना को अपना प्रगतिशील समर्थन एवं सहयोग दिया। गुप्तकाल में प्रमुख व्यापारिक नगरों को सड़कों से जोड़ दिया गया था तथा उनकी सुरक्षा का पूरा प्रबंध किया गया था। इससे आंतरिक एवं बाह्य व्यापार को सुदृढ़ता मिली। गुप्तकालीन गौरव ग्रंथों में अनेक प्रकार के व्यवसायों का उल्लेख मिलता है। वस्त्र व्यवसाय, वस्त्र रंगने का व्यवसाय, हाथी दाँत से बनी वस्तुओं के व्यवसाय, शिक्षण एवं सैन्य व्यवसाय, उद्यान कार्य, शिकार, नृत्य एवं गायन व्यवसाय, विविध धातुओं का व्यवसाय, पाषाण कला व्यवसाय, विविध शिल्प कार्यों के व्यवसाय, मूर्तिकारी एवं चित्रकारी, काष्ठकला, जहाज निर्माण, समुद्र से मोती निकालना आदि अनेक प्रकार के उद्योग धंधे एवं व्यवसाय गुप्तकालीन आर्थिक जीवन को समृद्ध बना रहे थे। गुप्तकाल में आभूषण निर्माण कला बहुत विकसित अवस्था में थी। बृहत्संहिता में चौबीस प्रकार के आभूषणों का उल्लेख मिलता है। गुप्तकाल में 'रत्नपरीक्षा' विज्ञान का जन्म हुआ। जिससे जौहरी विविध रत्नों के परीक्षण में निपुण हो गये थे।

गुप्तकाल में व्यापार एवं वाणिज्य जल-थल दोनों मार्गों से होता था। गुप्तकाल में जहाज निर्माण उद्योग ने अभूतपूर्व प्रगति की थी। गुप्तकालीन व्यापार एवं वाणिज्य के विशेष क्षेत्र में समुद्री तटवर्ती पाँच 'वणिक या विपणि नगरों' (डंतामज ज्वूदे) एवं बंदरगाहों का उल्लेख मालावार क्षेत्र से मिलता है। पूर्वी समुद्रतट पर ताम्रलिपि को गोद आदि बंदरगाहों से व्यापार होता था। विदेशी व्यापार चीन, लंका, कंबोडिया, जावा, वर्मा, सुमात्रा, बोर्नियों रोमन, साम्राज्य अरब एवं फारस आदि देशों के साथ होता था। गुप्तकालीन व्यापार के बारे में प्रसिद्ध इतिहासविद् आनन्द कुमारस्वामी ने लिखा है कि, भारतवासियों ने पेगु, कंबोडिया, जावा, सुमात्रा, बोर्नियों आदि अनेक देशों में उपनिवेशों की स्थापना की थी तथा चीन, अरब और फोरस में व्यापारिक संस्थानों की स्थापना कर महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था। गुप्तकाल में सिंहल द्वीप बिचौलिए का कार्य करता था। चीनी यात्री फाह्यान, ह्वेनसांग एवं इत्सिंग भारत और चीन के मध्य व्यापारिक संबंधों का उल्लेख करते हैं। गुप्तकाल में सामान्य लेन-देन कौड़ियों में होता था। गुप्तकाल में केसर, चंदन, सुगंधित लकड़ियाँ, चंदन की मूर्तियाँ, कस्तूरी, हाथी दाँत की वस्तुएँ, विविध मसलों, सुगंधित द्रव्य, नारियल, नील, आयुर्वेदिक औषधियाँ, विविध प्रकार के वस्त्र, बहुमूल्य पत्थर आदि अनेक प्रकार की वस्तुओं का निर्यात किया जाता था। विदेशों से रेशम एवं रेशमी वस्त्र, हाथी दाँत, घोड़े, विविध प्रकार की शराब, टिन, शीशा, मूंगा, कांच सिंदूर, चाँदी के बर्तन, दास एवं दासियाँ आदि का आयात किया जाता था।

3.4.3 श्रेणी :

गुप्तकालीन अर्थव्यवस्था के आर्थिक प्रबंधन में व्यावसायिक संगठनों के 'रूप में श्रेणियों' की महत्वपूर्ण भूमिका थी। श्रेणियाँ एक ही व्यवसाय या विविध प्रकार के व्यवसाय करने वालों का व्यावसायिक या व्यापारिक संगठन होता था। डॉ० आर० सी० मजूमदार का मानना है कि, 'श्रेणी एक ही अथवा अलग-अलग जातियों के किन्तु एक ही व्यापार अथवा उद्योग में प्रवृत्त लोगों का संगठन है।' प्राचीन साहित्य में व्यावसायिक संगठनों या व्यापारियों की संस्थाओं को कुल, पूग, निकाय, जाति, ब्रात, संघ समुदय, समूह, संभूय-समुत्थान, परिषत्, वर्ग, गण, सार्थ, निगम, श्रेणी आदि कहा गया है। नारद ने व्यवसायियों की सहकारी संस्था को 'श्रेणी' कहा है। पाणिनी, याज्ञवल्क्य, मिताक्षरा, वीरमित्रोदय ने भी 'पूग' का उल्लेख किया है। कात्यायन ने वणिकों के समूह को 'पूग' कहा है। गुप्तकाल में व्यापारियों सुसंगठित संगठन श्रेणियों को बहुत अधिक स्वतंत्रता प्राप्त थी। शासन ने इनके आंतरिक मामलों में इन्हें पहले से अधिक

स्वतंत्रता प्रदान की थी। गुप्तकाल में श्रेणियों के अपने विशिष्ट चिन्ह, मुद्रायें और ध्वज भी होते थे। वस्तुतः गुप्तकाल में श्रेणियों ने आर्थिक प्रबंधन में अभूतपूर्व योगदान प्रदान किया था। गुप्तकाल में

श्रेणियाँ अपनी मुद्राएँ चलाती, बैंक के रूप में काम करती, ऋण देते एवं समाज में अन्य सभी आर्थिक गतिविधियों का संचालन करती थी। तक्षशिला, वाराणसी, सारनाथ, नालन्दा, कौशाम्बी, वैशाली आदि अनेक स्थानों से श्रेणियों की मुद्राएँ मिली हैं। इससे स्पष्ट है कि श्रेणियों ने मुद्रा अर्थव्यवस्था के विकास में महत्वपूर्ण योगदान प्रदान किया था। प्रत्येक श्रेणि के पास अपनी अलग मुहर होती थी। वैशाली से एक संयुक्त श्रेणि की 274 मुद्राएँ मिली हैं। डॉ० ब्लाख, जिन्हें वैशाली से मिट्टी की मुहरें मिली थी, का कहना है कि, 'आधुनिक चैम्बर ऑफ कॉमर्स' की भाँति कोई संस्था उत्तर भारत के किसी बड़े व्यापारिक केन्द्र संभवतः पाटलिपुत्र में भी रही होगी। श्रेणियों के महाजन, वित्त प्रबंधक तथा न्यासधारी के रूप में कार्य करने के प्रमाण मिलते हैं। 'कुभारसम्भव' और 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में भी श्रेणियों, निगमों की बैंक-प्रणाली का संदर्भ मिलता है। इन श्रेणियों के पास सामान्य जन अपनी बहुमूल्य वस्तुओं को निक्षेप के रूप में जमा करते थे, यहां तक कि स्वयं राजा और राजपुरुष भी अपनी संपत्ति को धरोहर के रूप में रखने में संकोच नहीं करते थे। गढ़वा अभिलेख में उल्लेखित है कि, गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने श्रेणियों के पास धर्म कार्य के लिए धन जमा करवाया था। राज्य ने श्रेणियों को आवश्यक कानूनी संरक्षण भी प्रदान किया हुआ था। श्रेणियों के साथ किसी भी धोखा-धड़ी पर कठोर दण्ड का प्रावधान राज्य ने किया था। याज्ञवल्क्य स्मृति एवं विष्णु पुराण में श्रेणियों के साथ बेईमानी करने वालों को कठोर दण्ड देने की व्यवस्था मिलती है।

श्रेणियों को वैधानिक एवं न्यायिक अधिकार प्राप्त थे, जिन्हें शासन से मान्यता प्राप्त थी। श्रेणी, सदस्यों के व्यवहार को न्यायाधिकरण के माध्यम से नियंत्रित करता था। गौतम ने भी श्रेणियों के आचार-विचार और रीति-रिवाजों पर उनके विधान का समर्थन किया है। नारद ने श्रेणी न्यायालय को चार सामान्य न्यायालयों में दूसरा स्थान दिया है। श्रेणियों ने अपनी सुरक्षा करने के लिए निजी सेना का गठन भी कर रखा था, जिन्हें राजकीय मान्यता भी प्राप्त थी। आपत्तिकाल में इनकी सेनाएँ राजा को भी सैन्य-सहयोग प्रदान करती थी। वृहस्पति एवं याज्ञवल्क्य ने भी श्रेणियों की सैन्य शक्ति का वर्णन किया है। मंदसौर अभिलेख में रेशम बुननेवाली श्रेणी के लोगों का धनुर्विद्या में पारंगत अच्छे योद्धा के रूप में वर्णन है। श्रेणियों ने समाज में अनेक जनकल्याणकारी कार्य करके अपने सामाजिक दायित्वों का निर्वहन भी किया। विश्रामगृह, पंथशाला, सभागृह आदि विभिन्न प्रकार के जन-कल्याणकारी कार्य श्रेणी संगठनों द्वारा देश के विभिन्न स्थानों पर संपन्न कराए जाते थे। इनके द्वारा दीन-दुखियों और निर्धनों को सहायता भी प्रदान की जाती थी। दुर्भिक्ष में पीड़ितों की रक्षा करना भी इनका कर्तव्य था। श्रेणियों द्वारा जनकल्याण किये जाने के अनेक अभिलेखीय प्रमाण मिलते हैं। श्रेणियों ने अनेक मंदिर और देवताओं की प्रतिमाएँ धार्मिक दान द्वारा निर्मित करवायीं थी। मन्दसौर अभिलेख में वर्णित है कि, रेशम के व्यापारियों ने सूर्य का एक भय मंदिर बनवाया तथा बाद में जीर्ण-शीर्ण होने पर उसी श्रेणी ने उसकी मरम्मत भी कराई थी।

3.4.4 मुद्रा :

गुप्त साम्राज्य के समय टोस मुद्रा प्रणाली की स्थापित थी। इस विकसित मुद्रा प्रणाली ने आर्थिक प्रगति को आधारभूत पृष्ठभूमि प्रदान की थी। मुद्रा व्यवस्था को साम्राज्य में सुचारु रूप से संचालित होते रहने के लिए मुद्रा एवं टकसाल विभाग के साथ ही, सक्षम प्रशासनिक अधिकारियों की व्यवस्था रही होगी।

गुप्त साम्राज्य में सोने, चाँदी एवं तौंबे की मुद्राएँ चलती थी। गुप्त साम्राज्य की स्वर्ण मुद्रा 'दीनार' कहलाती थी। भारतीय इतिहास में सर्वाधिक स्वर्ण मुद्राएँ गुप्त शासकों ने ही जारी करवायी। चाँदी की मुद्राओं को

'रूप्यरूप या रूपक' कहा जाता था। गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने सर्वप्रथम शकों पर विजय के उपलक्ष्य में चाँदी की मुद्राएँ जारी करवायी थी। गुप्तकाल में सामान्य लेनदेन 'कौड़ियों' में होता था। यह संभवतः मुद्रा की कोई छोटी ईकाई रही होगी।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न :

(प) निम्नलिखित वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर दीजिए:

1. गुप्तकाल में भूमि कर संग्रह करने वाले अधिकारी का नाम था ?
(क) ध्रुवाधिकरण (ख) न्यायाधिकरण
(ग) समाहर्ता (घ) इनमें से कोई नहीं
2. गुप्तकाल में सामान्य लेनदेन होता था?
(क) दीनार में (ख) कार्षापण में
(ग) कौड़ियों में (घ) इनमें से कोई नहीं
3. गुप्तकालीन स्वर्ण मुद्रा थी ?
(क) दीनार (ख) कार्षापण
(ग) कौड़ियाँ (घ) इनमें से कोई नहीं
4. गुप्तकालीन सर्वाधिक उन्नत व्यवसाय था?
(क) वस्त्रों का (ख) घोड़ों का
(ग) हाथीदाँत का (घ) इनमें से कोई नहीं
5. वर्षा की भविष्यवाणी किसने अपनी पुस्तक में की है ?
(क) याज्ञवल्क्य (ख) शूद्रक
(ग) वाराहमिहिर (घ) इनमें से कोई नहीं

(पप) निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:

1. (क) श्रेणी ।
(ख) मुद्रा ।

2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:

(अ) गुप्तकालीन कृषि का विवरण दीजिये ?

3.5 धार्मिक दशा :

धार्मिक सहिष्णुता, समन्वय एवं विविध धार्मिक सम्प्रदायों के विकास की उत्तम पृष्ठभूमि गुप्तकाल की धार्मिक विशेषता है। शुंग-सातवाहन काल में जिस वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ था, वह गुप्तकाल में अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त कर चुका था। गुप्तकालीन वैदिक धर्म अपनी प्राचीनता के साथ-साथ नवीन धार्मिक विचारों और पद्धतियों के साथ विकसित हुआ। गुप्तकाल में वैदिक धर्म के साथ ही वैष्णव धर्म एवं शैव धर्म का उत्थान हुआ। बौद्ध धर्म एवं जैन धर्मों के साथ ही अन्य धार्मिक सम्प्रदाय भी गुप्तकाल में फलीभूत होते रहे।

3.5.1 वैदिक धर्म :

गुप्तकाल में वैदिक धर्म अपने विकास की पराकाष्ठा को प्राप्त कर चुका था। गुप्तकालीन शासकों ने वैदिक धर्म एवं उससे संबंधित धार्मिक क्रियाकलापों और याज्ञिक कर्मकाण्डों को अपना संरक्षण प्रदान किया था। वैदिक धर्म के देवी – देवताओं की उपासना एवं उनसे संबंधित धर्म – कर्म, अनुष्ठान सम्पूर्ण गुप्त शासनकाल में दृढ़ता के साथ किये जाते थे। गुप्त शासकों ने वैदिक धर्म के अश्वमेध यज्ञ, अग्निष्टोम यज्ञ, वाजसनेयी यज्ञ, वाजपेय यज्ञ आदि यज्ञों को किया। गुप्तकाल में सूर्य-पूजा के भी उल्लेख मिलते हैं। मन्दसौर शिलालेख एवं इन्दौर ताम्रलेख में सूर्य की उपासना के प्रमाण मिलते हैं। गुप्तकाल में सूर्य मंदिरों के निर्माण के भी प्रमाण मिलते हैं।

3.5.1.1 वैष्णव धर्म :

वैष्णव धर्म, वैदिक धर्म का ही एक अंग था। गुप्त शासक वैष्णव धर्म के अनुयायी थे। गुप्त शासकों ने वैष्णव धर्म को राजकीय संरक्षण प्रदान किया तथा वैष्णव धर्म को राजकीय धर्म स्वीकारा और स्वयं को 'परम भागवत' की उपाधि से विभूषित किया। गुप्त साम्राज्य का राजकीय चिन्ह भी विष्णु भगवान का वाहन 'गरुड़' था। गुप्त शासकों के सिक्कों पर लक्ष्मी जी एवं गरुड़ का अंकन मिलता है। गुप्त शासक स्कंदगुप्त का जूनागढ़ एवं बुद्धगुप्त का एरण अभिलेख 'विष्णु' की स्तुति से प्रारंभ होते हैं। स्कंदगुप्त के जूनागढ़ अभिलेख, उदयगिरि गुहा अभिलेख एवं बुद्धगुप्त कालीन दामोदरपुर अभिलेख में विष्णु के 'वराह अवतार' का उल्लेख है। गुप्तकाल में विष्णु के चार अवतारों— वराह, नृसिंह, वामन और कृष्ण की मूर्तियाँ मिली हैं। विष्णु का 'वराह अवतार' गुप्तकाल का सर्वाधिक लोकप्रिय अवतार था। गुप्त शासकों ने विष्णु भगवान में श्रद्धा प्रगट करते हुए अनेक मंदिर और मूर्तियों का निर्माण करवाया। देवगढ़ का दशावतार मंदिर वैष्णव धर्म के मंदिरों का सर्वोत्तम उदाहरण है।

वस्तुतः भगवान विष्णु को अपना आराध्य देवता मानने वाले अनुयायियों को 'वैष्णव' कहा जाता था। वैष्णव धर्म प्रथमतः भागवत धर्म के रूप में देवकी पुत्र भगवान वासुदेव कृष्ण की उपासना के साथ लगभग छठी शताब्दी ई० पू० से पहले प्रचलन में आया था। वासुदेव की पूजा का सर्वप्रथम उल्लेख भक्ति के रूप में पाणिनी की अष्टाध्यायी में ई० पू० पाँचवी शताब्दी में मिलता है। छान्दोग्य उपनिषद में श्रीकृष्ण का सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है। भागवत धर्म भक्ति और अवतारवाद को सर्वाधिक मानता है। वैष्णव धर्म में विष्णु के 24

अवतारों का उल्लेख मिलता है, किन्तु अधिकांशतः दशावतारों की ही प्रसिद्धि थी। वासुदेव कृष्ण, विष्णु, नारायण आदि नामों से विष्णु का पूजन किया जाता था।

3.5.1.2 शैव धर्म :

गुप्त शासक वैष्णव धर्म के अनुयायी होने के साथ ही, शिव के भी उपासक थे। गुप्त शासकों ने शिव में अपनी आस्था प्रगट करते हुए अनेक मंदिर और मूर्तियों का निर्माण करवाया। वस्तुतः भगवान शिव को अपना आराध्य देवता मानने वाले अनुयायियों को 'शैव' कहा जाता था। गुप्त काल में शैव धर्म भी अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थिति में था। गुप्त शासकों ने शिव में अपनी आस्था प्रगट करते हुए अपने राजकुमारों का नामकरण शैव धर्म की विचारधारा पर किया था, जिनमें से कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त के नाम शिव के पुत्र कार्तिकेय के नाम पर आधारित थे, जो बाद में गुप्त साम्राट बने। शैव धर्म में अपनी आस्था प्रगट करते हुए गुप्त साम्राट कुमारगुप्त ने मयूर की आकृति वाले सिक्के तथा स्कन्दगुप्त ने बृषभ की आकृति वाले सिक्के चलवाए। शैव धर्म में अपनी आस्था प्रगट करते हुए गुप्त साम्राटों नचना – कुठारा का पार्वती मंदिर, भूमरा का शिव मंदिर के साथ ही अनेक मंदिरों की दीवारों पर शैव धर्म से संबंधित मूर्तियों का अंकन करवाया। गुप्तकाल में शैव धर्म का विकासात्मक रूप उभरकर सामने आया। शिव और शक्ति में अभिन्नता प्रगट करते हुए शिव और शक्ति (पार्वती) की संयुक्त मूर्तियाँ बनाई जाने लगी। जिन्हें 'अर्धनारीश्वर' की संज्ञा दी गयी। सर्वप्रथम गुप्तकाल में ही 'अर्धनारीश्वर' की मूर्तियाँ बनीं थी। गुप्तकाल में ही सर्वप्रथम वैष्णव धर्म एवं शैव धर्म में एकता स्थापित करते हुए शिव और विष्णु को संयुक्त रूप में 'हरिहर' कहा गया। गुप्त काल में ही सर्वप्रथम त्रिमूर्ति के रूप में ब्रह्मा, विष्णु और महेश की विचारधारा स्थापित हुई और त्रिमूर्ति के रूप में ब्रह्मा, विष्णु और महेश की पूजा प्रारम्भ हुई। इस प्रकार गुप्तकाल विविध धार्मिक संप्रदायों के मध्य समन्वय का काल भी था।

3.5.2 बौद्ध धर्म :

गुप्तकाल में बौद्ध धर्म उन्नत अवस्था में था। समाज का बहुत बड़ा वर्ग बौद्ध धर्म का अनुयायी था। बौद्ध धर्म के प्रति गुप्त शासकों का व्यवहार सकारात्मक था। समुद्रगुप्त के समय श्रीलंका के शासक मेघवर्मन ने बोधगया में बौद्ध यात्रियों के लिए विहार बनवाया गया था। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय आये चीनी यात्री फाह्यान ने लिखा है कि, कश्मीर, अफगानिस्तान और पंजाब बौद्ध धर्म के केन्द्र थे। गुप्तकाल में पाटिलपुत्र, मथुरा, कौशाम्बी और सारनाथ भी बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध केन्द्र थे। गुप्त साम्राट कुमारगुप्त ने नालन्दा में प्रसिद्ध बौद्ध विहार का निर्माण करवाया था। गुप्त प्रशासन में अनेक बौद्ध उच्च पदों पर पदासीन थे। गुप्तकाल में अनेक प्रसिद्ध बौद्ध आचार्यों का उल्लेख मिलता है। जिनमें आर्यदेव, असंग, वसुबंधु और मैत्रेयनाथ आदि प्रमुख थे। बौद्ध धर्म के केन्द्र के रूप में साँची की महत्ता गुप्तकाल में भी बनी हुई थी। इस प्रकार बौद्ध धर्म गुप्तकाल में फलता – फूलता रहा।

3.5.3 जैन धर्म :

गुप्तकाल में जैन धर्म उन्नत अवस्था में था। समाज का मध्यम एवं व्यापारी वर्ग जैन धर्म का अनुयायी था। जैन धर्म के प्रति भी गुप्त शासकों का व्यवहार सकारात्मक था। गुप्तकाल में दक्षिण भारत में कदंब और गंग राजाओं ने जैन धर्म को राजकीय संरक्षण प्रदान किया। गुप्तकाल में मथुरा और बल्लभी श्वेताम्बर जैन धर्म के केन्द्र थे, जबकि बंगाल में पुण्ड्रवर्धन दिगम्बर सम्प्रदाय का केन्द्र था। गुप्त साम्राट कुमारगुप्त प्रथम के

उदयगिरि अभिलेख एवं मथुरा के एक अभिलेख से जैन मंदिर और मूर्तियों के निर्माण के उल्लेख मिलते हैं। गुप्त साम्राट् स्कन्दगुप्त के शासनकाल के कहौम अभिलेख से जैन तीर्थकरों की मूर्तियों के निर्माण का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार जैन धर्म गुप्तकाल में भी फलता – फूलता रहा।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न :

(प) निम्नलिखित वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर दीजिए:

1. गुप्तकाल में किस धर्म को राजकीय संरक्षण प्राप्त था ?
(क) वैष्णव धर्म (ख) बौद्ध धर्म
(ग) जैन धर्म (घ) इनमें से कोई नहीं
2. गुप्त शासकों का राजकीय चिन्ह था?
(क) घोड़ा (ख) मयूर
(ग) गरुड़ (घ) इनमें से कोई नहीं
3. गुप्तकाल का सर्वाधिक प्रसिद्ध अवतार था ?
(क) वाराह (ख) वामन
(ग) कृष्ण (घ) इनमें से कोई नहीं
4. अर्धनारीश्वर स्वरूप किसका है ?
(क) कृष्ण (ख) विष्णु
(ग) शिव (घ) इनमें से कोई नहीं
5. गुप्तकाल में कौनसा चीनी बौद्ध भिक्षु आया था ?
(क) तारानाथ (ख) फाह्यान
(ग) इत्सिंग (घ) इनमें से कोई नहीं

(पप) निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:

1. (क) बौद्ध धर्म ।
(ख) जैन धर्म ।
2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
(अ) गुप्तकालीन वैष्णव धर्म का विवरण दीजिये ?

3.6 साहित्य :

गुप्तकाल में साहित्य की अभूतपूर्व प्रगति हुई। गुप्तकाल में साहित्य का सर्वांगीण विकास हुआ। गुप्तकाल में अनेक साहित्यकार, स्मृतिकार, भाष्यकार, कवि, खगोलविद्, वैज्ञानिक मेधाकार आदि हुए। जिन्होंने अपने शोध एवं लेखन से कालजयी रचनाओं का सृजन किया। गुप्तकालीन साहित्यकारों एवं कवियों में सर्वश्रेष्ठ कवि कालिदास हुआ। जिसे 'भारत के शेक्सपीयर' की संज्ञा दी गयी है। इनकी रचनाओं को नाटक, महाकाव्य और खण्डकाव्य में बाँटा जाता है। इनकी रचनाएँ, कुमारसंभव, मालविकाग्निमित्र, रघुवंश, अभिज्ञान शाकुन्तलम्, मेघदूत आदि प्रमुख हैं। भास की स्वप्नवासवदत्ता, अमरसिंह की अमरकोष, राजशेखर की काव्यमीमांसा, शूद्रक की मृच्छकटिकम्, वाराहमिहिर की बृहत्संहिता, वात्स्यायन की कामसूत्र, विशाखदत्त की मुद्राराक्षस, दण्डिन की दशकुमारचरित, भारवी की रावण वध, कामंदक की नीतिसार आदि प्रमुख गुप्तकालीन साहित्यकार एवं उनकी रचनाएँ हैं। गुप्तकाल में याज्ञवल्क्य, नारद, गौतम, बृहस्पति, विष्णु, कात्यायन, पाराशर आदि अनेक स्मृतिकार हुए। जिन्होंने अपने स्मृतियों की रचनाएँ की। गुप्तकाल श्रेष्ठ विद्वानों एवं कवियों का काल था। कुछ कवियों के केवल अभिलेखीय प्रमाण मिले हैं। जिसमें हरिषेण, वत्सभट्ट तथा वीरसेन शाब प्रमुख थे।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न :

(प) निम्नलिखित वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर दीजिए:

1. भारत के शेक्सपीयर की संज्ञा दी गयी थी ?
(क) कालिदास (ख) अमरसिंह
(ग) भास (घ) इनमें से कोई नहीं
2. बृहत्संहिता किसकी रचना है ?
(क) कालिदास (ख) अमरसिंह
(ग) भास (घ) वाराहमिहिर
3. स्वप्नवासवदत्ता किसकी रचना है ?
(क) कालिदास (ख) अमरसिंह
(ग) भास (घ) वाराहमिहिर
4. मुद्राराक्षस किसकी रचना है ?
(क) विशाखदत्त (ख) अमरसिंह
(ग) भास (घ) वाराहमिहिर
5. मृच्छकटिकम् किसकी रचना है ?
(क) याज्ञवल्क्य (ख) शूद्रक
(ग) वाराहमिहिर (घ) इनमें से कोई नहीं

(पप) नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:

- (अ) गुप्तकालीन साहित्य का विवरण दीजिये ?

3.7 गुप्तकालीन कला :

भारतीय इतिहास में गुप्तकाल को 'स्वर्ण काल' के नाम से जाना जाता है। गुप्त शासकों ने लगभग 275 ई० से 550 ई० तक शासन किया। इस प्रकार लगभग तीन सौ वर्षों के शासनकाल में गुप्तों ने

राजनीतिक एकता स्थापित करके, सामाजिक – आर्थिक, कला, संस्कृति आदि क्षेत्रों में अभूतपूर्व प्रगति की। जैसाकि, डॉ० वी० ए० स्मिथ ने लिखा है कि “गुप्त शासकों ने साहित्य, कला, विज्ञान आदि क्षेत्रों में अभूतपूर्व प्रगति की।”

3.7.1 गुहा स्थापत्य कला एवं चित्रकला :

गुप्तकाल अपने सर्वांगीण तथा चतुर्दिक उत्थान के लिए जाना जाता है। गुप्तकाल में गुहा स्थापत्य कला को पर्याप्त आश्रय मिला। इस कारण गुप्तकाल में अजंता, बाघ एवं उदयगिरि में गुहा स्थापत्य कला के उत्कृष्ट उदाहरण मिलते हैं। अजंता (जिला— औरंगाबाद, महाराष्ट्र) में गुप्तकालीन गुहाओं का निर्माण हुआ। जिनमें गुहा संख्या 16, 17 एवं 19 गुप्तकालीन हैं। अजंता की 16 वीं गुफा एक विहार हैं, इसके वास्तु अंगों में गर्भगृह (वर्गाकार), स्तम्भ (20), हैं तथा यह गुफा 65 वर्गफीट के आकार में निर्मित है। गर्भगृह में बुद्ध की मूर्ति पैर लटकाये (प्रलम्बपाद मुद्रा में) हुए विराजमान है। 17 वीं गुफा के वास्तु अंग एवं आकार – प्रकार 16 वीं गुफा के समान ही है। अजंता की 19 वीं गुहा चैत्य है। इसके निर्माण में गर्भगृह, स्तम्भ, गलियारा, मण्डप आदि वास्तु अंगों का प्रयोग किया गया है। गुहा में बने स्तूप में गुम्बद (अण्ड), हर्मिका, यष्टि, छत्र आदि वास्तु अंग विद्यमान हैं। अजंता की गुप्तकालीन गुहाओं में गुहा संख्या 16, 17 एवं 19 गुप्तकालीन हैं। जिनमें गुहा संख्या 16 एवं 17 में उत्कृष्ट चित्रकला के उदाहरण मिलते हैं। इनमें अधिकांश चित्र बौद्ध धर्म से संबंधित हैं। भगवान बुद्ध एवं उनके जीवन से संबंधित घटनाओं, बौधिसत्त्वों एवं जातक कथाओं का चित्रण मिलते हैं। अजंता की गुहा संख्या 16 में ‘मरणासन्न राजकुमारी’ का चित्र उल्लेखनीय हैं। अजंता की गुहा संख्या 17 में भगवान बुद्ध, एवं उनके जीवन की विभिन्न घटनाओं एवं विविध जातक कथाओं के चित्र मिलते हैं। अजंता की गुहा संख्या 17 को ‘चित्रणशाला’ भी कहा जाता है।

गुप्तकालीन गुहा स्थापत्य कला के श्रेष्ठ उदाहरण मध्य प्रदेश के विदिशा नगर (जिला विदिशा) के पास ‘उदयगिरि’ में है। अभिलेखीय साक्ष्यों से विदित है कि ये गुहाएँ चन्द्रगुप्त द्वितीय (375–415 ई०) एवं कुमारगुप्त प्रथम (415–455 ई०) के काल की है। उदयगिरि की गुहाओं में कमलांकृत छतें (भीतर की तरफ) उल्लेखनीय गुहा स्थापत्य कला की विशेषता को व्यक्त करती है। उदयगिरि की गुहा के द्वारों पर द्वार रक्षकों का निर्माण भी उल्लेखनीय वास्तु अंग है। उदयगिरि की वराह—गुहा, जिसमें भगवान वराह (विष्णु के अवतार) की पृथ्वी को अपने दाँतों से लटकाये भव्य प्रतिमा विराजमान है, भी उल्लेखनीय है। इस गुहा के द्वार के स्तंभों पर घड़ों सहित गंगा – यमुना तथा द्वारपालों का अंकन है।

3.7.1.1 बाघ की गुहा चित्रकला :

बाघ की गुफायें मध्य प्रदेश के धार जिले में स्थित हैं। बाघ की गुफायें नर्मदा की एक सहायक नदी बांधमती के बायें तट पर विंध्य की पहाड़ियों में स्थित है। यह क्षेत्र पहले भूतपूर्व ग्वालियर रियासत के अंतर्गत आता था। इसी कारण कतिपय पुस्तकों में बाघ की गुफाओं को ग्वालियर के पास स्थित बताया गया है। बाघ की गुफाओं की खोज डेन्जर फील्ड ने 1818 ई० में की थी। 1910 ई० में लुअर्ड ने ‘इण्डियन एण्टीक्वेरी’ में बाघ की गुफाओं के बारे में जानकारी प्रकाशित करवाई। वर्तमान में बाघ की पहाड़ियों में 9 (नौ) गुफायें बची हैं, जिनमें गुफा नं. 4 एवं 5 में चित्र बचे हैं, शेष गुफाओं में चित्र नष्ट हो चुके हैं। बाघ की गुफाओं के चित्रों की प्रति कांपियाँ शासन ने तैयार करवाई हैं और यह मध्य प्रदेश के भोपाल ‘राज्य संग्रहालय’ में प्रदर्शित हैं। बाघ की गुफाओं के प्रमुख विषयों के विवरण एम० बी० गर्दे, बैरिट एवं लॉर्ड लिटन द्वारा संपादित हैं। बाघ की चित्रकला के चित्रों में मुख्यतः छः दृश्य द्रष्टव्य हैं –

1. प्रथम दृश्य में एक शोकाकुल महिला है, जिसके समीप दूसरी स्त्रियाँ शोकाकुल अवस्था में बैठी चित्रित है।
2. दूसरे दृश्य में राजा एवं चार सभासदों के बीच वार्तालाप को चित्रित किया गया है। चित्रण में राजा और सभासदों की वेशभूषा में अधिक अंतर प्रतीत नहीं होता है।
3. तृतीय दृश्य में दूसरे दृश्य का पुनरावलोकन किया गया है।
4. चतुर्थ दृश्य, नृत्य का दृश्य है, जिसमें दो आकृतियाँ नृत्यरत दिखायीं गयी हैं। इसमें एक स्त्री एवं पुरुष नृत्यरत हैं और गोल दायरे में दर्शक खड़े दिखाए गए हैं। स्त्री एवं पुरुष की वेशभूषा विदेशी प्रतीत होती है।
5. पंचम दृश्य में चतुर्थ दृश्य का अंकन पुनः किया गया है।
6. षष्ठम दृश्य, एक शोभायात्रा का है। जिसमें राजपुरुष, महिलाएँ, गायक, गायिकाएँ, अश्वारोही, गजरोही आदि द्रष्टव्य है। इन आकृतियों में पक्षियों का अंकन प्रभावशाली है। मयूर, कोकिला, कुकुट, चकोर, सारस आदि पक्षियों एवं हाथी, बैल आदि पशुओं का अंकन प्रभावशाली है।

बाघ की गुफाएँ लोकरंजना की अभिव्यंजना करती हैं। बाघ से शुभंदु के ताम्रपत्र प्राप्त हुए हैं, शुभंदु माहिष्मती का राजा था। बाघ की गुफाओं का काल वाल्टर स्पिक ने 480-502 ई० निर्धारित किया है।

3.7.2 स्तूप स्थापत्य कला :

गुप्तकाल में स्तूपों का भी निर्माण हुआ। गुप्तकाल में सारनाथ एवं मीरपुर खास में स्तूपों का निर्माण हुआ। सारनाथ (वाराणसी, उत्तर प्रदेश) का धमेख स्तूप 128 फुट ऊँचा है। स्तूप की दीवारों पर बुद्ध की मूर्तियों की प्रति स्थापना हेतु आले बने हुए हैं। मीरपुर खास (सिंधु, पाकिस्तान) का स्तूप ईंटों से निर्मित हैं। ईंटों पर बुद्ध की मूर्तियाँ बनीं हुई हैं।

3.7.3 मंदिर स्थापत्य कला :

गुप्तकाल में मंदिर स्थापत्य कला का विकास बड़ी तीव्रगति से हुआ। गुप्तों ने ब्राह्मण धर्म को प्रश्रय दिया, विशेषतः वैष्णव धर्म को और उनसे संबंधित अनेक मंदिरों का निर्माण कराया। गुप्तकालीन मंदिरों में अधिष्ठान, सोपान, शिखर, गर्भगृह, मण्डप, अर्द्ध मण्डप, प्रदक्षिणा पथ आदि वास्तु अंग विद्यमान है। प्रमुख गुप्तकालीन मंदिर निम्नलिखित है – *एरण के मंदिर* – एरण (जिला, सागर, मध्य प्रदेश) में गुप्त शासकों ने विष्णु के नृसिंह, वराह के अवतारों के मंदिरों के साथ ही विष्णु का मंदिर भी निर्मित करवाया था। मंदिर स्थापत्य की नागर शैली पर निर्मित इन मंदिरों के स्थापत्य अंगों में सपाट छत युक्त वर्गाकार गर्भगृह, स्तम्भों पर आधारित छोटा मण्डप है। *देवगढ़ का दशावतार मंदिर* – देवगढ़ (जिला – ललितपुर, उत्तर प्रदेश) का दशावतार मंदिर, गुप्तकाल की मंदिर स्थापत्य कला के विकास का महत्वपूर्ण साक्ष्य है। इस मंदिर में सर्वप्रथम गुप्तकाल में शिखर का प्रयोग किया गया। कनिंघम का मत है कि, देवगढ़ का मंदिर विष्णु की मूर्ति की स्थापना के लिए निर्मित किया गया था। मंदिर जगती पर बना है, जगती पर चढ़ने के लिए चारों ओर से सोपान (सीढ़ियाँ) बनें हैं। मंदिर के गर्भगृह की बाहरी दीवारों की रथिकाओं पर विष्णु के अवतारों गजेंद्रमोक्ष, शेषशाही विष्णु, नर नारायण का अंकन है। मंदिर का गर्भगृह वर्गाकार है, इसके द्वार की शीर्ष पट्टी पर गंगा – यमुना क्रमशः मकर एवं कच्छप अपने वाहनों सहित अंकित है। शीर्ष पट्टी के ललाटबिंब पर शेषशाही विष्णु का अंकन है। *साँची मंदिर नं. 17* – यह मंदिर, प्रारंभिक गुप्तकालीन मंदिर

स्थापत्य कला से संबंधित है। साँची (जिला – रायसेन, मध्य प्रदेश) विदिशा शहर से 10 किलो मीटर की दूरी पर स्थित है। इस मंदिर की स्थापत्य कला में वर्गाकार गर्भगृह, सपाट छत (शिखर विहीन) तथा गर्भगृह के सामने स्तम्भ युक्त लघु मण्डप हैं। मंदिर की विशेषताओं में चार स्तंभों के शीर्ष भागों पर सिंह एक – दूसरे से पीठ लगाये बैठे हैं।

तिगवा का मंदिर – तिगवा (जिला– जबलपुर, मध्य प्रदेश) का विष्णु मंदिर प्रारंभिक गुप्तकालीन मंदिर स्थापत्य कला का प्रतिनिधित्व करता है। इस मंदिर के स्थापत्य में वर्गाकार गर्भगृह, सपाट छत (शिखर हीन), गर्भगृह के सामने चार स्तम्भों पर टिका मण्डप है। गर्भगृह के द्वार अलंकृत है तथा द्वार की ऊपरी शाखा पर गंगा – यमुना अपने वाहनों मकर एवं कच्छप के साथ सुशोभित है। *नचना – कुठारा का पार्वती मंदिर* – नचना – कुठारा (जिला–पन्ना, मध्य प्रदेश) के पार्वती मंदिर का निर्माण ऊँचे प्लेटफॉर्म पर किया गया है। मंदिर स्थापत्य के वास्तु अंगों में वर्गाकार गर्भगृह, सपाट छत (शिखरहीन), मण्डप तथा चारों – तरफ प्रदक्षिणा पथ हैं। *भूमरा का शिव मंदिर* – भूमरा (जिला – सतना, मध्य प्रदेश) में गुप्तकालीन शिव मंदिर स्थित है। मंदिर एक वर्गाकार चबूतरे पर स्थित है। मंदिर स्थापत्य के वास्तु अंगों में वर्गाकार गर्भगृह, सपाट छत (शिखर विहीन) तथा गर्भगृह के सामने एक मण्डप है। वर्गाकार गर्भगृह अंदर से 8 फीट तथा बाहर से 15. 50 फीट का है गर्भगृह की द्वार शाखा पर गंगा – यमुना अपने वाहनों मकर एवं कच्छप के साथ सुशोभित है। यह मंदिर अलंकरण अभिप्रायों से अधिक अलंकृत है। मंदिर से शिव के गणों की मूर्तियाँ बड़ी संख्या में प्राप्त है।

भीतरगाँव का मंदिर – भीतरगाँव (जिला – कानपुर, उत्तर प्रदेश) में विष्णु का मंदिर स्थित है। यह मंदिर 70 फीट ऊँचा है तथा यह पकी ईंटों से बना है। मंदिर वर्गाकार ऊँचे चबूतरे पर निर्मित है, जिस पर चढ़ने के लिए सोपान (सीढ़ियाँ) बने हुए हैं। मंदिर के स्थापत्य वास्तु अंगों में वर्गाकार गर्भगृह, शिखर, मण्डप, प्रदक्षिणा पथ है। मंदिर का गर्भगृह, 15 फीट लंबे एवं 15 फीट चौड़े आकार का है। *लाड़ खाँ मंदिर* – ऐहोल का लाड़ खाँ मंदिर कतिपय इतिहासकारों के अनुसार, सर्वाधिक प्राचीन मंदिर है। लाड़ खाँ मंदिर स्थापत्य के वास्तु अंगों में वर्गाकार गर्भगृह, सपाट छत (शिखर विहीन), आच्छादित प्रदक्षिणापथ, एक स्तम्भ युक्त मण्डप है। *कोन्तगुड़ीमंदिर* – कोन्तगुड़ी के मंदिर स्थापत्य के अंगों में वर्गाकार गर्भगृह, शिखर हीन सपाट छत, स्तम्भ युक्त मण्डप है। मंदिर की रथिकाओं पर शिव – ताण्डव, वराह, भैरव, वामन की मूर्तियाँ अंकित है। *हुच्चीमल्लिगुड़ी मंदिर* – हुच्ची मल्लिगुड़ी के मंदिर स्थापत्य के वास्तु अंगों में गर्भगृह, आयताकार मण्डप, अर्धमण्डप, प्रदक्षिणा पथ, शिखर है। मंदिर के अंदर का भाग अलंकारहीन है किन्तु, गर्भगृह अलंकृत है। *दशपुर का सूर्य मंदिर* – दशपुर (जिला–मंदसौर, मध्य प्रदेश) में गुप्तकालीन सूर्य मंदिर स्थित था, इसका साक्ष्य कुमारगुप्त प्रथम के काल का एक अभिलेख है। अभिलेख में वर्णित है कि रेशम की एक श्रेणी ने यहाँ सूर्य – मंदिर निर्मित करवाया था।

3.7.4 गुप्तकालीन मूर्तिकला :

गुप्त काल में कला का चहुमुखी विकास हुआ। गुप्त काल में कला के उत्कृष्ट शिल्पांकन के साक्ष्य मिलते हैं। मूर्तिकला में गुप्त कला के श्रेष्ठ केंद्र सारनाथ, कौशांबी, मथुरा थे। गुप्तों ने मंदिरों, मूर्तियों एवं धार्मिक क्रियाकलापों में गहरी रूची ली। गुप्तों के वैष्णव होने के कारण विष्णु से संबंधित मंदिरों एवं मूर्तियों का बहुतायत में निर्माण हुआ। गुप्तों ने वैष्णव मंदिरों एवं मूर्तियों के निर्माण के साथ – साथ अन्य देवी – देवताओं के मंदिरों एवं मूर्तियों का भी निर्माण कराया। गुप्त काल की कला में विष्णु, उनके अवतारों से

संबंधित तथा संबंधित कथाओं, लीलाओं का शिल्पांकन बहुतायत में मिलता है। गूजरी महल संग्रहालय, ग्वालियर में संरक्षित बेसनगर (विदिशा) की नृसिंह एवं उदयगिरि (विदिशा) की वराह प्रतिमा, देवगढ़, एरण, भीतरगांव, भूमरा, तिगवा आदि के मंदिरों से प्राप्त वैष्णव मूर्तियों में विष्णु, उनके अवतारों से संबंधित तथा संबंधित कथाओं, लीलाओं के शिल्पांकन के बहुत सुंदर साक्ष्य मिलते हैं। इन मंदिरों में विष्णु के साथ – साथ अन्य देवी – देवताओं के मंदिर एवं मूर्तियाँ भी मिलती हैं। गुप्त मूर्तिकला में शिव के लिंग, एकल, उमा – माहेश्वर, नटेश रावणानुग्रह के साथ ही शिव के गणों, गणेश, कार्तिकेय तथा देवीओं में दुर्गा, पार्वती, लक्ष्मी, मातृका, महिषमर्दिनी आदि का अंकन मिलता है। गुप्त मूर्तिकला में बौद्ध एवं जैन मूर्तियों का भी अंकन हुआ है। सारनाथ बुद्ध एवं बोधिसत्वों से संबंधित गुप्त मूर्तिकला का बड़ा केंद्र था। अजंता एवं कन्हेरी से भी बुद्ध मूर्तियाँ मिलती हैं। गुप्त काल में जैन मूर्तिकला का मथुरा एक बड़ा केंद्र था। मथुरा से बड़ी संख्या में जैन मूर्तियाँ मिलती हैं।

स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न :

(प) निम्नलिखित वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर दीजिए:

1. अजंता की 16 वीं गुफा है ?

(क) स्तूप	(ख) चैत्य
(ग) विहार	(घ) इनमें से कोई नहीं
10. धमेख स्तूप कहाँ स्थित है?

(क) सारनाथ	(ख) एरण
(ग) देवगढ़	(घ) कौशांबी
3. गुप्तकालीन मूर्तिकला का केंद्र नहीं था ?

(क) सारनाथ	(ख) मथुरा
(ग) बाघ	(घ) कौशांबी
4. गुप्तकालीन चित्रकला का केंद्र था ?

(क) सारनाथ	(ख) मथुरा
(ग) बाघ	(घ) कौशांबी
5. दशावतार मंदिर स्थित है ?

(क) सारनाथ	(ख) एरण
(ग) देवगढ़	(घ) कौशांबी

(पप) निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:

1. (क) गुप्तकालीन मूर्तिकला ।
 (ख) बाघ की चित्रकला ।
2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
 (अ) गुप्तकालीन मंदिर स्थापत्य कला का विवरण दीजिये ?

3.8 सारांश

गुप्तकाल ने भारतीय सांस्कृतिक इतिहास का गौरवशाली एवं स्वर्णिम अध्याय प्रस्तुत किया। लगभग 275 ई० से 550 ई० तक के लगभग तीन शताब्दियों के सुदीर्घ शासनकाल में गुप्त शासकों ने देश में राजनैतिक एकता स्थापित करके चतुर्दिक प्रगति के मार्ग प्रशस्त किये। गुप्त शासकों के शासनकाल में सामाजिक,

आर्थिक एवं धार्मिक क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रगति हुई। गुप्तकाल में सामाजिक जीवन ने नवीन सामाजिक विचारों और पद्धतियों को अपनाया। इसी कारण गुप्तकाल में शूद्रों और दासों की स्थिति में भारी सकारात्मक परिवर्तन आया। गुप्तकालीन राजनैतिक स्थिरता एवं प्रशासनिक सुव्यवस्था ने आर्थिक प्रणालियों के विकास के मार्ग प्रशस्त कर दिये थे। धार्मिक सहिष्णुता, समन्वय एवं विविध धार्मिक सम्प्रदायों के विकास की उत्तम पृष्ठभूमि गुप्तकाल की धार्मिक विशेषता बन गयी थी। गुप्तकाल में साहित्य, कला, विज्ञान आदि क्षेत्रों में अभूतपूर्व प्रगति हुई। इसी कारण गुप्तकाल में हुई सांस्कृतिक उत्थान की इन महान् उपलब्धियों ने गुप्तकाल को भारतीय इतिहास के 'स्वर्णकाल' की संज्ञा प्रदान की।

3.9 तकनीकी शब्दावली

गुहा : गुफा

चतुर्दिक : चारों ओर

विभेद : भेदभाव

मोक्ष : जन्म-मरण के बंधन से मुक्ति

पुनरुत्थान : फिर से उत्थान होना

मुद्रा : मानक सिक्का

स्थापत्य कला : भवन निर्माण कला

स्तूप : बौद्ध पूजा स्मारक

विहार : बौद्ध भिक्षुओं के रहने का भवन

3.10 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

इकाई 3.3 के स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

(प) निम्नलिखित वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर दीजिए:

1. देखिए 3.3.1 वर्ण व्यवस्था
2. देखिए 3.3.1 वर्ण व्यवस्था
3. देखिए 3.3.1 वर्ण व्यवस्था
4. देखिए 3.3.1 वर्ण व्यवस्था
5. देखिए 3.3.1 वर्ण व्यवस्था

(पप) निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:

1. (क) देखिए 3.3.1 वर्ण व्यवस्था
(ख) देखिए 3.3.2 स्त्रियों की स्थिति
2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
(अ) देखिए 3.3.1 वर्ण व्यवस्था

इकाई 3.4 के स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

(प) निम्नलिखित वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर दीजिए:

1. देखिए 3.4.1 कृषि
2. देखिए 3.4.4 मुद्रा
3. देखिए 3.4.4 मुद्रा
4. देखिए 3.4.2 उद्योग-धंधे, व्यापार एवं वाणिज्य

5. देखिए 3.4.1 कृषि
(पप) निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:

1. (क) देखिए 3.4.3 श्रेणी
(ख) देखिए 3.4.4 मुद्रा
2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
(अ) देखिए 3.4.1 कृषि

इकाई 3.5 के स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

(प) निम्नलिखित वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर दीजिए:

1. देखिए 3.5.1.1 वैष्णव धर्म
2. देखिए 3.5.1.1 वैष्णव धर्म
3. देखिए 3.5.1.1 वैष्णव धर्म
4. देखिए 3.5.1.2 शैव धर्म
5. देखिए 3.5.2 बौद्ध धर्म

(पप) निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:

1. (क) देखिए 3.5.2 बौद्ध धर्म
(ख) देखिए 3.5.3 जैन धर्म
2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:
(अ) देखिए 3.5.1.1 वैष्णव धर्म

इकाई 3.6 के स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

(प) निम्नलिखित वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर दीजिए:

1. देखिए 3.6 साहित्य
2. देखिए 3.6 साहित्य
3. देखिए 3.6 साहित्य
4. देखिए 3.6 साहित्य
5. देखिए 3.6 साहित्य

(पप) नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:

- (अ) देखिए 3.6 साहित्य

इकाई 3.7 के स्व मूल्यांकन हेतु प्रश्न

(प) निम्नलिखित वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर दीजिए:

1. देखिए 3.7.1 गुहा स्थापत्य कला एवं चित्रकला
2. देखिए 3.7.2 स्तूप स्थापत्य कला
3. देखिए 3.7.4 गुप्तकालीन मूर्तिकला
4. देखिए 3.7.1.1 बाघ की गुहा चित्रकला
5. देखिए 3.7.3 मंदिर स्थापत्य कला

(पप) निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:

1. (क) देखिए 3.7.4 गुप्तकालीन मूर्तिकला
(ख) देखिए 3.7.1.1 बाघ की गुहा चित्रकला
2. नीचे लिखे प्रश्न का उत्तर दीजिए:

3.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. अग्रवाल, वासुदेवशरण – भारतीय कला, वाराणसी, 1987
2. अग्रवाल, पृथिवीकुमार – गुप्त टेंपल आर्कीटेक्चर, वाराणसी, 1968
3. गुप्ते तथा महाजन – अजंता, एलोरा एण्ड औरंगाबाद केवज, बम्बई, 1962
4. गोयल, श्रीराम – द हिस्ट्री ऑफ द इम्पीरियल गुप्ताज, इलाहबाद, 1967
5. मजूमदार, रमेशचन्द्र – प्राचीन भारत, दिल्ली, 1973
6. मजूमदार, आर० सी० – दि क्लासिकल एज, बम्बई, 1954
7. मजूमदार, आर० सी० एवं – द वाकाटका-गुप्ता एज, बनारस, 1954, अल्लेकर, ए० एस०
8. मिश्र, आर० एन० – भारतीय मूर्तिकला का इतिहास, नई दिल्ली, 2002
9. रैप्सन (संपा०) – कौम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, वॉ०1, कौम्ब्रिज, 1922
10. रायचौधुरी, एच० सी० – पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एंशेन्ट इण्डिया, कलकत्ता, बी. एन. मुखर्जी द्वारा सम्पादित, कलकत्ता, 1997
11. शर्मा, रामशरण – प्रारंभिक भारत का परिचय, नई दिल्ली, 2009
– Material Culture and Social Formations in ancient India, Delhi, 1983
12. स्मिथ, वी. एस. – अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, ऑक्सफोर्ड, 1924
13. त्रिपाठी, आर० एस० – प्राचीन भारत का इतिहास, बनारस, 1998
14. थापर, रोमिला – कल्चरल पास्ट्स : ऐसेज इन अर्ली इंडियन हिस्ट्री, नई दिल्ली, 2000
– एशियन्ट इण्डियन सोशल हिस्ट्री, नई दिल्ली, 1983
– भारत का इतिहास, नई दिल्ली, 1989
15. वाजपेयी, कृष्णदत्त – भारतीय वास्तुकला का इतिहास, लखनऊ, 1990

3.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. ओमप्रकाश – प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, नई दिल्ली, 1986
2. महाजन, विद्याधर – प्राचीन भारत का इतिहास, नई दिल्ली, 2008
3. मिश्र, जयशंकर – प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पटना, 2006
4. श्रीवास्तव, के० सी० – प्राचीन भारत का इतिहास एवं संस्कृति, इलाहबाद, 2007
5. शर्मा, आनन्द कुमार – भारतीय संस्कृति एवं कला, नई दिल्ली, 2011

3.13 निबंधात्मक प्रश्न

- प्रश्न 1. गुप्तकालीन संस्कृति का विस्तृत रूप से विवरण दीजिये ?
- प्रश्न 2. गुप्तकालीन कला का विस्तृत रूप से विवरण दीजिये ?
- प्रश्न 3. गुप्तकालीन धार्मिक स्थिति पर प्रकाश डालिये ?
- प्रश्न 4. गुप्तकालीन आर्थिक स्थिति पर प्रकाश डालिये ?

इकाई एक: पल्लवकालीन संस्कृति

- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 उद्देश्य
- 1.3 सामाजिक जीवन
- 1.4 शैक्षिक स्थिति
- 1.5 साहित्य
- 1.6 शासन प्रबन्ध
- 1.7 पल्लवकालीन धार्मिक दशा
- 1.8 पल्लवकालीन कला तथा स्थापत्य कला
- 1.9 महेन्द्र शैली
- 1.10 मामल्ल शैली
- 1.11 रथ मंदिर महाबलिपुरम
- 1.12 राज सिंह शैली
- 1.13 नन्दीवर्मन शैली
- 1.14 सारांश
- 1.15 अभ्यासार्थ प्रश्न
- 1.16 सन्दर्भ ग्रन्थ

1.1 प्रस्तावना

चौथी शताब्दी से नवीं शताब्दी के लगभग छः सौ वर्षों तक पल्लवों का प्रशासन दक्षिण भाग में रहा। इस दीर्घकालीन प्रशासन में राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में अदभुत प्रगति हुई। इस वंश के नरेशों ने राजनीतिक दायित्व को भली-भांति निर्वहन के साथ ही साथ कला और साहित्य में भी यथोचित रुचि दिखाई। शिल्पकला और मंदिर निर्माण की दृष्टि से भी पल्लवों का शासनकाल अत्यन्त महत्वपूर्ण है। चट्टानों को काटकर बड़े पैमाने पर मंदिर निर्मित किये गये। पल्लवों द्वारा प्रचलित मंदिर निर्माण की कला-शैली दक्षिण की सभी शैलियों का आधार बन गई।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप जान सकेंगे कि—

- पल्लवकालीन सामाजिक जीवन व पल्लवों का शासन प्रबन्ध की रूपरेखा।
- पल्लव काल में हुए धार्मिक आन्दोलन।
- साहित्य के क्षेत्र में प्रगति।
- कला और स्थापत्यकला के क्षेत्र में विकास।
- इस युग में मंदिर निर्माण कला के चार शैलियों का उदय और विकास।

1.3 सामाजिक जीवन

पल्लव काल में वर्ण व्यवस्था और जाति प्रथा समाज का आधार था। जाति-प्रथा में जटिलता और अपरिवर्तनशीलता आ गई थी। समाज में अनेक कुप्रथाएं और परम्पराएं थीं, जिनके निवारण के लिए धार्मिक जीवन में आन्दोलन हुए। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने तत्कालीन दशा का वर्णन अपने यात्रा वृत्तान्त में किया है। उसके अनुसार पल्लव राज्य की राजधानी कांची समृद्ध नगर था और वह लगभग छः मील की परिधि में बसा हुआ था। वह नगर विद्वानों का केन्द्र था। नालन्दा विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध आचार्य धर्मपाल कांची के थे। पल्लव राज्य बड़ा विस्तृत था, भूमि उपजाऊ थी एवं कृषि की दशा अच्छी थी। उपज की अधिकता थी। लोग सुखी और सदाचारी प्रवृत्ति के थे। पल्लवों के अनुदानों से विदित होता है कि छठी सदी के अन्त तक दक्षिण भारत में आर्य पद्धति के समाज ने अपना स्थान पक्का कर लिया था। धर्म सूत्रों के अनुसार सामाजिक जीवन गठित हो गया था। राज्य के करों की विविधता के कारण जनता पर आर्थिक बोझ अधिक था, परन्तु फिर भी उनका आर्थिक स्तर समुन्नत था। आवागमन के पर्याप्त साधनों के कारण व्यापार भी उन्नत दशा में था। उनके भारतीय व्यापारी दक्षिण-पूर्वी एशिया और सुदूर पूर्व के देशों को धनोपार्जन के लिए आते-जाते थे। इनका अनुकरण अनेक विद्वानों और कलाकारों ने किया।

इस काल में राजा का कर्तव्य वर्ण की शुद्धता को कायम रखना एवं वर्ण संकरता को रोकना था, परन्तु थोड़ी मात्रा में इन नियमों का उल्लंघन सदा होता रहा। इसकाल में यद्यपि अपनी जाति में ही विवाह करना अच्छा समझा जाता था, परन्तु अन्तर्जातीय विवाह भी कभी-कभी हो जाते थे। ये विवाह अनुलोम (उच्च वर्ण का लड़का और निम्न वर्ण की लड़की) कहलाते थे। 'याज्ञवल्क्य स्मृति' में इस प्रकार के विवाहों की आज्ञा दे दी गई है। वास्तव में अन्तर्जातीय विवाह विदेशी कबीलों को हिन्दू समाज में विलीन करने का अच्छा तरीका था।

अन्तर्जातीय विवाहों की तरह अन्तर्जातीय भोजन भी चलता रहा। स्मृति लेखकों ने शूद्रों के साथ भोजन करने की मनाही की है, परन्तु कृषक, नाई, दूधवाले व खानदानी मित्रों के साथ सहभोज की आज्ञा दे दी है। पल्लवकाल में जातियों के आम सम्बन्ध प्रेमपूर्ण थे। अपने सम्पूर्ण प्रदेश में पाठशालाएं, गोशालाएं, अस्पताल व धर्मशालाएं उन्होंने लोगों के लाभ के लिए चलाई थी।

पूर्वयुग की भांति इस युग में भी संयुक्त परिवार प्रथा जारी था। सम्पत्ति पिता के नाम रहती थी। यद्यपि भाई व पुत्रों का सम्पत्ति में बराबर का भाग रहता था। गोद लेने की प्रथा प्रचलित थी। प्रायः जिन व्यक्तियों की सन्तान नहीं होती थी वे अपनी पुत्री को गोद लेते थे। विधवा पुनर्विवाह का प्रचलन नहीं था, परन्तु उन्हें पति की मृत्यु के पश्चात् उसकी सम्पत्ति का भाग प्राप्त था। यद्यपि स्त्रियों में शिक्षा का विशेष प्रचलन नहीं था, फिर भी इस युग में बड़े घराने की लड़कियों के वेदों तथा अन्य ललित कलाओं का अध्ययन काफी चलता रहा। इसकाल में कई विदूषी नारियां लेखिका तथा कवियित्री हुईं। इस युग में सती प्रथा का भी प्रचलन था परन्तु कुछ विद्वानों ने विधवाओं के शुद्ध जीवन यापन के लिए विस्तृत नियम बनाये थे। इससे

स्पष्ट होता है कि इस युग में सती प्रथा सर्वप्रिय नहीं हुई थी। इस युग की चित्रकारी से स्पष्ट होता है कि नारियां समाज में स्वतंत्रता पूर्वक घूम सकती थी और उन्हें केवल घर की चाहर-दिवारी में बन्द नहीं रखा जाता था। उच्च घराने की स्त्रियां जब सार्वजनिक स्थानों पर जाती थी तो थोड़ा पर्दा करती थी।

पल्लव काल में सामिष तथा निरामिष दोनों प्रकार के भोजन करने वाले होते थे। बौद्ध, ब्राह्मण व वैश्य मांस नहीं खाते थे, किन्तु क्षत्रिय व निम्न वर्ग के लोग मांस का प्रयोग करते थे। आमोद-प्रमोद के प्रमुख साधनों में शतरंज, चौपड़, शिकार, पशुओं की लड़ाई, नाटक, मेला आदि थे। सरकारी, दफ्तरों, मठों वे ऊँचे घरानों में समय का पता लगाने के लिए नादिकाएं (पानी की घड़ियाँ) होती थी।

1.4 शैक्षिक स्थिति

जनता में विद्या एवं विद्वत्ता के प्रति यथोचित लगाव था। शिक्षा प्रसार का अधिकांश कार्य ब्राह्मण करते थे। बौद्ध विहार और हिन्दू मंदिर शिक्षा के केन्द्र थे। पल्लवों की राजधानी कांचीपुरम शिक्षा और साहित्य का प्रसिद्ध केन्द्र था। कांची के समीप एक विशाल विस्तृत विहार था, जहां देश के विभिन्न प्रकाण्ड विद्वान आते-जाते थे और परस्पर भेंट कर विचारों का आदान-प्रदान करते थे। कांची नगर अनेकानेक विद्वान व्यक्तियों का निवास स्थान था। वहां एक प्रसिद्ध हिन्दू विश्वविद्यालय था जहां अनेक लोग विद्याध्ययन के लिए आया करते थे। नालन्दा विश्वविद्यालय का प्रसिद्ध विद्वान आचार्य धर्मपाल कांची से सम्बन्धित था। प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान दिग्नाग की शिक्षा कांची में हुई थी। कदम्ब वंशी राजकुमार मयूर वर्मा शिक्षा के लिए वहां गया था। कांची ही नहीं ग्रामों में भी अनेक विद्वान निवास करते थे। एक ताम्रपत्र लेख से ज्ञात होता है कि कांची के समीप कुर्रम (ग्राम) में एक सौ आठ ब्राह्मण परिवार वेदपाठी थे तथा महाभारत को कण्ठस्थल सुनाने पर पल्लव सम्राट परमेश्वर वर्मन ने विद्वान को पुरुस्कृत किया था।

1.5 साहित्य

पल्लव नरेशों का शासन संस्कृत तथा तमिल दोनों ही भाषाओं के साहित्य की उन्नति का काल रहा। कुछ पल्लव नरेश उच्चकोटि के विद्वान थे तथा उनकी राज्य सभा में प्रसिद्ध विद्वान एवं लेखक निवास करते थे। महेन्द्र वर्मा प्रथम ने 'मुत्तविलासप्रहसन' नाम हास्य ग्रन्थ की रचना की थी। इसमें कापालिकों एवं बौद्ध भिक्षुओं की हंसी उड़ाई गयी है। कुछ विद्वानों के मतानुसार किरातार्जुनीय महाकाव्य के रचियता भाटवि उसी की राजसभा में निवास करते थे। महेन्द्र वर्मा का उत्तराधिकारी नरसिंह वर्मा भी महान विद्या-प्रेमी था। उसकी राजसभा में 'दशकुमारचरित' एवं काव्यादर्श के लेखक दण्डी निवास करते थे। पल्लव शासकों के अधिकांश लेख विशुद्ध संस्कृत में लिखे गये हैं। संस्कृत के साथ-साथ इस समय तमिल भाषा की भी उन्नति हुई। शैव तथा वैष्णव सन्तों द्वारा तमिल भाषा एवं साहित्य का प्रचार-प्रसार हुआ। पल्लवों की राजधानी कांची विद्या का प्रमुख केन्द्र था जहां एक संस्कृत महाविद्यालय (घटिका) थी। इसी के समीप एक मण्डप में महाभारत का नियमित पाठ होता था तथा ब्राह्मण परिवार वेदाध्ययन किया करते थे। कदम्ब नरेश मयूर शर्मा विद्याध्ययन के लिए काच्ची के विद्यालय (घटिका) में ही गया था।

1.6 शासन-प्रबन्ध

काच्ची के पल्लव नरेश ब्राह्मण धर्मानुयायी थे। अतः उन्होंने धर्म महाराजाधिराज अथवा धर्ममहाराज की उपाधि धारण की। उनकी शासन पद्धति के अनेक तत्व मौर्यों तथा गुप्तों की शासन पद्धतियों से लिए गए प्रतीत होते हैं। शासन का सर्वोच्च अधिकारी राजा होता था। उसकी उत्पत्ति दैवी मानी जाती थी। पल्लव नरेश अत्यन्त कला-प्रेमी एवं साहित्य के संरक्षक थे। युवराज का पद अत्यन्त महत्वपूर्ण होता था। और वह अपने अधिकार से भूमि दान दे सकता था। पल्लव सम्राट के पास अपनी मंत्रिपरिषद थी। जिसकी सलाह से वह शासन करता था। पल्लव लेखों में 'अमात्य' शब्द का उल्लेख मिलता है। बैकुण्ठपेरूमल लेख में

नन्दिवर्मन की मंत्रिपरिषद का उल्लेख मिलता है। किन्तु मंत्रियों के विभागों अथवा कार्यों के विषय में हमें कोई सूचना नहीं मिलती है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रमुख विषयों पर मन्त्रणा करने के लिए राजा के पास कुछ खास मंत्री होते थे जिन्हें 'रहस्यादिकद' कहा जाता था। पल्लव लेखों में शासन के कुछ प्रमुख अधिकारियों के नाम इस प्रकार मिलते हैं—सेनापति, राष्ट्रिक, देशाधिकृत, ग्रामभोजक, अमात्य, आरक्षाधिकृत, गौत्मिक, तैर्थिक, नैयोजिक, भट्टमनुष्य, संचरन्तक आदि। विशाल पल्लव साम्राज्य विभिन्न प्रान्तों में विभाजित किया गया था। प्रान्त की संज्ञा थी राष्ट्र या मण्डल। राष्ट्रिक नामक पदाधिकारी इसका प्रधान होता था। यह पद युवराज, वरिष्ठ अधिकारियों अथवा कभी-कभी पराजित राजाओं को भी प्रदान किया जाता था। राष्ट्रिक, अधीन सामन्तों के ऊपर भी नियन्त्रण रखता था। मण्डल के शासक अपने पास सेना रखते थे तथा उनकी अपनी अदालतें भी होती थी। कालान्तर में उनका पद आनुवांशिक हो गया। ऐसा प्रतीत होता है कि अधिकारियों को वेतन के बदले में भूमि का अनुदान ही दिया जाता था। दक्षिण भारतीय प्रशासन की प्रमुख तत्व ग्रामसभा या समिति होती थी और यह पल्लव काल में ही रही होगी। प्राचीन पल्लव लेखों से पता चलता है कि ग्रामों का संगठन 'ग्रामकोय' अथवा 'मुटक' के नेतृत्व में किया गया था। राजकीय आदेश उसी को सम्बोधित करके भेजे जाते थे। ग्रामसभा की बैठक एक विशाल वृक्ष के नीचे होती थी। इस स्थान को 'मन्म' कहा जाता था। ग्राम प्रायः दो प्रकार के होते थे—ब्रह्मदेय तथा सामान्य। ग्रामों में ब्राह्मणों की आबादी अधिक होती थी तथा इनसे कोई कर नहीं लिया जाता था। सामान्य ग्रामों में विभिन्न जातियों के लोग रहते थे। तथा भूराजस्व के रूप में उन्हें राजा को भी कर देना पड़ता था। यह छठे से दसवें भाग तक होता था। इसके अतिरिक्त कुछ स्थानीय कर भी लगते थे तथा इनकी वसूली भी ग्राम सभा द्वारा ही की जाती थी। लेखों में 18 पारम्परिक करों का उल्लेख मिलता है। पल्लवों के पास एक शक्तिशाली सेना भी थी। इसमें पैदल अश्वरोही तथा हाथी होते थे। उनके पास नौ सेना भी थी। महाबलिपुरम तथा नेगपत्तन नौ सेना के केन्द्र थे। नौ सैनिक युद्ध के अतिरिक्त अन्य कार्य भी करते थे तथा दक्षिण पूर्व एशिया व्यापार में इनसे सहायता जी जाती थी।

1.7 पल्लव कालीन धार्मिक दशा

हिन्दू धर्म में मोक्ष अथवा ईश्वर प्राप्ति के तीन साधन बताये गये हैं—कर्म, ज्ञान तथा भक्ति। वेद कर्मकाण्डी हैं। उपनिषदों में ज्ञान की प्रतिपादन है तथा गीता में इन तीनों के समन्वय की चर्चा है। कालान्तर में इन तीनों साधनों के आधार पर विभिन्न सम्प्रदायों का अविर्भाव हुआ। अनेक विचारकों तथा सुधारकों ने भक्ति को साधन बनाकर सामाजिक-धार्मिक जीवन में सुधार लाने के लिए एक आन्दोलन का सूत्रपात किया। भारतीय जन-जीवन में इस आन्दोलन ने एक नवीन शक्ति तथा गतिशीलता का संचार किया। सर्वप्रथम भक्ति आन्दोलनों का अविर्भाव द्रविड़ देश में हुआ। भागवत पुराण में स्पष्टतः कहा गया है कि भक्ति द्रविड़ देश में जन्मी कर्नाटक में विकसित हुई तथा कुछ काल तक महाराष्ट्र में रहने के बाद गुजरात में पहुँचकर जीर्ण हो गयी। द्रविड़ देश में भक्ति आन्दोलन पल्लव तथा चोल राजाओं के संरक्षण में चलाया गया। इसके सूत्रधार नायनार, आलवार एवं आचार्य थे। शिव तथा विष्णु इस आन्दोलन के आराध्य देव थे।

पल्लव राजाओं का शासन काल दक्षिण भारत के इतिहास में ब्राह्मण धर्म की उन्नति का काल रहा। इस काल के प्रारम्भ में ब्राह्मण धर्म के साथ-साथ बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म की तमिल प्रदेश में लोकप्रिय थे। स्वयं ब्राह्मण धर्मावलम्बी होते हुए भी पल्लव शासकों में सहिष्णुता दिखाई है। उन्होंने अपने राज्य में जैनियों अथवा बौद्धों के ऊपर किसी भी प्रकार के अत्याचार नहीं किये। पल्लव नरेश नरसिंह वर्मा प्रथम के समय में चीन यात्री ह्वेनसांग काञ्ची में कुछ समय ठहरा था। उसके अनुसार यहां सौ से अधिक बौद्ध विहार थे जिनमें दस हजार बौद्ध भिक्षु निवास करते थे। उन्हें राज्य की ओर से सारी सुविधाएं प्रदान की गयी थी। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि धीरे-धीरे तमिल समाज में शैव तथा वैष्णव धर्मों का प्रचलन हो गया और

दोनों धर्मों के आचार्यों—शैवनायर तथा वैष्णव आलवर ने जैन एवं बौद्ध आचार्यों को शास्त्रार्थ में पराजित कर इन धर्मों की जड़ों का तमिल देश से उखाड़ फेंका। नायनारों तथा आलवरों ने दक्षिण में भक्ति आन्दोलनों को सूत्रपात किया। उनके प्रयासों का फल अच्छा निकला तथा दक्षिण के शासकों तथा सामान्य जनता ने धीरे-धीरे जैन एवं बौद्ध धर्मों का परित्याग कर भक्तिपरक शैव एवं वैष्णव धर्मों को ग्रहण कर लिया। इस प्रकार तमिल देश से जैन एवं बौद्ध धर्मों का विलोप हो गया।

पल्लव राजाओं का शासन काल नायनारों तथा आलवरों के भक्ति आन्दोलनों के लिए विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह आन्दोलन ईसा की छठीं शताब्दी से प्रारम्भ होकर नवीं शताब्दी तक चलता रहा। इस काल में दोनों सम्प्रदायों के अनेक संतों का अविर्भाव हुआ जिन्होंने अपने-अपने प्रवचनों द्वारा जनता के दिलों में भक्ति की लहर दौड़ा दी। इनके प्रभाव में आकार पल्लव शासकों ने शैव तथा वैष्णव धर्मों को ग्रहण किया तथा शिव और विष्णु के सम्मान में मंदिर एवं मूर्तियों का निर्माण करवाया। भक्ति आन्दोलनों के फलस्वरूप सुदूर दक्षिण में मूर्तिपूजा, अवतारवाद, यज्ञ कर्मकाण्ड आदि का व्यापक रूप से प्रचार-प्रसार हुआ। पल्लव काल में शैव धर्म का प्रचार नायनारों द्वारा ही किया गया। नायनार सन्तों की संख्या 63 बतायी गयी है। जिनके अप्पार, तिरुज्ञान, सम्बन्दर, सुन्दरमूर्ति मणिककवाचगर आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनके भक्तिगीतों को एक साथ 'देवरम' में संकलित किया गया है। इनमें अप्पार जिसका दूसरा नाम तिरुनाबुक्करशु भी मिलता है, पल्लव नरेश महेन्द्र वर्मन का समकालीन था। उसका जन्म तिरुगमूर के बेल्लाल परिवार में हुआ था। बताया जाता है कि पहले वह एक जैन मठ में रहते हुए भिक्षु जीवन व्यतीत करता था। बाद में शिव की कृपा से उसका एक असाध्य रोग ठीक हो गया जिसके फलस्वरूप जैन मत का परित्याग कर वह निष्ठावान शैव बन गया। अप्पार ने दास भाव, शिव की भक्ति की तथा उसका प्रचार जनसाधारण में किया।

निरुज्ञान सम्बन्दर शियाली (तन्जोर जिला) के एक ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुआ था। उसके विषय में एक कथा में बताया गया है कि तीन वर्ष की आयु में ही पार्वती की कृपा से उसे दैवीज्ञान प्राप्त हो गया था। उसके पिता ने उसे सभी तीर्थों का भ्रमण कराया। कहा जाता है कि पाण्ड्य देश की यात्राकर उसने वहीं के राज तथा प्रजा को जैन धर्म से शैव धर्म में दीक्षित किया था। सम्बन्दर का बौद्ध आचार्यों के साथ भी वाद-विवाद हुआ तथा उसने शास्त्रार्थ में पराजित किया। उसने कई भक्ति गीत गाये तथा इस प्रकार उसकी मान्यता सबसे पवित्र सन्त के रूप में हो गयी। आज भी तमिल देश के अधिकांश शैव मंदिरों में उसकी पूजा की जाती है। सुन्दरमूर्ति का जन्म नावलूर के एक निर्धन ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उसका पालन-पोषण नर सिंह मुवैयदरेयन नामक सेनापति ने किया। यद्यपि उसका जीवन काल मात्र 18 वर्षों का रहा फिर भी वह अपने समय का अनन्य शैव भक्त बन गया। उसने लगभग एक सहस्र भक्तिगीत लिखे। सुन्दरमूर्ति को 'ईश्वरमित्र' की उपाधि से सम्बोधित किया गया।

इसी प्रकार मणिककवाचगर मदुरा के समीप एक गांव के ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुआ था। चिदम्बरम् में उसने लंक के बौद्धों को वाद-विवाद में परास्त कर ख्याति प्राप्त किया। उसने भी अनेक भक्तिगीत लिखे जिन्हें 'तिरुवाशगम्' में संग्रहित किया गया है। उसके गीतों में प्रेम तत्व की प्रधानता है। उसके द्वारा विचरित एक भक्तिगीत बहुत प्रसिद्ध हुआ। इन सभी शैव सन्तों ने भजन् कीर्तन, शास्त्रार्थ एवं उपदेशों आदि के माध्यम से तमिल समाज में शैवभक्ति का जोरदार प्रचार किया तथा भक्ति को ईश्वर प्राप्ति का एकमात्र साधन बताया। ये जाति-पाति के विरोधी थे तथा उन्होंने समाज के सभी वर्गों के बीच जाकर अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया। नायनार सन्तों ने पल्लव शासकों तथा अन्य राजकुल के सदस्यों को भी प्रभावित किया। परिणामस्वरूप न केवल शैव बने अपितु इस धर्म के प्रचार-प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान भी दिया। महेन्द्र वर्मन प्रथम ने जैन धर्म का परित्याग कर सन्त अप्पार के प्रभाव से शैव धर्म ग्रहण किया। उसके

उत्तराधिकारी नरसिंह वर्मन प्रथम ने शिव की उपासना में कई मंदिर बनवाये थे। परमेश्वर वर्मन प्रथम शिव का अनन्य उपासक था जिसकी उपाधि 'माहेश्वर' की थी। नरसिंह वर्मन द्वितीय ने भी शैव धर्म ग्रहण किया तथा उसने शिव का विशाल मंदिर बनवाया था। इन शासकों के अनुकरण पर सामान्य जनता भी शैव धर्म की ओर आकर्षित हो गयी। इस धर्म के सामान्य सिद्धान्तों के साथ-साथ कालान्तर में शैव दर्शन का भी तमिल समाज में प्रचार हो गया।

शैव धर्म के साथ-साथ पल्लव कालीन समाज में वैष्णव धर्म का भी प्रचार हुआ। तमिल देश में इस धर्म का प्रचार मुख्यतया 'आलवर' सन्तों द्वारा किया गया। आलवर शब्द का अर्थ अर्न्तज्ञान रखने वाला वह व्यक्ति जो चिन्तन में पूर्णतया विलीन हो गया हो, इनकी संख्या 12 बतायी गयी है। 1. भूतयोगी, 2. सरोयोगी, 3. महायोगी, 4. भक्तिसार, 5. परांकुश मुनि या शठकोप, 6. मधुरकवि, 7. कुलशेखर, 8. विष्णुचित, 9. गोदा, 10. भक्तिधारेण, 11. योगिवाह तथा 12. परकाल। इनका आविर्भाव सातवीं से नवीं शताब्दी के मध्य हुआ। प्रारम्भिक आलवर सन्तों में पोयगई पोडिय तथा पेय के नाम मिलते हैं जो क्रमशः कोपी, मल्लई तथा मयलापुरम के निवासी थे। इन्होंने सीधे तथा सरल ढंग से भक्ति का उपदेश दिया। इनके विचार संकीर्णता अथवा साम्प्रदायिक तनाव से रहित थे। इनके बाद तिरुमलिशई का नाम मिलता है जो सम्भवतः पल्लव नरेश महेन्द्र वर्मन प्रथम के समय में हुआ। तिरुमंगई अत्यन्त प्रसिद्ध आलवर सन्त हुआ। अपनी भक्तिगीतों के माध्यम से जैन तथा बौद्ध धर्मों पर आक्रमण करते हुए उसने वैष्णव धर्म का जोरदार प्रचार किया। कहा जाता है कि श्रीरंगम् के मठ की मरम्मत के लिए उसने नेगपट्टम के बौद्ध विहार से एक स्वर्ण मूर्ति चुरायी थी। शैवों के प्रति उसका दृष्टिकोण अपेक्षाकृत उदार था। आलवरों में एकमात्र महिला साध्वी आण्डाल का नाम मिलता है जिसके भक्तिगीतों में कृष्ण-कथायें अधिक मिलती हैं। मध्ययुगीन कवियित्री मीराबाई की कृष्ण भक्ति के समान आण्डाल भी कृष्ण की प्रेम दीवानी थी। आलवर सन्तों की अंतिम कड़ी के रूप में नाम्मालवार तथा उसके प्रिय शिष्य मधुर कवि के नाम उल्लेखनीय हैं। नाम्मालवार का जन्म तिनेवेली जिले के एक बेल्लाल कुल में हुआ था। उसने बड़ी संख्या में भक्तिगीत लिखे विष्णु को अनन्त एवं सर्वव्यापी मानते हुए उसने बताया कि उसकी प्राप्ति एक मात्र भक्ति से ही संभव है।

नाम्मालवार के शिष्य मधुर कवि ने अपने गीतों के माध्यम से गुरु महिमा का बखान किया। आलवर सन्तों ने ईश्वर के प्रति अपनी उत्कट भक्ति भावना के कारण अपने को पूर्णरूपेण उसमें समर्पित कर दिया। उनकी मान्यता थी कि समस्त संसार ईश्वर का शरीर है तथा वास्तविक आनन्द उसकी सेवा करने में ही है। आलवर की तुलना उस बिरहणी युवती के साथ की गयी है जो अपने प्रियतम के विरह वेदना में अपने प्राण खो देती है। आलवरों ने भजन, कीर्तन, नामोच्चारण, मूर्तिदर्शन आदि के माध्यम से वैष्णव धर्म का प्रचार किया। वे गोपीभाव को सर्वोच्च मानते हैं तथा भगवान के प्रति विरह में तन्मय हो जाते हैं। भगवान के प्रति उत्कट प्रेम ही भक्ति है। अज्ञानी व्यक्तियों की जिस प्रकार विषयभोगों में उत्कट प्रीति होती है उसी प्रकार उत्कट प्रीति जब नित्य भगवान में होती है, तब भक्ति का उदय होता है। जैसे कोई प्रेमिका अपने प्रियतम के विरह में निरन्तर उसका चिन्तन किया करती है या उत्कट प्रेम में लीन होकर प्रियतम से मिलने को आतुर रहती है वैसे ही भक्त की मनोदशा अपने प्रियतम परमात्मा के मिलन के लिए होती है। आलवर सन्त भक्ति को 'काम' कहते हैं किन्तु यह लौकिक काम से भिन्न सच्चिदानन्द भगवान के प्रति दिव्य प्रेम है। जिस प्रकार कालिदास के यज्ञ ने मेघ को दूत बनाकर अपनी प्रियतमा के पास भेजा था, उसी प्रकार आलवर सन्त भी उड़ते हुए हंसों तथा पक्षियों को दूत बनाकर उनसे निवेदन करते हैं कि यदि उन्हें कहीं उनके प्रियतम कृष्ण दिखाई पड़े तो उनसे कहें कि वे क्यों उन्हें भूल गये और उनके पास नहीं आते।

आलवर सन्त नश्वर संसार के विषयों से उसी प्रकार संपृक्त नहीं होते जैसे कीचड़ में से कमल। इस प्रकार आलवर सच्चे विष्णु भक्त थे। श्रीमद्भागवत में आत्मनिवेदन अर्थात् ईश्वर में पूर्ण समर्पण की सर्वोच्च भक्ति

माना गया है। आलवर सन्तों ने प्रेमभक्ति द्वारा आत्म समर्पण को ही सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया। लगता है कि वैष्णव आन्दोलन का प्रारम्भ सर्वप्रथम पल्लवों के राज्य से ही हुआ तथा उसके बाद यह दक्षिण के अन्य भागों में पहुँचा। आलवर सन्तों के प्रभाव में आकर कई पल्लव राजाओं ने वैष्णव धर्म को ग्रहण कर उसे राजधर्म बनाया तथा विष्णु के सम्मान में मंदिरों में आदिबाराह मंदिर का निर्माण कराया था। नरसिंह वर्मन द्वितीय के समय में काच्ची में वैकुण्ठपेरुमल मंदिर का निर्माण करवाया गया। दन्तिवर्मा भी विष्णु का महान उपासक था। लेखों में उसे विष्णु का अवतार बताया गया है। इस प्रकार पल्लवकालीन समाज में नायनार तथा आलवर सन्तों द्वारा प्रवर्तित भक्ति आन्दोलन बड़े वेग से प्रचलित हुआ। सन्तों ने अनेक भक्तिगीत लिखे जिन्हें मंदिरों में गाया जाता था। वस्तुतः मंदिर इस काल की धार्मिक गतिविधियों के प्रमुख केन्द्र थे।

1.8 पल्लवकालीन कला तथा स्थापत्य कला

पल्लव नरेशों का शासनकाल कला एवं स्थापत्य की उन्नति के लिए प्रसिद्ध है। वस्तुतः उनकी वास्तु एवं तक्षण कला दक्षिण भारतीय कला के इतिहास में सर्वाधिक गौरवशाली अध्याय है। पल्लव वास्तु कला ही दक्षिण के द्रविड़ कला शैली का आधार बनी। उसी से दक्षिण भारतीय स्थापत्य की तीन प्रमुख अंगों का जन्म हुआ। 1—मण्डप, 2—रथ, 3—विशाल मंदिर। प्रसिद्ध कलाविद् पर्सी ब्राउन ने 'पल्लव' वास्तुकला के विकास की शैलियों को चार भागों में विभक्त किया है। इनका विवरण निम्न है।

1.9 महेन्द्र शैली

पल्लव वास्तु का प्रारम्भ महेन्द्रवर्मन प्रथम के समय से हुआ जिसकी उपाधि 'विचित-चित्र' की थी। मण्डप पट्ट लेख में वह दावा करता है कि उसने ईंट, लकड़ी, लोहा, चूना आदि के प्रयोग के बिना एक नयी वास्तु शैली को जन्म दिया। यह नयी शैली 'मण्डप वास्तु' की थी जिसके अन्तर्गत गुहा मंदिरों के निर्माण की परम्परा प्रारम्भ हुई। तोण्डामण्डलम् की प्रकृत शिलाओं को उत्कीर्ण कर मंदिर बनाये गये जिन्हें 'मण्डप' कहा जाता है। ये मण्डप साधारण स्तम्भयुक्त बरामदे हैं जिनकी पिछली दीवार में एक या अधिक कक्ष बनाये गये हैं। इनके पार्श्व भाग में गर्भगृह रहता है। शैव मण्डप के गर्भगृह में लिंग तथा वैष्णव मण्डप के गर्भगृह में विष्णु प्रतिमा स्थापित रहती थी। मण्डप के बाहर बने मुख्य द्वार पर द्वारपालों की मूर्तियाँ मिलती हैं जो कि कलात्मक दृष्टि से उच्चकोटि की हैं। मण्डप के सामने स्तम्भों की एक पंक्ति मिलती है। प्रत्येक स्तम्भ सात फीट ऊँचा है। स्तम्भ संतुलित ढंग से नियोजित किये गये हैं तथा दो स्तम्भों के बीच समान दूरी बड़ी कुशलतापूर्वक रखी गयी है। स्तम्भों के तीन भाग दिखाई देते हैं। आधार तथा शीर्ष भाग पर दो फीट का आयत प्रायः चौकोर है जिनके ऊपर के शीर्ष सिंहाकार बनाये गये हैं। महेन्द्र शैली के मण्डपों में मण्डगपट्टु का त्रिमूर्ति मण्डप, पल्लवरम का पच्चपाण्डव मण्डप, महेन्द्रवाड़ी का महेन्द्रविष्णु गृहमण्डप, मामण्डूर का विष्णु मण्डप त्रिचनापल्ली का ललितांकुर पल्लेश्वर गृहमण्डप आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस शैली के प्रारम्भिक मण्डप सादे तथा अलंकरण रहित हैं किन्तु बाद के मण्डपों को अलंकृत करने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। पच्चपाण्डव मण्डप में छः अलंकृत स्तम्भ लगाये गये हैं। इन पर कमल फुल्लक, मकर तोरण, तरंग मंजरी आदि के अभिप्राय अंकित हैं। महेन्द्रवर्मा प्रथम के बाद भी कुछ समय तक इस शैली का विकास होता रहा।

1.10 मामल्ल शैली

इस शैली का विकास नरसिंह वर्मा प्रथम मामल्ल के काल में हुआ। इसके अन्तर्गत दो प्रकार के स्मारक बने—मण्डप तथा एकात्मक मंदिर जिन्हें रथ कहा गया है। इस शैली में निर्मित सभी स्मारक मामल्लपुरम या महाबलिपुरम में विद्यमान हैं। यहां मुख्य पर्वत पर दस मण्डप बनाये गये हैं। इनमें आदिबाराह मण्डप, महिषमर्दिनी मण्डप, पच्चपाण्डव मण्डप, रामानुज मण्डप आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। इन्हें विविध प्रकार से

अलंकृत किया गया है। मण्डपों का आकार प्रकार बड़ा नहीं है। मण्डपों के स्तम्भ पहले की अपेक्षा पतले तथा लम्बे हैं। इनके ऊपर पद्म, कुम्भ, फलक आदि का अलंकरण बने हुए हैं। स्तम्भों को मण्डपों में अत्यन्त अलंकृत ढंग से नियोजित किया गया है। मण्डप अपनी मूर्तिकारी के लिए प्रसिद्ध है। इनमें उत्कीर्ण महिषमर्दिनी, अनन्तशायी विष्णु, त्रिविक्रम, ब्रह्मा, गजलक्ष्मी, हरिहर आदि की मूर्तियां कलात्मक दृष्टि से उत्कृष्ट हैं। पञ्चपाण्डव मण्डप में कृष्ण द्वारा गोवर्धन पर्वत धारण किये जाने का दृश्य अत्यन्त सुन्दर है। आदिबाराह मण्डप में राज परिवार के दो दृश्यों का अंकन मिलता है। पहली मूर्ति में राजा सुखासन मुद्रा में बैठा है जिसके दोनों ओर उसकी दो रानियां खड़ी हैं। इसकी पहचान सिंहविष्णु से की गयी है। दूसरी मुद्रा में राजा महेन्द्र (महेन्द्र वर्मन द्वितीय) अपनी दो पत्नियों के साथ खड़ा दिखाया गया है। मामल्लशैली के मण्डप महेन्द्र शैली के विकसित रूप को प्रकट करते हैं। इनकी कलात्मकता बराह, महिष तथा पञ्चपाण्डव मण्डपों में स्पष्टतः दर्शनीय है।

1.11 रथ मंदिर महाबलिपुरम

मामल्ल शैली की दूसरी रचना रथ अथवा एकाश्मक मंदिर है। पल्लव वास्तुकारों ने विशाल प्रकृत चट्टानों को काटकर जिन एकाशय पूजागृहों की रचना की उन्हीं को रथ कहा जाता है। इनके निर्माण की परम्परा नरसिंह वर्मन के समय से ही प्रारम्भ हुई। इसके लिये उस समय तक प्रचलित समाज वास्तु नमूनों से प्रेरणा ली गयी। इन्हें देखने से पता चलता है कि शिला के अनावश्यक भाग को अलग कर अपेक्षित स्वरूप को ऊपर से नीचे की ओर उत्कीर्ण किया जाता था। रथ मंदिरों का आकार-प्रकार अन्य कृतियों की अपेक्षा छोटा है। ये अधिक से अधिक 42 फुट लम्बे, 35 फुट चौड़े तथा 40 फुट ऊँचे हैं तथा पूर्ववर्ती गुहा विहारों अथवा चैत्यों की अनुकृति पर निर्मित प्रतीत होते हैं।

प्रमुख रथ द्रोपदी रथ, नकुल-सहदेव रथ, अर्जुनरथ, भीमरथ, धर्मराज रथ, गणेशरथ, जिडारिरथ तथा वल्लयेकुट्टे रथ। प्रथम पांच दक्षिण में तथा अंतिम तीन उत्तर और उत्तर-पश्चिम में स्थित है। ये सभी शैव मंदिर प्रतीत होते हैं। द्रोपदी रथ सबसे छोटा है। यह सचल देवायतन की अनुकृति है जिसका प्रयोग उत्सव और शोभा यात्रा के समय किया जात है, जैसे पुरी का रथ। इसका आकार झोपड़ी जैसा है। इसमें किसी प्रकार का अलंकरण नहीं मिलता तथा यह एक सामान्य कक्ष की भांति खोदा गया है। यह सिंह जैसे पशुओं के आधार पर टिका हुआ है। अन्य सभी रथ बौद्ध विहारों के समान समचतुस आयताकार हैं तथा इनके शिखर नागर अथवा द्रविड़ शैली में बनाये गये हैं। विमान के विविध तत्त्वों-अधिष्ठान, पादभित्ति, प्रस्तर, ग्रीवार शिखर तथा स्तूप इनमें स्पष्टतः दिखाई देते हैं। गणेश रथ का शिखर वेसर शैली में निर्मित है। धर्मराज रथ सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसके ऊपर पिरामिड के आकार का शिखर बनाया गया है। मध्य में वर्गाकार कक्ष तथा नीचे स्तम्भयुक्त बरामदा है। कुर्सी में गढ़े हुए सुदृढ़ टुकड़ों तथा सिंह स्तम्भयुक्त अपनी डयोढ़ियों से यह और भी सुन्दर प्रतीत होता है। पर्सी ब्राउन के शब्दों में 'इस प्रकार की योजना न केवल अपने में एक प्रभावपूर्ण निर्माण है अपितु शक्तियों से परिपूर्ण होने के साथ-साथ सुष्पद रूपों तथा अभिप्रायों का भण्णर है। इसे द्रविड़ मंदिर शैली का अग्रदूत कहा जा सकता है। भीम, सहदेव तथा गणेश रथों का निर्माण चैत्यग्रहों जैसा है। ये दीर्घाकार हैं तथा इनमें दो या अधिक मंजिल है, और तिकोने किनारों वाली पीपे जैसी छतें हैं सहदेव रथ 'अर्धवृत्त' के आकार का है। पिंडारी तथा वलेयंकु है रथों का निर्माण अधूरा है। नीलकण्ठ शास्त्री के अनुसार 'इन रथों की दीर्घाकार आयोजना छोटी होती जाने वाली मंजिलों और कलशों तथा नुकीले किनारों के साथ पीपे के आकार वाली छतों के आधार पर ही बाद के गोपुरों अथवा मंदिरों की प्रवेश बुर्जियों की डिजाइन तैयार की गयी होगी।

मामल्लशैली के रथ अपनी मूर्तिकला के लिए भी प्रसिद्ध हैं। नकुल-सहदेव रथ के अतिरिक्त अन्य सभी रथों पर विभिन्न देवी-देवताओं जैसे-दुर्गा, इन्द्र, शिव, गंगा, पार्वती, हरिहर, ब्रह्मा, स्कन्द आदि की मूर्तियां

उत्कीर्ण मिलती हैं। द्रोपदी रथ की दीवारों में तक्षित दुर्गा तथा अर्जुन रथ की दीवारों में बनी शिव की मूर्तियां विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। धर्मराज रथ पर नरसिंह वर्मा की मूर्ति अंकित है। इन रथों को 'सात पगोडा' कहा जाता है। दुर्भाग्यवश इनकी रचना अपूर्ण रह गयी है।

1.12 राजसिंह शैली

इस शैली का प्रारम्भ पल्लव नरेश नरसिंह वर्मन द्वितीय 'राजसिंह' ने किया। इसके अन्तर्गत गुहा मंदिरों के स्थान पर पाषाणविद आदि की सहायता से इमारती मंदिरों का निर्माण करवाया गया। इस शैली के मंदिरों में से तीन महाबलीपुरम से प्राप्त होते हैं। शोर मंदिर (तटीय शिव मंदिर) ईश्वर मंदिर तथा मुकुन्द मंदिर। शोर मंदिर इस शैली का प्रथम उदाहरण है। उनके अतिरिक्त पनमलाई (उत्तरी अकिट) मंदिर तथा काच्ची के कैलाशनाथ एवं वैकुण्ठपेरुमल मंदिर भी उल्लेखनीय हैं। महाबलीपुरम के समुद्र तट पर स्थित शोर मंदिर पल्लव कलाकारों की अदभुत कारीगरी का नमूना है। मंदिर का निर्माण एक विशाल प्रांगण में हुआ जिसका प्रवेश द्वार पश्चिम की ओर है। इसका गर्भगृह धर्मराज रथ के समान वर्गाकार है जिसके ऊपर अष्टकोणिक शंङाकार विमान कई तल्लों वाला है। ऊपरी किनारे पर बाद में दो और मंदिर जोड़ दिये गये। इनमें से एक छोटा विमान है। बड़े हुए भागों के कारण मुख्य मंदिर की शोभा में कोई कमी नहीं आने पाई है। इसका शिखर सीढ़ीदार है तथा उसके शीर्ष पर स्तूपिका बनी हुई है। यह अत्यन्त मनोहर है। दीवारों पर गणेश, स्कन्द, गज, शार्दूल आदि की मूर्तियां उत्कीर्ण मिलती हैं। इसमें सिंह की आकृति को विशेष रूप से खोद कर बनाया गया है। घेरे की अन्य दीवार के मुडेर पर उँकडू बैठे हुए बैलों की मूर्तियां बनी हैं। तथा बाहरी भाग के चारों ओर थोड़ी-थोड़ी अन्तराल पर सिंह-भित्ति-स्तम्भ बने हैं। इस प्रकार यह द्रविड़ वास्तु की एक सुन्दर रचना है। शताब्दियों की प्राकृतिक आपदाओं की उपेक्षा करते हुए यह आज भी अपनी सुन्दरता को बनाये हुए है।

कांची स्थित कैलाशनाथ मंदिर राजसिंह शैली के चरम उत्कीर्ण को व्यक्त करता है। इसका निर्माण नरसिंह वर्मन द्वितीय 'राजसिंह' के समय से प्रारम्भ हुआ तथा उसके उत्तराधिकारी महेन्द्रवर्मन द्वितीय के समय में इसकी रचना पूर्ण हुई द्रविड़ शैली की सभी विशेषताओं जैसे-परिवेष्टित प्रांगण, गोपुरम, स्तम्भयुक्त मण्डप विमान आदि का इस मंदिर में एक साथ प्राप्त हो जाती है। इसके निर्माण में ग्रेनाइट तथा बलुआ पत्थरों का उपयोग किया गया है। इसका गर्भगृह आयताकार है। जिसकी प्रत्येक भुजा 9 फुट है। इसमें पिरामिडनुमा विमान तथा स्तम्भयुक्त मण्डप है। मुख्य विमान के चारों ओर प्रदक्षिणापथ है। स्तम्भों पर आधारित मण्डप मुख्य विमान से कुछ दूरी पर है। पूर्वी दिशा में गोपुरम दुतल्ला है। सम्पूर्ण मंदिर उँचे परकोटों से घिरा हुआ है। मंदिर में शैव सम्प्रदाय एवं शिव-लीलाओं से सम्बन्धित उनके सुन्दर-सुन्दर मूर्तियां अंकित हैं जो उसकी शोभा को द्विगुणित करती हैं। कैलाशनाथ मंदिर के कुछ बाद का बना वैकुण्ठपेरुमल का मंदिर है। उसका निर्माण परमेश्वरवर्मन द्वितीय के समय में हुआ था। यह भगवान विष्णु का मंदिर है जिसमें प्रदक्षिणापथयुक्त गर्भगृह एवं सोपानयुक्त मण्डप है। मंदिर का विमान वर्गाकार एवं चारतल्ला है। प्रथम तल्ले में विष्णु की अनेक मुद्राओं में मूर्तियां बनी हैं। साथ ही साथ मंदिर की भीतरी दीवारों पर युद्ध, राज्याभिषेक, अश्वमेघ, उत्तराधिकार चयन, नगर-जीवन, आदि के दृश्यों को भी अत्यन्त सजीवता एवं कलात्मकता के साथ उत्कीर्ण किया गया है। ये विविध चित्र रिलीफ स्थापत्य के सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

1.13 नन्दिवर्मन शैली

इस शैली के अन्तर्गत अपेक्षाकृत छोटे मंदिरों का निर्माण हुआ। इसके उदाहरण काच्ची के मुक्तेश्वर एवं मातंगेश्वर मंदिर, ओरगड्म का वडमल्लिश्वर मंदिर, तिरुवैन का वीरट्टानेश्वर मंदिर, गडिडमल्ल का परभुरामेश्वर मंदिर आदि हैं। काच्ची के मंदिर इस शैली के प्राचीनतम नमूने हैं। इनमें प्रवेश द्वार पर स्तम्भ

युक्त मण्डप बने हैं। शिखर वृताकार अर्थात् वेसर शैली का है। विमान तथा मण्डप एक ऊँची चौकी पर स्थित हैं। छत चिपटी है। शैली की दृष्टि से ये धर्मराज रथ की अनुकृति प्रतीत होती है। इसके बाद के मंदिर चोल-शैली से प्रभावित एवं उसके निकट है। इस प्रकार पल्लव राजाओं का शासन काल कला एवं स्थापत्य की उन्नति के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध रहा। पल्लव कला का प्रभाव कालान्तर में चोल तथा पाण्ड्य कला पर पड़ा तथा यह दक्षिण पूर्व एशिया में भी पहुँची।

1.14 सारांश

पल्लव शासकों ने (550 से 980 ई.) तक शासन किया। इस शासन के अन्तर्गत उन्होंने प्रशासनिक, धार्मिक, राजनैतिक, तथा साहित्यिक क्षेत्रों में अपूर्व योगदान प्रदान किया। उनकी शासन व्यवस्था का स्वरूप मौर्यों तथा गुप्तों की शासन पद्धति से मेल खाता प्रतीत होता है। उन्होंने शासन संचालन के लिए उसको कई भागों में बांट रखा था। धर्म के क्षेत्र में हम देखते हैं कि पल्लव काल में जैन व बौद्ध धर्म के स्थान पर शैव धर्म वैष्णव धर्म का ज्यादा विकास हुआ तथा इसी के अनुसार मंदिरों का निर्माण भी हुआ। स्थापत्य कला के क्षेत्र में नयी-नयी कला शैलियों का विकास हुआ। जिसका प्रभाव चोल कला में अधिक दिखाई देता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

- प्र0 1— पल्लव शासकों की कलात्मक रुचि का वर्णन कीजिए ?
प्र0 2— पल्लव कालीन धार्मिक आन्दोलनों की व्याख्या कीजिए ?
प्र0 3— पल्लव कालीन शासन प्रबन्ध की रूपरेखा प्रस्तुत कीजिए ?
प्र0 4— पल्लव कालीन विभिन्न शैलियों का वर्णन कीजिए ?
प्र0 5— पल्लव कालीन स्थापत्य कला का मूल्यांकन कीजिए ?

1.15 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. नीलकंठ, शास्त्री, दक्षिण भारत का इतिहास
2. के.सी. श्रीवास्तव, प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति
3. बी.बी. सिन्हा, भारत का इतिहास
4. बी.एन. लूनिया, प्राचीन भारतीय संस्कृति

इकाई दो: चोलकालीन संस्कृति

- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 उद्देश्य
- 2.3 चोलकालीन सामाजिक दशा
- 2.4 चोलकालीन आर्थिक व्यवस्था
- 2.5 चोल प्रशासन
 - 2.5:1 सम्राट
 - 2.5:2 अधिकारी तंत्र
- 2.6 स्थानीय प्रशासन
 - 2.6:1 ग्राम शासन
 - 2.6:2 उर
 - 2.6:3 सभा या महासभा
 - 2.6:4 अन्य समुदाय तथा निगम
- 2.7 न्याय व्यवस्था
- 2.8 भूमि तथा राजस्व
- 2.9 अन्य कर
- 2.10 सैन्य संगठन
- 2.11 धार्मिक दशा
- 2.12 साहित्य
- 2.13 कला और स्थापत्य कला
- 2.14 शिल्पकला
- 2.15 चित्रकला
- 2.16 सारांश
- 2.17 अभ्यासार्थ प्रश्न
- 2.18 सन्दर्भ ग्रन्थ

2.1 प्रस्तावना

दक्षिण भारत के राज्यों में नवीं शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी तक चोल राज्य विशेष महत्वशाली रहा है। चोल राज्य का प्रधान केन्द्र वर्तमान तंजाऊर और तिरुच्चिनापल्ली के जिले थे और यहीं क्षेत्र चोल मण्डलम या चोल देश नाम से विख्यात हुआ। चोल नरेश महान कला प्रेमी और निर्माता थे। उन्होंने अनेक बड़े भवन, राजप्रसाद, एवं भव्य मंदिर निर्मित किये सुन्दर नगर और सैनिक बस्तियाँ योजना पूर्वक बनायीं। नदियों पर बाँध, कत्रिम झीलें निर्माण की, सिंचाई के लिए छोटी-बड़ी नहरें निकाली तथा विस्तृत सड़कों और राजमार्ग बनवाये। चोल नरेश अपने विशाल भव्य भवनों, मंदिरों के निर्माण तथा धातु एवं पाषाण की बनी हुई देवी-देवताओं की मूर्तियों के लिए विशेष रूप से विख्यात हैं। परन्तु चोल संस्कृति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष उसकी शासन व्यवस्था है। चोल सम्राटों ने एक विशिष्ट शासन व्यवस्था का निर्माण किया जिसमें प्रबल केन्द्रीय नियंत्रण के साथ ही बहुत अधिक मात्रा में स्थानीय स्वयत्तता (सवबंस नजवदवउल) भी थी।

2.3 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप जान सकेंगे कि—

- चोलकालीन सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था।
 - चोलों का शासन—प्रबन्ध एवं स्थानीय—स्वशासन।
 - चोलों के राजस्व एवं न्याय व्यवस्था।
 - चोल कालीन धार्मिक दशा।
 - चोलकाल में शिक्षा और साहित्य की प्रगति।
 - चोलकालीन कला और स्थापत्यकला।
-

2.3 चोलकालीन सामाजिक दशा

चोलकाल में सामाजिक जीवन सुखी, सम्पन्न एवं संतोषजनक था। लोगों का आपस में प्रेम था। तथा सभी जातियाँ एक दूसरे के साथ सहयोगपूर्ण रहती थी। मद्यपि समाज वर्ण-व्यवस्था पर आधारित था। पर अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाहों का प्रचलन था, परिणामस्वरूप समाज में अनेक उपजातियों का प्रादुर्भाव हो चुका था। समाज में स्त्रियों की दशा अच्छी थी। पर्दा-प्रथा का प्रचलन नहीं था। स्त्रियों के सामाजिक जीवन तथा कार्यों पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया था। उन्हें सम्पत्ति पर भी अधिकार था। वे अपनी इच्छानुसार सम्पत्ति बेच भी सकती थी। सती प्रथा का प्रचलन कम था, पर परान्तक द्वितीय की रानी वन्तन महादेवी अपने पति की मृत्यु पर चिता में जलकर भष्म हो गयी थी। समाज में नर्तकियों/द्वेवदासियों भी रहती थी। वे नृत्यगान में निपुण होती थी। अपने रूप एवं लावण्य से वे नवयुवकों को पथभ्रष्ट भी करती थी। अधिकांश देवदासियाँ मंदिर में रहती थी, और विशेष अवसरों पर नृत्य द्वारा देवताओं को प्रसन्न करती थी। कुछ देवदासियाँ विवाह कर कुशल गृहिणी बन जाती थी।

2.4 चोलकालीन आर्थिक व्यवस्था

चोलकाल में कृषि और उद्योग धंधे जीविका के मुख्य साधन थे अधिकांश लोग ग्रामों में बसे हुए थे और कृषि कार्यों में लगे हुए थे। कृषक भूमि का स्वामी होता था और भूमि का स्वामित्व समाज में सम्मान का काम माना जाता था। भूमि पर व्यक्तियों और समुदायों का अधिकार रहता था। कृषि की उन्नति के लिए राज्य सचेष्ट रहता था। कावेरी नदी से अनेक नहरें निकाली गई थी। करिकाल चोल के समय में कावेरी नदी पर बाँध बंधवाया गया था। सिंचाई के लिए कुँए, तालाब और जलाशय खुदवाए गये थे। उत्तरमेरूर में वैरुमेघतडाग का निर्माण किया गया था। परान्तक ने वीरचोलन नामक तालाब खुदवाया था। ग्राम सभाएँ

सिंचाई का प्रबन्ध भी करती थी। राज्य की ओर से समय-समय पर भूमि का माप तथा वर्गीकरण कराया जाता था। चोल नरेश दुर्भिक्ष के रोकथाम के लिए भी सचेष्ट रहते थे, फसल नष्ट होने पर भू-राजस्व की वसूली नहीं होती थी। कुछ लोग पशुपालन में लगे हुए थे। पशुपालन का व्यवसाय करने वाले मंचादि कहलाते थे। मंचादियों का एक व्यवसायिक वर्ग बन गया था।

चोल शासक अपने साम्राज्य में राजमार्गों का प्रयोग कराते थे, जिससे आंतरिक व्यापार को बड़ा प्रोत्साहन मिला। पेरुबलि या राजमार्गों द्वारा आन्द्र, पश्चिमी चालुक्य और कोंगू देश एक दूसरे से मिलते थे। व्यापारियों की अनेक श्रेणियाँ रहती थी जो व्यापार का निरीक्षण करती थी। नाना देश तिसैयारित्तु अयन्नुवरुव नामक एक विशाल व्यापारिक श्रेणी का उल्लेख मिलता है। इस व्यापारिक श्रेणी के सदस्य समुद्र पार के देशों से व्यापार करते थे। चीन, मलाया, पूर्वीद्वीप समूह तथा फारस की खाड़ी इत्यादि देशों से दक्षिण भारत के निवासियों का व्यापारिक सम्बन्ध था। 1077 ई. में कुलोतुंग ने 72 सौदागरों का एक दूत मण्डल चीन में भेजा। महाबलिपुरम, कावेरीपट्टनम, शालपुर, कोरकोय तथा क्वीलान बड़े-बड़े बंदरगाहों में परिवर्तित हो गये और चोलों की नौसैनिक शक्ति काफी मजबूत हो गयी।

2.5 चोल प्रशासन

चोल प्रशासन संगठित, दृढ़ एवं अत्यन्त कार्यकुशल था। चोल प्रशासन के अध्ययन के लिए हमें मुख्यतः लेखों पर निर्भर रहना पड़ता है। साथ ही साथ इस काल के साहित्य तथा विदेशी यात्रियों के विचरण से भी यथोचित जानकारी मिलती है चोल प्रशासन में अधोलिखित विभिन्न अंग थे।

2.5:1 सम्राट

चोल साम्राज्य अपने उत्कर्ष काल में सम्पूर्ण दक्षिण भारत में फैला हुआ था। अन्य युगों की भांति इस समय भी शासन का स्वरूप राजतंत्रात्मक ही था, किन्तु राजा के अधिकारों, आचरण एवं उनकी शान-शौकत में पहले से अधिक वृद्धि हो गयी। उसका अभिषेक एक भव्य राजप्रसाद में होता था और यह एक प्रभावशाली उत्सव हुआ करता था। शासक 'चक्रवर्तिगल', त्रिलोक सम्राट जैसे उच्च सम्मानपरक उपाधियाँ ग्रहण करते थे। मंदिरों में सम्राट की प्रतिमा भी स्थापित की जाती थी तथा मृत्यु के बाद दैव रूप में उनकी पूजा होती थी। तंजोर के मंदिर में सुन्दर चोल (परान्तक द्वितीय) तथा राजेन्द्र चोल की प्रतिमायें स्थापित की गयी थी। सम्राट का आदेश अक्सर मौखिक होता था जो उसके पदाधिकारियों द्वारा विभिन्न प्रान्तों में सावधानीपूर्वक लिखकर पहुँचा दिये जाते थे। सम्राट प्रायः अपने जीवनकाल में ही युवराज का चुनाव कर लेता था जो उसके बाद उसका उत्तराधिकारी बनाता था। सम्राट के कार्यों में सहायता देने के लिए परिचारकों तथा शासन के प्रमुख विभागों का प्रतिनिधित्व करने वाले मंत्रियों का एक वर्ग होता था। चोल सम्राट निरंकुश नहीं होता था तथा धर्म तथा आचार के विरुद्ध कार्य नहीं करता था। वह कानून का निर्माता न होकर सामाजिक नियमों एवं व्यवस्था का प्रतिपालक होता था। सार्वजनिक हित के कार्यों, जैसे-मंदिर निर्माण, कृषि योग्य भूमि तथा सिंचाई के साधनों की व्यवस्था, विद्यालयों तथा औषधालयों की स्थापना आदि में उसकी विशेष रुचि होती थी।

2.5:2 अधिकारी तंत्र

चोल प्रशासन एक सुविस्तृत अधिकारी तंत्र था जिसमें विभिन्न दर्जे के पदाधिकारी होते थे। केन्द्रीय अधिकारियों की कई श्रेणियाँ होती थी। सबसे ऊपर की श्रेणी को 'पेरुन्दनम' तथा नीचे की श्रेणी को 'शिरुदनम्' कहा जाता था। लेखों में कुछ उच्चाधिकारियों के 'उछन्कूट्टम' कहा गया है जिसका अर्थ है-सदा राजा के पास रहने वाला अधिकारी। नीलकंठ शास्त्री के अनुसार ये राजा के निजी सहायक थे जो राजा तथा नियमित कर्मचारी तंत्र के बीच सम्पर्क का कार्य करते थे। उनका कार्य सम्बन्धित विभागों के

कर्मचारियों को राज्य की नीति बताना तथा राजा को प्रान्तों की आवश्यकता से अवगत कराना था। राज्य के प्रबन्ध में भी उनकी महत्वपूर्ण भूमिका होती थी। पदाधिकारियों को नकद वेतन के स्थान पर भूमिखण्ड दिये जाते थे। चोल लेखों से प्राधिकारियों की कार्यप्रणाली पर प्रकाश पड़ता है। और पता चलता है कि सम्राट जब किसी विषय पर निर्णय देता था तो उससे सम्बन्धित सभी अधिकारी उपस्थित रहते थे। सर्वप्रथम "औले" नामक पदाधिकारी राजा के आदेश का कच्चा मसौदा तैयार करता था। इसकी जांच "औलेनायगम्" नामक वरिष्ठ पदाधिकारी द्वारा तैयार की जाती थी। तत्पश्चात् इन आदेशों को अस्थायी पंजियों में लिपिबद्ध कर संबन्धित विभाग तक पहुँचा दिया जाता था।

2.6 स्थानीय प्रशासन

प्रशासन की सुविधा के लिए विशाल चोल साम्राज्य छः प्रान्तों में विभाजित था। प्रान्त को "मण्डलम्" कहा जाता था जिसका शासन एक वायसराय के हाथ में होता था। इस पद पर प्रायः राजकुमारों की ही नियुक्ति की जाती थी, किन्तु कभी-कभी इस पद पर वरिष्ठ पदाधिकारियों अथवा पराजित किये गए राजाओं की भी नियुक्ति की जाती थी। "मण्डलम्" के शासकों के पास अपनी सेना तथा न्यायालय होते थे। कालांतर में यह पद अनुवांशिक हो गया। प्रत्येक 'मण्डलम्' में केन्द्रीय सरकार का एक प्रतिनिधि रहता था जो मण्डलीय शासक के गतिविधियों पर दृष्टि रखता था। 'मण्डलम्' का विभाजन कई 'कोट्टम' अथवा 'वलनाडु' में हुआ था जो आजकल की कमिश्नरियों के बराबर होते थे। प्रत्येक 'कोट्टम' में कई जिले होते थे। जिले की संज्ञा 'नाडु' थी। 'नाडु' की सभी को 'नाट्टार' कहा जाता था। जिसमें सभी गांव तथा नगरों के प्रतिनिधि होते थे। इसका मुख्या कार्य भू-राजस्व का प्रबन्ध करना था। इसे किसी भू-राजस्व में छूट दिलाने का भी अधिकार था। 'नाडु' अपने नाम से दान देते तथा 'अक्षयनिधियां' प्राप्त करते थे। 'नाट्टार' को भूमि का वर्गीकरण करने तथा तदनुसार राजस्व निर्धारित करने का भी काम सौंपा गया था। इसे किसी भू-राजस्व में छूट दिलाने का भी अधिकार था। कभी-कभी यह मंदिर का प्रबन्ध भी करती थी।

कुलोतुंग के शासनकाल के दसवें वर्ष पुरमलेनाडु के नाट्टार ने तीर्थमलै मंदिर (सेलम जिला) का प्रबन्ध देखने के लिए पुजारियों की नियुक्ति की थी। करिकाल कालीन जंबे लेख से पता चलता है कि वाणगप्पाडि के नाडु को वालैयूरनक्कर योगवाणर के मंदिर का प्रबन्ध सौंपा गया था। कुछ स्थानों में हम नाट्टार को अन्य संघटनों तथा राजकीय पदाधिकारियों के साथ मिलकर न्याय प्रशासन एवं अन्य कार्यों में सहयोग करते हुए पाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि शांति व्यवस्था कायम करने अथवा भूमि का प्रबन्ध करने के उद्देश्य से विभिन्न नाडुओं को मिलाकर संगठन बनाए जाते थे। कुलोतुंग तृतीय के समय में तिरुवारंगलुम मंदिर के एक लेख में सम्पूर्ण नाडु के एक संगठन का उल्लेख मिलता है। राजराज प्रथम के एक लेख में 12 नाडुओं की सभा की चर्चा है। नाडु के खर्च के लिए 'नाडुविनियोगम्' नामक कर लिया जाता था, नाडु के अन्तर्गत अनेक ग्राम संघ थे जिन्हें 'कुर्रम' कहा जाता था, व्यापारिक नगरों में 'नगरम्' नामक व्यापारियों की एक सभा होती थी। व्यापारियों की संस्थाओं (श्रेणियों) को सरकार की ओर से मान्यता प्राप्त थी। उनके पास अपनी सेना भी थी जिससे वे अपनी सुरक्षा भी करते थे। बड़े नगरों में अलग कुर्रम गठित किये जाते थे। जिन्हें 'तनियूर' अथवा 'तंकुर्रम' कहा जाता था। प्रशासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम सभा होती थी।

2.6:1 ग्राम-शासन

चोल शासन की सबसे उल्लेखनीय विशेषता वह असाधारण शक्ति तथा क्षमता है जो स्वायत्त शासी ग्रामीण संस्थाओं के संचालन में परिलक्षित होती हैं। वस्तुतः स्वायत्त शासन पूर्णतया ग्रामों में ही क्रियान्वित किया गया। उत्तरमेरूर से प्राप्त 919 तथा 929 ई. के दो लेखों के आधार पर हम ग्राम सभा की कार्यकारिणी समिति की कार्य-प्रणाली का विस्तृत विवरण प्राप्त करते हैं। प्रत्येक ग्राम में अपनी सभा होती थी जो प्रायः

केन्द्रीय नियंत्रण से मुक्त होकर स्वतंत्र रूप से ग्राम शासन का संचालन करती थी। उस उद्देश्य से उसे व्यापक अधिकार प्राप्त थे।

2.6:2 उर

नीलकंठ शास्त्री के अनुसार इससे तात्पर्य 'पुर' से है जो गांव और नगर दोनों के लिए प्रयुक्त होता था। कुछ लेखों में 'ऊराय-इशैन्दु-उरोम' अर्थात् ग्रामवासी उर के रूप में मिले, उल्लेखित मिलता है। इससे सूचित होता है कि उर की बैठकों में सभी ग्रामवासी सम्मिलित होते थे और यह सामान्य मनुष्यों की संख्या थी। उर की कार्य-समिति को आलुंगणम (शासक-गण) अथवा 'गणम' कहा जाता था। समिति के सदस्यों की संख्या अथवा उनके चुनाव की विधि के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं मिलती। ऐसा लगता है कि कुछ सभाओं के लिए एक ही कार्य समिति होती थी जो सभी विषयों की देख-रेख करने के लिए उत्तरदायी थे क्योंकि कुछ कार्य समितियों में हम विद्वान ब्राह्मणों को भी सदस्य के रूप में देखते हैं। कहीं-कहीं एक ही ग्राम में दो उर संगठन भी कार्य करते थे। 1227 ई. में शात्तमंगलम में दो उर थे-पहला हिन्दू देवदान भाग के निवासियों का तथा दूसरा जैन पल्लिच्चन्देम लोगों का। दोनों ने मिलकर कुछ भूमि एक तालाब तथा पुष्पाटिका के लिए दान में दिया तथा उसे करमुक्त घोषित कर दिया। 1245 ई. में 'उत्तरकुर्रम' तथा अमणकुंडि नामक ग्रामों में दो-दो उर कार्य कर रहे थे।

2.6:3 सभा या महासभा

अग्रहार ग्रामों में मुख्यतः विद्वान ब्राह्मण निवास करते थे। इनमें शासन के लिए 'महाजन' नामक संस्था थी। जिसमें ब्राह्मणों के प्रतिनिधि शामिल थे। तोंडमण्डलम् तथा चोलमण्डलम् के लेखों से अग्रहार के विषय में सूचना मिलती है। इनसे स्पष्ट है कि कांची तथा मद्रास क्षेत्रों में ऐसी कई सभायें थी। सभा मुख्यतः अपनी समितियों के माध्यम से कार्य करती थी। इन्हें 'वारियम' कहा गया है। इस शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं है। तमिल में इसका अर्थ आय तथा कन्नड़ में 'कड़ी माँग' है। नीलकंठ शास्त्री इसे संस्कृत 'वार्य' का तमिलरूप मानते हैं जिसका अर्थ है चुना हुआ। एक लेख में सभा की कार्यसमिति को 'वरणम्' कहा गया है। सभा द्वारा किसी कार्य विशेष के लिए नियुक्त व्यक्तियों को 'वारियर' कहा जाता था। स्पष्ट है कि 'वारियम' को कोई न कोई विशेष कार्य सौंपा जाता था। कहीं मंदिर का प्रबन्ध करने तथा कहीं देवदान भूमि का प्रमाणिक विवरण देने और उसकी सीमा लिखने का कार्य 'वारियम' को दिया गया है। ज्ञात होता है कि जब शुचीन्द्रम के मूलपरुडै (एक धार्मिक संगठन) ने मंदिर का प्रबन्ध छोड़ दिया तो सभा ने इस कार्य के लिए दो वारियों को नियुक्त किया। वारियम के सदस्यों को कोई पारिश्रमिक अथवा पुरस्कार नहीं दिया जाता था। तोंडमण्डलम तथा चोलमण्डलम् के लेखों से अग्रहार के विषय में सूचना मिलती है। इससे स्पष्ट है कि कांची तथा मद्रास क्षेत्रों में ऐसी कई सभायें थी। कभी-कभी ये दोनों ही संस्थाएं एक ही ग्राम में कार्य करती थी जिन स्थानों में पहले से कोई बस्ती होती थी तथा वे बाद में ब्राह्मणों को दान में दे दिये जाते थे वहां 'उर' तथा 'सभा' साथ-साथ कार्य करती थी। ऐसे गांवों के मूल निवासी 'उर' में मिलते थे जबकि नावागंतुक ब्राह्मण अपनी सभा गठित कर लेते थे। ग्राम सभा के सदस्यों की संख्या भिन्न-भिन्न स्थानों पर अलग-अलग होती थी। कहीं-कहीं सभी व्यस्क पुरुष इसके सदस्य होते थे जबकि कुछ स्थानों में यह एक निवारित संस्था थी, ऐसी स्थिति में इसके सदस्यों का चुनाव ग्राम वासियों द्वारा किया जाता था तथा सदस्यों के लिए कुछ निर्धारित योग्यताएं भी होती थी। ग्राम सभा की बैठकें प्रायः मंदिरों एवं मण्डपों में होती थी, बैठक के लिए निर्धारित स्थान को 'ब्रह्मस्थान' कहा जाता था। कभी-कभी गांव के बाहर वृक्षों के नीचे अथवा किसी तालाब के तट पर भी ग्रामसभा की बैठकें होती थी। इस बैठक के लिए लोगों को ढोल पीटकर आहूत किया जाता था। प्रत्येक सभा अथवा महासभा के अन्तर्गत कई सीमितियां होती थी जिन्हें

‘वारियम’ कहा जाता था। ये समितियां अलग-अलग कहा जाता था। ये समितियां अलग-अलग विभागों का काम देखती थी।

उत्तरमेरु से प्राप्त परान्तक प्रथमकालीन दो अभिलेखों से समिति के सदस्यों के निर्वाचन के सम्बन्ध में भी कुछ सूचनाएं दी गई हैं। तदानुसार समिति के सदस्यों को चुनने के लिए तीस वार्डों (कुटुम्बस) में बांटा जाता था। ग्राम के लोग जो 35 से 70 वर्ष की आयु के होते थे जिनके पास 1/4 वेलि अर्थात् डेढ़ एकड़ भूमि होती थी जो एक वेद तथा उसके भाष्य के ज्ञाता थे और जिनके पास निजी आवास होता था वे ही समिति के सदस्य निर्वाचित हो सकते थे। अपराधी चरित्रहीन समिति की आय व्यय में घोटाला करने वाला तथा शूद्रों के सम्पर्क से दूषित हुआ व्यक्ति समिति का सदस्य नहीं बन सकता था। प्रत्येक वार्ड से एक व्यक्ति का चुनाव लॉटरी निकालकर (कुडुवौले पद्धति) किया जाता था। प्रत्येक उम्मीदवार का नाम अलग-अलग पत्रों पर लिखकर एक बर्तन में रखा जाता था और उसे हिलाकर मिला दिया जाता था। तत्पश्चात् किसी अबोध बच्चे से एक पत्र उठाने को कहा जाता था, वह जिस व्यक्ति नाम पर पत्र उठा लेता था वह समिति का सदस्य चयनित हो जाता था। इस प्रकार कुल 30 व्यक्ति चुने जाते थे जिन्हें विभिन्न समितियों में रखा जाता था इनमें से 12 सदस्य जो वयोवृद्ध विद्वान एवं उद्यान तथा तटाक् समितियों में कार्य कर चुके होते थे। वार्षिक समिति में 12 उद्यान समिति में तथा 6 तटाक् समिति में रखे जाते थे। समिति के सदस्य 360 दिनों तक अपने पद पर बने रहते थे, शेष 5 दिनों में अपना हिसाब-किताब प्रस्तुत करते थे तत्पश्चात् वे अवकाश ग्रहण करते थे। यदि कोई सदस्य किसी अपराध का दोषी होता था तो उसे तत्काल पदच्युत कर दिया जाता था।

अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् समिति नियुक्त करने के लिए बारह विभागों के न्याय निरीक्षण की समिति के सदस्य की मध्यस्थ की सहायता से बैठक बुलाकर चुनाव करते थे। एक वर्ष बाद पुनः मतदान होता था। ऐसी व्यवस्था थी कि केवल वह व्यक्ति जो पिछले तीन वर्षों से किसी समिति का सदस्य नहीं रहा है, ही नया सदस्य चुना जाय। इस प्रकार प्रत्येक ग्रामवासी को समिति का सदस्य बनने का अवसर मिल जाता था। इसके अलावा एक सामान्य समिति होती थी। जिसका कार्य सभी समितियों के कार्यों की देख-रेख करना होता था। इस समिति का एक सदस्य पहले किसी समिति के सदस्य जो पर्याप्त अनुभवी होता था, उसे ही बनाया जाता था।

ग्रामसभा को राज्य के प्रायः सभी अधिकार मिले हुये थे। गांव की न्याय व्यवस्था से लेकर वित्तीय कार्यों जैसे बैंक, धन, भूमि तथा धान्य के रूप में जमा करती तथा फिर ब्याज पर उन्हें लौटा देती थी। गांव की सभी अक्षयनिधियां ग्रामसभा के अधीन होती थी। सभा की ग्रामवासियों पर कर लगाने, वसूलने तथा उनसे बेगार लेने का भी अधिकार था। शिक्षण संस्थानों, मंदिरों व दानगृहों का प्रबन्ध, पीने के पानी, उपवनों, सिंचाई तथा आवागमन के साधनों की व्यवस्था, ग्रामवासियों के स्वास्थ्य, जीवन एवं सम्पत्ति की रक्षा करना तथा अकाल एवं संकट के समय ग्रामवासियों की उदारपूर्वक मदद करना इसके मुख्य कार्य थे।

इस प्रकार ग्रामसभा के अधिकार विस्तृत एवं व्यापक थे। केन्द्रीय सरकार को वार्षिक कर देना उनकी प्रमुख जिम्मेदारी थी। ग्राम सभा में ‘मध्यस्थ’ नामक वेतनभोगी कर्मचारी होते थे जिनके माध्यम से उसके निर्णय कार्यान्वित किये जाते थे। उन्हें प्रतिदिन चार नाली धान, प्रतिवर्ष सात कलंजु सोना तथा एक जोड़ा वस्त्र दिया जाता था। जबतक ग्रामसभा अपने कर्तव्यों का पालन करती रहती तथा राज्य को नियमित कर पहुंचाती रहती, राज्य उसके शासन में हस्तक्षेप नहीं करता था। ऐसे उदाहरण मिलते हैं। जब दो सभाओं में परस्पर विवाद की स्थिति में उन्होंने ही मध्यस्थता के लिए तीसरी सभा को मामला सौंपा तथा राज्य को सूचना नहीं दी, इससे स्पष्ट है कि ग्राम सभायें अपना कार्य करने के लिए स्वतंत्र होती थी, किन्तु ऐसे भी उदाहरण मिले हैं जिसमें राज्य का हस्तक्षेप रहा हो उदाहरण के लिए परवर्ती चोल युग में जब सभा के

सदस्यों की आपसी गुटबन्दी तथा अर्न्तकलह से अव्यवस्था उत्पन्न हुई तो राजा ने अपने अधिकारियों की सूचना पर सभा में सुधार के लिए आदेश निर्गत किये।

ग्रामसभा के आय-व्यय का निरीक्षण समय-समय पर केन्द्रीय पदाधिकारी किया करते थे। इन कार्यों में सहायता देने वाले कर्मचारियों का वर्ग 'आयगार' कहलाता था। यदि राज्य कोई ऐसा नियम बनाता जो किसी ग्राम की स्थिति को प्रभावित करता तो वह नियम ग्राम सभा की स्वीकृति से ही होता था। ग्राम सामान्य कार्यों में नियुक्त कर्मचारियों के अतिरिक्त विशेष क्षेत्रों में शांति व्यवस्था कायम करने के लिए सरदरों या शक्तिशाली सामंत नियुक्त किये जाते थे तथा इन्हें 'पडिकावलकूलि' नामक अलग कर दिया जाता था। इस प्रकार समस्त साम्राज्य में ग्राम संस्थाओं का विस्तार था।

2.6:4 अन्य समुदाय तथा निगम

ग्राम सभा के अतिरिक्त गांव में कई समुदाय और निगम होते थे जो सामाजिक, आर्थिक व धार्मिक प्रकृति के थे। इनका अधिकार क्षेत्र किसी विशेष कार्य तक ही सीमित था। उदाहरण के लिए किसी मंदिर का प्रबन्ध देखने या संचालन हेतु समुदाय गठित किये जाते थे, इन समुदायों के सदस्य सभा के भी सदस्य थे। धार्मिक समुदायों की संख्या अधिक थी। 'मूलपरुडैयार' नामक धार्मिक संगठन का उल्लेख मिलता है जिसका मुख्य कार्य मंदिर प्रबन्ध करना था। प्रत्येक गांव शेरियों (पुरवा या पल्ली), सड़कों और खण्डों में विभाजित किया गया था जो विभिन्न कार्य करते थे जैसे मंदिर प्रबन्ध कार्य आदि।

नगरों में व्यापारियों के विभिन्न संगठन थे। 'बाणांज' शब्द का उल्लेख अनेक लेखों में मिलता है जो व्यापारियों के एक व्यापक संगठन का सूचक है। 'नागरम्' भी व्यापारिक क्षेत्र को कहा जाता था जिसका मुख्य कार्य व्यापार-व्यवसाय प्रोत्साहन था, तमिल देश में 'बाणन्ज' व्यापारियों की बस्तियों को 'वीर पत्तन' कहा जाता था। इस प्रकार यह समुदाय आपसी सद्भाव पर आधारित थे। धर्म तथा प्राचीन परम्परायें इन्हें जोड़ने का कार्य करती थी। वस्तुतः चोल काल की सर्वाधिक महत्वपूर्ण इकाई स्थानीय प्रशासन थी जो गांव, नगर तथा मण्डल द्वारा संचालित थी। इन्हें अपने कार्यों में इतना अधिक स्वायत्ता प्राप्त थी कि उच्चस्तरीय प्रशासनिक व राजनैतिक परिवर्तनों से अप्रभावित थी। ग्राम राजनैतिक व आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर थे।

2.7 न्याय व्यवस्था

चोल साम्राज्य में न्याय के लिए नियमित न्यायालय का गठन किया था। लेखों में 'धर्मासन' तथा 'धर्मासन-भट्ट' का उल्लेख मिलता है। धर्मासन से तात्पर्य सम्राट के न्यायालय से है। न्यायालय के पंडितों को 'धर्मभट्ट' कहा गया है। जिनकी परामर्श से विवादों का निर्णय लिया जाता था। अपराधों के सामान्यतः जुर्माने अदा किये जाते थे। नरवध तथा हत्या के लिए व्यवस्था थी कि अपराधी को मृत्युदण्ड के साथ ही साथ उसकी सम्पत्ति भी जब्त कर ली जाती थी। तेरहवीं शताब्दी के चीनी लेखक चाऊ-जू-कुआ ने चोलदण्ड व्यवस्था का वर्णन करते हुए बताया है कि अग्नि तथा जल द्वारा दिव्य परीक्षाओं का भी विधान था। पशुओं की चोरी के अपराध में व्यक्ति की सम्पत्ति जब्त कर मंदिर को दिये जाने के उदाहरण मिलते हैं। इस प्रकार चोल न्याय-प्रशासन सुसंगठित एवं निष्पक्ष था।

2.8 भूमि तथा राजस्व

चोल राज्य की आय का प्रमुख साधन भूमिकर था। भूमिकर ग्राम सभायें एकत्र करके सरकारी खजाने में जमा करती थी। इसके लिए शासक भूमि की माप कराया करते थे तथा उसकी उत्पादकतानुसार पर कर निर्धारण करते थे। यह आधे से लेकर चौथाई भाग तक होता था। राजराज प्रथम तथा कुलोत्तुंग प्रथम के समय में क्रमशः एक और दो बार भूमि की माप कराई गयी थी। प्रत्येक ग्राम तथा नगर में रहने के स्थान,

मंदिर, तालाब, कारीगर, आवास, श्मशान आदि सभी प्रकार के करों से मुक्त थे। कृषकों को यह सुविधा थी कि वे भूमिकर नकद अथवा द्रव्य के रूप में चुकायें, चोलों के स्वर्ण सिक्के 'कलंजु' या 'पोन्' कहे जाते थे। भूमि की बारह से अधिक किस्मों का उल्लेख मिलता है। राजस्व विभाग की पंजिका को 'वरित्पोत्तागककणक्क' कहा जाता था जिसमें सभी प्रकार के भूमि के ब्योरे रखे जाते थे। इसके प्रमुख अधिकारी 'वरित्पोत्तागकक' कहलाते थे जो अपने-अपने अधिकार क्षेत्र के आय-व्यय का हिसाब रखते थे। भू-स्वामी के भूमिकर अदा न करने पर कुछ समय बाद उसकी भूमि दूसरे के हाथ बेच दी जाती थी। चोल इतिहास के परवर्ती युग में केन्द्रीय शक्ति के निर्बल होने पर स्थानीय पदाधिकारी के मनमाने ढंग से प्रजा का उत्पीड़न होने लगे थे। जिससे जनता के विद्रोह के उदाहरण भी मिलते हैं। राजराज तृतीय तथा कुलोत्तुंग प्रथम के काल में इस प्रकार के विद्रोह किये गये।

2.9 अन्य कर

भूमिकर के अतिरिक्त व्यापारिक वस्तुओं, विभिन्न व्यवसायों, खानों, वनों, उत्सवों आदि पर भी कर लगते थे। नगरों में बेची जाने वाली वस्तुओं पर कर वसूल करने का काम 'नगरम्' द्वारा किया जाता था। तट्टोपाट्टम (स्वर्णकारों), नमक (उप्पायम), दुकानों (इंगाडिपाट्टम) आदि मुख्य करों का उल्लेख मिलता है। राज्य की आय का व्यय अधिकारीतंत्र, निर्माण कार्यों, दान, यज्ञ महोत्सव आदि पर होता था।

2.10 सैन्य संगठन

चोल राजाओं ने एक विशाल सेना का निर्माण किया था। उसके पास अश्व, गज एवं पैदल सैनिकों के साथ ही साथ एक अत्यन्त शक्तिशाली नौसेना भी थी, इसी नौसेना की सहायता से उन्होंने श्रीविजय, सिंहल, मालदीव आदि द्वीपों की विजय की थी। चोल शासक स्वयं कुशल योद्धा थे और वे अधिकतर व्यक्तिगत रूप से युद्धों भाग लिया करते थे, सेना के कई दल थे लेखों में बडपेर (पद्धति सैनिक), बिल्लिगल (धनुर्धारी सैनिक) आदि का उल्लेख मिलता है। कुछ सैनिक सम्राट की सेवा में निरंतर उपस्थित रहते थे तथा उसकी रक्षा के लिए अपने प्राण तक न्योछावर कर सकते थे। ऐसे सैनिकों को 'वैलेक्कारर' कहा गया है। सैनिक सेवाओं के बदले में राजस्व का एक भाग अथवा भूमि देने की प्रथा थी। चोल सैनिक अत्यधिक अनुशासित एवं प्रशिक्षित होते थे। साथ ही साथ क्रूर तथा निर्दयी भी होते थे। विजय पाने के बाद शत्रुओं की हत्या कर देते थे। पाण्ड्य तथा पश्चिमी चालुक्य राज्यों में उनका व्यवहार इसी प्रकार रहा।

इस प्रकार चोल शासन व्यवस्था के वर्णन से स्पष्ट है कि प्राचीन युग की यह उत्कृष्ट शासन प्रणाली भी जिसमें केन्द्रीय नियंत्रण तथा स्थानीय स्वायत्ता साथ-साथ वर्तमान रही चोलों की शासन व्यवस्था का मूल्यांकन करते हुये इतिहासकार नीलकण्ठ शास्त्री लिखते हैं कि 'एक योग्य नौकरशाही तथा सक्रिय स्थानीय संस्थाओं के बीच, जो विविध प्रकार से नागरिकता की भावना का पोषण करती थी, शासन निपुणता तथा शुद्धता का एक उच्च स्तर प्राप्त कर लिया गया था, जो सम्भवतः किसी हिन्दू राज्य द्वारा प्राप्त सर्वोच्च स्तर था।'

2.11 धार्मिक दशा

चोल राजाओं के समय में तमिल प्रदेश में शैव तथा वैष्णव धर्मों का बोलबाला रहा। शैव नायनारों तथा वैष्णव आचार्यों ने इन धर्मों के प्रचार-प्रसार के लिए व्यापक आंदोलन चलाया। इन में भी शैव धर्म अधिक लोकप्रिय था। शिव की उपासना के लिए भक्तिगीत लिखे गये थे। जिनका संकलनकर्ता नम्बि आण्डार नम्बि को माना जाता है जो राजराज तथा राजेन्द्र चोल के समय में हुए चोलवंश के अधिकांश शासक उत्साही शैव थे जिन्होंने भगवान शिव के अनेक मंदिरों का निर्माण करावाया था। प्रसिद्ध चोल सम्राट ने 'शिवपादशेखर' नाम से शिव का प्रसिद्ध मंदिर बनवाया। उत्तराधिकारी राजेन्द्र चोल के समय निर्माण कार्य

पूरा हुआ। शासक कुलोत्तुंग प्रथम शिव अनन्य उपासक था। कुलोत्तुंग द्वितीय के बारे में कहा जाता है कि शिव के प्रति अतिशय भक्ति के कारण उसने चिदम्बरम् मंदिर में रखी गयी गोविन्दराज विष्णु की मूर्ति उखाड़कर समुद्र में फिंकवा दिया था। चोल शासकों के उत्साह को देखकर उनके राज्य की प्रजा ने भी शैव धर्म को ग्रहण किया। चोल शासकों ने शैव संतों को ही अपना राजगुरु मनोनित किया था। इस प्रकार इस धर्म ने व्यापक जनाधार प्राप्त कर लिया। राजराज प्रथम के समय में ईशानशिव राजगुरु नियुक्त किये गये थे। प्रशासन पर इनका व्यापक प्रभाव था।

शैव धर्म के साथ चोलकालीन समाज में वैष्णव धर्म का प्रचार हुआ। इस समय वैष्णव आलवरों का स्थान आचार्यों ने ग्रहण कर लिया। आचार्य तमिल तथा संस्कृत दोनों ही भाषाओं के विद्वान थे उन्होंने दोनों ही भाषाओं में वैष्णव सिद्धान्तों का प्रचार किया। आचार्य परम्परा में सबसे पहला नाम नाथमुनि का लिया जाता है। उन्होंने अलवरों के भक्तिगीतों को व्यवस्थित किया। न्यायतत्व की रचना का श्रेय उन्हें दिया जाता है। प्रेममार्ग के दार्शनिक औचित्य का प्रतिपादन किया। आचार्य परम्परा में रामानुज का नाम सर्वाधिक उल्लेखनीय है। उनका समय 1016–1137 ई. माना गया है। कांची के पास श्रीपेरुम्बुन्दर में जन्मे इस आचार्य को तिरुकोट्टियूर में महात्मा नाम्बि में इन्हें 'ॐ नमो नारायण' नामक अष्टाक्षर मंत्र दिया। उन्होंने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखा जिसे 'श्रीभाष्य' कहा जाता है। शंकर के अद्वैतवाद का खण्डन करते हुए रामानुज ने प्रतिपादित किया कि ब्रह्म अद्वैत होते हुए भी चित् (जीव) तथा अचित् (प्रकृति) शक्ति द्वारा विशिष्ट होता है। मोक्ष के लिए ज्ञान के स्थान पर भक्ति को तथा प्रपत्ति को आवश्यक बताया जिससे प्रसन्न होकर ईश्वर मोक्ष प्रदान करता है। वह सगुण ईश्वर में विश्वास करते थे।

यद्यपि चोल काल में शैव व वैष्णव धर्मों का ही व्यापक प्रचार था तथापि इस काल को धार्मिक असहिष्णुता का काल नहीं कह सकते। चोल शासक धर्म सहिष्णु थे उनके राज्य में बौद्ध एवं जैन भी निवास करते थे। कुलोत्तुंग प्रथम ने नेगपत्तम् के विहार को दान दिया था। जैन मंदिरों की भूमिकर माफ किये गये। बाद में आस्तिक धर्मों के प्रचलन के कारण वैदिक यज्ञों, कर्मकाण्डों का स्थान मूर्तिपूजा ने ले लिया। मंदिरों में मूर्तियां स्थापित की गयी जहां भक्तगण देवी-देवताओं की उपासना किया करते थे। तीर्थ यात्रा पर जाते, दान देते आदि। पौराणिक धर्मों के साथ इस समय तांत्रिक, शक्ति इस प्रकार चोल राजाओं की व्यक्तिगत रुचि तथा संतों व आचार्यों के परिणामस्वरूप चोलकाल में शैव व वैष्णव धर्मों का पुनरुत्थान हुआ तथा नास्तिक संप्रदायों का प्रभाव समाप्त हो गया। यह काल धार्मिक सहिष्णुता काल रहा।

2.12 साहित्य

चोल काल तमिल भाषा एवं साहित्य के विकास हेतु प्रसिद्ध है। तमिल लेखकों में सर्वाधिक प्रसिद्ध जयन्गोन्दार था। वह कुलोत्तुंग प्रथम का राजकवि था और उसने 'कलिंगत्तुपणि' नामक ग्रंथ की रचना की जिसने कलिंग व कुलोत्तुंग की युद्ध घटनाएं वर्णित हैं। कुलोत्तुंग तृतीय के काल में प्रसिद्ध कवि कम्बन् हुआ जिसने 'तमिल रामायण' अथवा 'रामावतारम्' की रचना की। यह तमिल साहित्य का महाकाव्य है। अन्य गन्थों में शेक्किल्लार का 'पेरियपुराणम्' तोलामल्लि का शूलामणि आदि विशेष है। चोल शासकों ने अमृतसागर तथा बुद्धमित्र जैसे प्रसिद्ध जैन तथा बौद्ध विद्वानों को संरक्षण प्रदान किया था। बुद्धमित्र की प्रमुख कृति 'वीर-शोल्लियम्' है तथा अमृतसागर ने 'याप्परंगलम्' तथा 'याप्परुंगलक्कारिगै' नामक प्रमाणिक गंथ लिखे। वैष्णवों के लेखकों में नाथमुनि, यमुनाचार्य तथा रामानुज के नाम उल्लेखनीय हैं तथा इन्होंने अपने ग्रंथ संस्कृत में लिखे।

2.13 कला और स्थापत्य

चोलवंशी शासक उत्साही निर्माता थे। और उनके समय में कला एवं स्थापत्य के क्षेत्र में महत्वपूर्ण प्रगति हुई। चोलयुगीन कलाकारों ने अपनी कुशलता का प्रदर्शन पाषाण मंदिर एवं मूर्तियां बनाने में किया है।

द्रविड़ वास्तुशैली का प्रारम्भ पल्लव काल में हुआ इसका चरमोत्कर्ष चोल काल में परिलक्षित होता है। इस काल को दक्षिण भारतीय कला का स्वर्ण युग कहा जा सकता है। कलाविद् फर्गुसन के अनुसार चोल कलाकारों ने 'दैत्यों के समान कल्पना की तथा जौहरियों के समान उसे पूर्ण किया'।

चोलकालीन मंदिरों के दो रूप दिखाई देते हैं। प्रथम के अन्तर्गत प्रारम्भिक काल के वे मंदिर हैं जो पल्लव शैली से प्रभावित हैं तथा बाद के मंदिरों की अपेक्षा छोटे आकार के हैं। दूसरे रूप के मंदिर अत्यन्त विशाल तथा भव्य हैं। इन सभी में द्रविड़ शैली का पूर्ण परिपक्वता पाते हैं। चोलकाल के प्रारम्भिक स्मारक, पुडुक्कोट्टे जिले से प्राप्त होते हैं। इसमें विजयालय द्वारा नात्तमिलाई में बनवाया गया चोलेश्वर मंदिर सर्वाधिक प्रसिद्ध है। चोलकालीन इस सुन्दर नमूने में एक वर्गाकार प्रकार के अन्तर्गत एक वृत्ताकार गर्भगृह बना हुआ है। प्रकार तथा गर्भगृह के ऊपर विमान हैं। यह चार मंजिला है। यह क्रमशः एक दूसरे के ऊपर छोटी होती हुई बनायी गयी है। नीचे की तीन मंजिल वर्गाकार तथा सर्वोच्च ऊपरी गोलाकार है। इसके ऊपर गुम्बदाकार शिखर तथा सबसे ऊपरी भाग में गोल कलश स्थापित है। सामने की ओर घिरा हुआ मण्डप है। मुख्य द्वार के दोनों ताख में दो द्वारपालों की मूर्तियां उत्कीर्ण हैं मुख्य मंदिर के चारों ओर खुले हुए बरामदे में सात छोटे देवस्थान हैं जो मंदिर ही प्रतीत होते हैं। ये सभी पाषाण निर्मित हैं। इस प्रकार का अन्य उदाहरण कन्नूर का बालसुब्रह्मण्य मंदिर है जिसे आदित्य प्रथम ने बनवाया था। इसकी समाधियों की छतों के चारों कोनों में हाथियों की मूर्तियां हैं। आदित्य प्रथम के समय ही तिरुक्कटलै के सुंदरेश्वर मंदिर का निर्माण हुआ। इसके परकोटे में गोपुरम बना हुआ है। इसी समय कुम्बकोनम् में बना नागेश्वर मंदिर है जिसके गर्भगृह के चारों ओर सुन्दर कलाएं, मानवमूर्तियां बनी हैं अत्यधिक सुन्दर हैं। इस काल में मंदिर निर्माण का द्वितीय चरण परान्तक प्रथम के राज्यकाल में निर्मित श्रीनिवासनल्लूर का कोरंगनाथ मंदिर द्वारा प्रत्यक्ष होता है। यह कुल 50 फीट लम्बा है। इसका वर्गाकार 25 फीट का है तथा सामने की ओर मण्डप 25'×20' के आकार है। भीतर चार स्तम्भ पर आधारित लघुकक्ष है। मण्डप तथा गर्भगृह को जोड़ते हुए अन्तराल बनाया गया है। शिखर 50 फीट ऊँचा है, गर्भगृह के बाहरी दीवार में विभिन्न आकृतियां, विष्णु एवं ब्रह्मा की खड़ी हुई मूर्तियां उत्कीर्ण मिलती हैं। इस प्रकार वास्तु तथा तक्षण दोनों ही दृष्टि से यह एक उत्कृष्ट कलाकृति है।

चोल स्थापत्य कला का चरमोत्कर्ष त्रिचनापल्ली जिले में निर्मित दो मंदिरों—तंजौर तथा 'गंगैकोण्डचोलपुरम' के निर्माण में परिलक्षित होता है। भारत के मंदिरों में से सबसे बड़ा तथा लम्बा बृहदेश्वर था तंजौर के इस मंदिर की उत्कृष्ट कलाकृति का निर्माण राजराज प्रथम के काल में हुआ था। इसे द्रविड़ शैली का सर्वोच्चतम नमूना माना जा सकता है। इसका विशाल प्रांगण 500×250 के आकार का है ग्रेनाइट पत्थरों के प्रयोग से निर्मित यह चारों ओर एक ऊँची दीवार से घिरा है। आकर्षण गर्भगृह के ऊपर पश्चिम में बना हुआ लगभग 200 फीट ऊँचा विमान है। इसका आधार 84 वर्ग फुट है। आधार के ऊपर तेरह मंजिलों वाला पिरामिड के आकार का शिखर 190 फुट ऊँचा है। गर्भगृह के भीतर विशाल शिवलिंग है जिसे अब बृहदीश्वर कहते हैं। दीवारों पर अनेक देवी-देवताओं की मूर्तियां बनी हैं। इस प्रकार भव्यता तथा कलात्मक सौन्दर्य की दृष्टि से यह दक्षिण भारत का सर्वश्रेष्ठ हिन्दु स्मारक है।

'गंगैकोण्डचोलपुरम' मंदिर का निर्माण राजराज के पुत्र राजेन्द्र चोल के शासनकाल में हुआ। यह भी बृहदीश्वर के समान निर्मित है किन्तु यह 340 फीट लम्बा तथा 110 फीट चौड़ा है। मण्डप के स्तम्भ अलंकृत व आकर्षक हैं, मंदिर की बाहरी दीवारों पर देवी-देवताओं की मूर्तियां एवं विविध प्रकार के अंलकरण उत्कीर्ण हैं जो तंजौर की तुलना में अधिक सुंदर हैं। राजेन्द्र चोल के उत्तराधिकारियों के समय भी मंदिर निर्माण जारी रहा इसमें राजराज द्वितीय तथा कुलोत्तुंग तृतीय द्वारा बनवाये गये दारासुरम का ऐरावतेश्वर तथा त्रिभुवनम् का काम्पहरेश्वर मंदिर अत्यन्त भव्य व सुन्दर हैं।

परवर्ती चोल कला पर चालुक्य, होयसल तथा पाण्ड्य कला का प्रभाव भी प्रत्यक्ष रूप से पड़ा परिणामस्वरूप अब विमान के पास शाला प्रकार का अम्मन मंदिर बनाया जाने लगा जो इस काल की नई विशेषता है। इस प्रकार वास्तुकला में चोलकाल सर्वश्रेष्ठ व निपुण सिद्ध हुआ।

2.14 तक्षण कला/शिल्प कला

शिल्पकला में भी चोल कलाकारों ने सफलता प्राप्त की। उन्होंने पत्थर तथा धातु की बहुसंख्यक मूर्तियों का निर्माण किया, प्रारंभिक मूर्तियां पल्लव शैली से प्रभावित हैं किन्तु दसवीं शताब्दी में इनमें विशिष्टता दिखाई देती है। आकृतियां इतने उभार के साथ बनाई गयी हैं कि वे दीवाल के सहारे सजीव प्रतीत होती हैं। उनके अंग-प्रत्यंग को अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ गढ़ा हुआ है। इस काल में पाषाण मूर्तियों से अधिक धातु (कांस्य) की मूर्तियां निर्मित हुईं, इसमें सर्वाधिक सुन्दर मूर्ति नटराज (शिव) अत्यधिक मात्रा में मिली हैं। त्रिचनापल्ली के तिरुभंरगकुलम से नटराज की एक विशाल कांस्य प्रतिमा मिली है जो इस समय दिल्ली संग्रहालय में है। इसके अतिरिक्त ब्रह्मा, विष्णु, लक्ष्मी, भूदेवी, राम-सीता, कालियानाग पर नृत्य करते हुए बालक कृष्ण तथा कुछ शैव संतों की मूर्तियां भी प्राप्त होती हैं जो कलात्मक दृष्टि से भव्य एवं सुन्दर हैं। चोल मूर्तिकला वास्तुकला की सहायक थी और यही कारण है कि अधिकांश मूर्तियों का उपयोग मंदिरों को सजाने में किया गया। त्रिपुरान्त मूर्ति के माध्यम से शिल्पी राजराज के पराक्रम को उद्घाटित करता हुआ जान पड़ता है। 'गंगैकोण्डचोलपुरम' स्थित मूर्तियां बृहदीश्वर मंदिर की मूर्तियों से कम हैं फिर भी अधिक कलात्मक एवं भावपूर्ण हैं। इस प्रकार शिल्पकला की उत्कृष्ट आकृतियां चोलकाल की शिल्पकला को श्रेष्ठ बनाती हैं।

2.15 चित्रकला

इस युग के कलाकारों ने मंदिरों की दीवारों पर अनेक सुन्दर चित्र बनाये हैं। अधिकांश चित्र बृहदीश्वर मंदिर की दीवारों पर उत्कीर्ण मिलते हैं। चित्र प्रमुखतः पौराणिक धर्म से सम्बन्धित है। यहां शिव की विविध लीलाओं से सम्बन्धित चित्रकारियां प्राप्त होती हैं। एक चित्र में राक्षस का वध करती हुई दुर्गा तथा दूसरे में राजराज को सपरिवार शिव की पूजा करते हुए प्रदर्शित किया गया है।

इस प्रकार चोल राजाओं के शासन काल में राजनैतिक और सांस्कृतिक दोनों ही दृष्टियों से तमिल देश की महती उन्नति हुई। वस्तुतः स्थानीय प्रशासन, कला, धर्म तथा साहित्य के क्षेत्र में इस समय तमिल देश जितना अधिक उत्कर्ष पर पहुंचा बाद के कालों में कभी भी नहीं पहुंच सका।

2.16 सारांश

दक्षिण भारतीय इतिहास में चोलकालीन संस्कृति का महत्वपूर्ण स्थान है। चोल शासकों ने शासन व्यवस्था के साथ-साथ कला और संस्कृति के क्षेत्र में भी काफी रुचि दिखाई। कालात्मक दृष्टि से भी चोलों का युग अत्यधिक महत्वपूर्ण रहा है। बड़े-बड़े देवालय, मंदिर तथा राजप्रसाद इत्यादि बनवाए गये। चोलों का काल द्रविड़ शैली के लिए चरमोत्कर्ष का काल माना जाता है। कला और स्थापत्य कला के अलावा शिक्षा और साहित्य का भी पर्याप्त विकास हुआ।

2.17 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. चोलकालीन सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था का वर्णन कीजिये।
2. चोलों के प्रशासनिक व्यवस्था की व्याख्या कीजिये।
3. चोलों के स्थानीय स्वशासन पर एक लेख लिखिये।
4. चोलकालीन कला और साहित्य का संक्षिप्त परिचय दें।
5. चोलकालीन स्थापत्य कला का वर्णन कीजिये।

6. दक्षिण भारतीय इतिहास में चोलों के स्थान निर्धारित कीजिये।

2.18 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. नील कंट शास्त्री—दक्षिण भारत का इतिहास
2. के.सी. श्रीवास्तव—प्राचीन इतिहास एवं संस्कृति
3. बी.एन. लूनिया—प्राचीन भारतीय संस्कृति
4. बी.बी. सिन्हा—भारत का इतिहास

इकाई तीन: राजपूतकालीन संस्कृति

- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 उद्देश्य
- 3.3 राजपूतकालीन शासन व्यवस्था
- 3.4 सामन्तों का वर्चस्व
- 3.5 निरंकुश राजतंत्र
- 3.6 ग्राम शासन
- 3.7 सैन्य संगठन
- 3.8 राजस्व व्यवस्था
- 3.9 सामाजिक जीवन
- 3.10 राजपूत जाति
- 3.11 राजपूत स्त्रियाँ
- 3.12 वर्ण व्यवस्था
- 3.13 आम स्त्रियों की दशा
- 3.14 वैवाहिक व्यवस्था
- 3.15 राजपूतकालीन आर्थिक अवस्था
- 3.16 राजपूतकालीन धार्मिक जीवन
- 3.17 राजपूतकालीन साहित्यिक दशा
- 3.18 राजपूतकालीन कला एवं स्थापत्य
 - 3.18:1 मूर्तिकला
 - 3.18:2 गुहा मंदिर कला
 - 3.18:3 मंदिर कला
- 3.19 गुर्जर प्रतिहार स्थापत्य
- 3.20 चालुक्य कालीन स्थापत्य
- 3.21 बुन्देलखण्ड के चन्देलकालीन मंदिर
- 3.22 राजपूत कालीन चित्रकला
- 3.23 सारांश
- 3.24 अभ्यासार्थ प्रश्न
- 3.25 सन्दर्भ ग्रन्थ

3.1 प्रस्तावना

राजपूत संस्कृति भारतीय इतिहास का एक महत्वपूर्ण अध्याय है जिसने भारतीय धर्म एवं संस्कृति को एक नई दिशा प्रदान की है। इसने प्राचीनकाल से चली आ रही संस्कृति की गति को आगे बढ़ाने में अपूर्व योगदान दिया। राजपूतों ने दीर्घकाल तक हिन्दू धर्म और उसके विभिन्न मतों के संरक्षण में तथा साहित्य और ललित कला के प्रसार में काफी उल्लेखनीय योगदान दिया। दुर्ग, भवन और मंदिर निर्माण की कलाओं ने राजपूतों के राज्याश्रय में विशिष्ट प्रगति की। वास्तव में राजपूत भारतीय धर्म, साहित्य, संस्कृति एवं कला के द्योतक रहे। सातवीं से बारहवीं शताब्दी तक राजपूत उत्तरी भारत के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन पर छाये रहे, इसी कारण इस काल को राजपूत युग के नाम से सम्बोधित किया जाता है।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप जान सकेंगे कि—

1. राजपूतों का शासन व्यवस्था कैसा था।
2. राजपूतकाल में भारतीय समाजिक जीवन और महिलाओं की स्थिति।
3. राजपूतकालीन अर्थव्यवस्था एवं साहित्यिक स्थिति
4. राजपूतकालीन कला एवं स्थापत्यकला

3.3 राजपूतकालीन शासन व्यवस्था

राजपूतकालीन भारत में राजनीतिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से अनेक परिवर्तन दिखाई देते हैं। शासन के क्षेत्र में सामन्तवाद का पूर्ण विकास इसी युग में दिखाई देता है। राजपूतों का सम्पूर्ण राज्य अनेक छोटी-छोटी जागिरों में विभक्त था। प्रत्येक जागीर का प्रशासन एक सामन्त के हाथ में होता था जो प्रायः राजा के कुल से ही सम्बन्धित होता था। सामन्त महाराज, महासामन्त, महासामन्त पति, मण्डलेश्वर, महामण्डलेश्वर आदि उपाधि धारण करते थे। 12 वीं शताब्दी की रचना अपराजितपृच्छा में महामण्डलेश्वर, माण्डलिक महासामन्त, लघु सामन्त चतुरंशिक आदि जैसे विविध सामन्तों का उल्लेख मिलता है जो क्रमशः एक लाख, पचास हजार, बीस हजार, दस हजार, तथा एक हजार गाँवों के स्वामी थे। चाहमान शासक पृथ्वीराज, कलचुरी शासक कर्ण तथा चालुक्य शासक कुमारपाल के शासन में क्रमशः 150, 136 तथा 72 सामन्तों के अस्तित्व का पता लगता है। इस प्रकार राजपूत शासक अपना प्रजा पर प्रत्यक्ष शासन न करके सामन्तों पर ही शासन करते थे। सामन्तों के पास अपने न्यायालय तथा अपनी मंत्रीपरिषद होती थी। अपने लेखों में वे सम्राट का उल्लेख करते थे तथा समय-समय पर राजदरबार में उपस्थित होकर भेंट-उपहार आदि दिया करते थे। राज्याभिषेक के अवसर पर उनकी उपस्थिति विशेष रूप से आवश्यक पायी जाती थी।

3.4 सामन्तों का वर्चस्व

प्रान्तीय शासन पर सामन्तों का अधिकार था जो प्रायः स्वतंत्रता से शासन करते थे। सामन्तों के पास अपनी सेना होती थी जो आवश्यकता पड़ने पर उनके नेतृत्व में राज्य की सेना सम्मिलित होती थी। कुछ शक्तिशाली सामन्त अपने अधीन कई उपसामन्त भी रखते थे। छोटे-छोटे सामन्त राजा, ठाकुर, भोक्ता आदि उपाधि ग्रहण करते थे। इस प्रकार राज्य की वास्तविक शक्ति और सुरक्षा की जिम्मेदारी सामन्तों पर ही

होती थी। सामन्तों में राजभक्ति की भावना बड़ी प्रबल होती थी। वे अपने स्वामी के लिए सर्वस्व बलिदान करने के लिए सदैव तत्पर रहते थे। सामन्तों की संख्या में वृद्धि से सामान्य जनता का जीवन कष्टमय हो गया था। वे जनता को मनमाने ढंग से शोषण करते थे और उनपर किसी प्रकार का अंकुश नहीं था।

3.5 निरंकुश राजतंत्र

प्राचीन इतिहास के अन्य युगों की भांति राजपूत युग में भी वंशानुगत राजतंत्र शासन पद्धति थी। इस युग के राजा निरंकुश ही नहीं स्वेच्छावादी भी होते थे। प्राचीनकाल जैसी कोई सभा, समिति या कोई अन्य जन प्रतिनिधि सभा नहीं थी। ग्राम पंचायतों का महत्व भी कम हो गया था, क्योंकि उनपर अब सामन्तों का एकाधिकार था राजा की स्थिति सर्वोपरि होती थी। न्याय तथा सेना का भी वह सर्वोच्च अधिकारी था। महाराजाधिराज, परमभट्टारक, परमेश्वर जैसी उच्च सम्मानपरक उपाधि धारण कर अपनी महत्ता को ज्ञापित करता था। राजा देवता का प्रतीक समझा जाता था। मनु का अनुकरण करते हुए लक्ष्मीधर ने अपने ग्रन्थ कृत्यकल्पतरु में राजा को लोकपालों—इन्द्र, वरुण, अग्नि, मित्र, वायु, सूर्य आदि के अंश से निर्मित बताया है। इस प्रकार सिद्धान्ततः शासक की स्थिति निरंकुश थी, किन्तु व्यवहार में धर्म तथा लोक—परम्पराओं द्वारा निर्धारित नियमों का पालन करता था। सैनिक—बल तथा शासक के निजी साहस, शूरतत्व और प्रतिष्ठा पर टिका रहता था।

3.6 ग्राम—शासन

ग्राम, शासन की सबसे छोटी इकाई होती थी। ग्रामसभा जनता की समस्याओं को सुलझायी तथा ग्राम का शासन सुचारु रूप से चलाती थी। ग्रामसभा छोटी—मोटी समितियों में विभक्त रहती थी ये समितियाँ अलग—अलग निश्चित कार्य को सम्पन्न करती थी। बाजार का प्रबन्ध, कर वसूलना, जलाशयों, उद्यानों तथा चरागाहों की देखभाल करना, व्यक्तियों के पारस्परिक झगड़ों को सुलझाना आदि कार्य समितियाँ ही सम्पन्न करती थी। हर एक समिति अपने कार्य का लेखा—जोखा ग्रामसभा के समक्ष पेश करती थी। ग्राम पंचायतें केन्द्रीय शासन से प्रायः स्वतंत्र होकर अपना कार्य करती थी। दीवानी तथा फौजदारी के मुकदमों के फैसले भी ग्राम पंचायत द्वारा ही किये जाते थे।

3.7 सैन्य संगठन

राजपूतों का सैन्य संगठन काफी दोषपूर्ण था इनमें पैदल सैनिकों की संख्या अधिक रहती थी और अच्छी नस्ल के घोड़ों का उसमें सर्वथा अभाव था। राजपूत प्रायः भाले, बल्लम, तलवार आदि से युद्ध करते थे। वे कुशल तीरन्दाज भी नहीं होते थे। राजपूत लोग प्रायः अपनी हस्ति सेना को सबसे आगे रखते थे जो बिगड़ जाने पर कभी—कभी अपनी ही सेना को रौंद देती थी। राजपूतों की सैन्य संगठन पुरानी थी तथा प्राचीन रण पद्धति का ही प्रयोग किया जाता था। लेकिन राजपूतों के रण—सम्बन्धि आदर्श बड़े ही ऊँचे थे। वे कूटनीति तथा धोखेबाजी में कतई विश्वास नहीं करते थे। वे निशस्त्र तथा भागते हुए शत्रु पर कभी प्रहार नहीं करते थे। स्त्रियों एवं बच्चों पर भी वे हथियार नहीं उठाते थे।

3.8 राजस्व व्यवस्था

राज्य की आय का मुख्य स्रोत भूमिकर था। यह भूमि की स्थिति के अनुसार तीसरे से लेकर बारहवें भाग तक लिया जाता था। उद्योग एवं वाणिज्य व्यापार से भी राजस्व की प्राप्ति होती थी। अपातकाल में राजा, प्रजा से अतिरिक्त कर वसूलता था। कुलीनों तथा सामन्तों द्वारा प्रदत्त उपहार तथा युद्ध में लूट के धन से भी राजकोष में पर्याप्त वृद्धि होती थी। पड़ोसी राज्यों को लूटकर धन प्राप्त करना भी राजा लोग अपना कर्तव्य समझते थे। भूमिकर ग्राम पंचायतों द्वारा एकत्रित किया जाता था।

3.9 सामाजिक जीवन

राजपूत युगीन समाज वर्णों एवं जातियों के जटिल नियमों से बंधा हुआ था। उस समय जाति-प्रथा की कठोरता थी और समाज में सहिष्णुता की भावना का अभाव था। समाज परम्परा चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के अतिरिक्त अनेक जातियों एवं उपजातियों में बंटी हुई थी। राजतरंगिणी में 64 उपजातियों का उल्लेख मिलता है। अनेक जातियाँ अछूत समझी जाती थी। जिन्हें गाँवों एवं नगरों के बाहर निवास करना पड़ता था। ब्राह्मणों का सदा की तरह इस युग में भी प्रतिष्ठित एवं सर्वोच्च स्थान था। वे राजपूत शासकों के मंत्री एवं सलाहकार नियुक्त किए जाते थे। उनका मुख्य पेशा अध्ययन, यज्ञ, तप एवं धार्मिक कर्मकाण्ड कराना था। उनका जीवन पवित्र और पापरहित माना जाता था। वे मांस-मदिरा का प्रयोग नहीं करते थे। वैश्य जाति के लोग वाणिज्य व्यापार का काम करते थे जबकि शूद्र जाति के लोग कृषि, शिल्पकारी तथा अन्य वर्णों की सेवा का काम करते थे। वैश्य तथा शूद्र जाति के लोगों को वेदाध्ययन एवं मंत्रोच्चारण का अधिकार नहीं था। इन दोनों जातियों के लोगों की सामाजिक स्थिति अच्छी एवं सन्तोषजनक नहीं थी। इनके साथ प्रायः समाज में भेद-भाव किया जाता था।

क्षत्रिय जाति के लोग युद्ध तथा शासन संचालन का काम करते थे। इस काल के राजपूत उच्चकोटि के योद्धा होते थे। उनमें साहस, आत्मसम्मान, वीरता एवं देशभक्ति की भावनाएँ कूट-कूट कर भरी थी। वे अपने जीवन के अंतिम क्षण तक प्रतिज्ञा का पालन करते तथा शरणागत की रक्षा करना—भले ही वह जघन्य अपराधी ही हो—अपना परम कर्तव्य समझते थे। परन्तु इन गुणों के साथ-साथ उनमें मिथ्याभिमान, अंहकार, व्यक्तिगत द्वेष-भाव, संकीर्णता आदि दुर्गुण भी विद्यमान थे।

3.10 राजपूत जाति

राजपूत अपने को शुद्ध रक्त का मानते थे। उन्होंने अपने वंशों की उत्पत्ति किसी न किसी देवी, देवता अथवा ऋषि से जोड़ रखी थी। राजपूत अपने को चन्द्रवंशीय एवं सूर्य वंशीय भी करते थे। इनके वंश के आधार पर राजाओं ने अपने लिए अनेक प्रकार के विशेषाधिकार प्राप्त कर लिए थे। वंश तथा जाति का अभियान उनमें कूट-कूट कर भरा हुआ था। वीरता की भावना का इन्होंने एक ऐसा आदर्श स्थापित किया था जैसाकि विश्व इतिहास में अन्यत्र दुर्लभ है। हँसते-हँसते मृत्यु के मुख में चला जाना इनकी राजपूती शान थी। इन्हें अपने वचन और प्रतिज्ञा का भारी ध्यान रहता था और कभी भी अपनी प्रतिज्ञा भंग नहीं करते थे।

3.11 राजपूत स्त्रियाँ

राजपूत स्त्रियाँ बड़ी पतिभक्त, धर्मपरायण और बहादुर होती थी। वे अपने सतीत्व की रक्षार्थ चिता में जीवित भष्म हो जाती थी। अलाउद्दीन खिलजी के चित्तौड़ पर आक्रमण करने पर जब राजपूतों ने जान लिया कि उनकी हार निश्चित है तो राजपूत केसरी बाना पहनकर हाथ में नंगी तलवार लिए शत्रु सेना पर टूट पड़े और एक-एक करके अनेक शत्रुओं को मार कर मर गए। उधर वीर राजपूत स्त्रियाँ अपने वस्त्राभूषण पहन कर, महारानी पदमिनी के साथ विशाल जलती हुई चिता में कूद कर भष्म हो गईं। राजपूत स्त्रियाँ भी युद्ध कला में पारंगत होती थी और युद्ध भूमि में भूखी सिंहनी की भांति शत्रुओं पर कूद पड़ती और उनका बुरी तरह संहार करती थी। पति की मृत्यु पर वे अपने स्वामी के शव के साथ चिता में बैठकर सती हो जाती थी। राजपूतों में बाल-विवाह की प्रथा भी चल पड़ी थी और विधवाओं को हीन दृष्टि से देखा जाने लगा था।

3.12 वर्ण व्यवस्था

राजपूतों की एक अलग जाति बनने के अतिरिक्त हिन्दुओं की वर्ण-व्यवस्था में और भी गहरे परिवर्तन हुए। जातियों के पारस्परिक सम्बन्ध पहले से भी अधिक जटिल हो गये। अन्तर्जातीय विवाह केवल राजघरानों तक ही सीमित रह गये। इसी युग में जातियों के विभाजन हुए और अनेक उपजातियाँ बन गईं। जिनकी संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती गई। इस युग के अन्त तक हिन्दू समाज में काफी अनुदारता, असहिष्णुता और रुढ़िवादिता आ गई। इसका मुख्य कारण बौद्ध धर्म का पतन तथा पौराणिक, हिन्दू धर्म की पूर्ण विजय थी। शंकराचार्य आदि हिन्दू नेताओं ने वर्ण व्यवस्था को और अधिक बनाया और उसे दार्शनिक आधार पर खड़ा करने का प्रयत्न किया।

3.13 स्त्रियों की दशा

राजपूतकालीन भारतीय समाज में महिलाओं को सम्मानित स्थान प्राप्त था। राजपूत अपनी स्त्रियों को अत्याधिक सम्मान करते थे तथा उनकी मान-मर्यादा एवं सतीत्व की रक्षा के लिए सर्वस्व न्योछावर करने को तैयार रहते थे। राजपूत कुलों में विवाह स्वयंवर प्रथा द्वारा होते थे जिसमें कन्याएँ अपना वर स्वयं ही चुनती थी। धनी और निर्धन सभी राजपूतों में यह प्रथा प्रचलित थी। राजपूत स्त्रियाँ शिक्षित एवं कला के क्षेत्र में पारंगत होती थी। अलबरूनी के अनुसार "सभी स्त्रियाँ शिक्षित थी और सार्वजनिक कार्यों में प्रमुखता से भाग लेती थी। कन्याएँ संस्कृत पढ़ती, लिखती और समझती थी। वे खेल, नृत्य और चित्र बनाना सीखती थी।" कुछ स्त्रियाँ इतनी विदुषी थी कि वे किसी को भी विवाद एवं शास्त्रार्थ में हरा सकती थी। ब्राह्मण दार्शनिक शंकराचार्य को मण्डनमिश्र की ब्राह्मण पत्नी भारती ने परास्त किया था सुप्रसिद्ध संस्कृत कवि, राजशेखर की पत्नी अवन्ति सुन्दरी अपनी विद्वता के लिए विख्यात थी। इन्दूलेखा, मरुला, शीला, सुभद्रा, लक्ष्मी, विज्जिका, मोरिका, पदिमश्री और मदालसा राजपूतकाल में संस्कृत की प्रसिद्ध कवयित्रियाँ थी। सोलंकी राजा विक्रमादित्य की बहन अक्का देवी एक महान योद्धा एवं प्रशासिका थी। वह चार प्रान्तों की गर्वनर थी। उसने बेलगाँव जिले के दुर्ग के विरुद्ध चढ़ाई की और वहाँ घेरा डाला चालुक्यवंशी विजय भट्टारिका (7 वीं शताब्दी ई.) तथा कश्मीर की दो महिलाएँ सुगन्धा तथा दिहा (10 वीं शताब्दी) ने कुशलतापूर्वक शासन का संचालन किया। समाज के उच्च वर्गों की स्त्रियों में संगीत और नृत्य सर्वप्रिय

विनोद थे। राजाओं और योद्धाओं की पुत्रियां भी अश्वारोहण में प्रशिक्षण लेती थीं। उन्हें घुड़सवारी और हाथियों की सवारी का विशेष शौक होता था। वे आखेट में भी रूचि रखती थीं।

3.14 वैवाहिक व्यवस्था

यद्यपि स्वजातीय विवाह अच्छा समझा जाता था, परन्तु अन्तर्जातीय तथा अन्तर्धार्मिक विवाह भी प्रचलित थे। अनुलोम विवाह के अनेक उदाहरण मिलते हैं। पश्चिमी भारत में ब्राह्मण, क्षत्रिय कन्या के साथ विवाह करते थे। ब्राह्मण कवि रामेश्वर ने चौहान राजकुमारी अवंति सुन्दरी से विवाह किया था। इस काल के धर्मशास्त्र में आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख मिलता है। क्षत्रियों में राक्षस विवाह अर्थात् कन्या को बलात् अपहरण कर ले जाना प्रचलित था। राजकुलों में स्वयंवर की प्रथा प्रचलित थी। राजपूत कन्यायें स्वयंवर में अपनी इच्छानुसार मनचाहे पति को वरण करती थीं। कन्नौज के राज राजचन्द्र की पुत्री संयोगिता ने स्वयंवर में अपने पिता के शत्रु, पथ्वीराज चौहान की स्वर्ण प्रतिमा के गले में जयमाला डालकर उन्हें वरण किया था। साधारण समाज में लड़कियाँ अपने माता-पिता द्वारा निश्चित किए गए वर के साथ ही विवाह करती थीं।

3.15 राजपूतकालीन आर्थिक अवस्था

इसकाल में कृषि जनता की जीविका का प्रमुख साधन थी। इस समय तक कृषि का पूर्ण विकास हो चुका था। विभिन्न प्रकार के अन्न पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न किए जा रहे थे। हेम चन्द्र कृत प्रबन्ध चिन्तामणि में सत्रह प्रकार के धान्यों का उल्लेख मिलता है। शून्य पुराण से पता चलता है कि बंगाल में पचास से भी अधिक प्रकार के चावल का उत्पादन किया जाता था। इसके अतिरिक्त गेहूँ, जौ, मक्का, कोदो, मसूर, तिल, विविध प्रकार की दालें, गन्ना आदि के प्रचूर उत्पादन का उल्लेख भी साहित्य तथा लेखों में मिलता है। अरब लेखक भी भूमि की उर्वरता का उल्लेख करते हैं।

कृषकों को नाना प्रकार के कर देने पड़ते थे। पूर्वमध्यकाल के लेखों में भाग, बलि, धान्य, हिरण्य उपरि कर, उदंग उदकभाग आदि करों का उल्लेख प्राप्त होता है। इनमें भाग, कृषकों से उपज के अंश के रूप में लिया जाता था। भोग, राज के उपभोग के लिए समय-समय पर प्रजा द्वारा दिया जाता था। बलि, राजा के उपहार के रूप में मिलता था। हिरण्य, नकद वसूल किया जाने वाला कर था। कृषकों से राज्य जलकर भी वसूलता था जिसे उदक भाग कहा जाता था।

कृषि के साथ-साथ वाणिज्य व्यापार भी उन्नत अवस्था में था। यातायात की सुविधा के लिए देश के प्रमुख नगरों को सड़कों के द्वारा जोड़ दिया गया था। तत्कालीन साहित्य तथा लेखों में विभिन्न प्रकार के उद्यमियों एवं दस्तकारों का उल्लेख है। अलबरूनी जूते बनाने, टोकरी बनाने, ढाल तैयार करने, मत्स्य-पालन, कताई-बुनाई आदि का उल्लेख करता है। व्यावसायियों के अलग-अलग संगठन एवं श्रेणियाँ भी होती थीं। जिसका मुख्य कार्य उत्पादन में वृद्धि करना एवं वितरण पर पर्याप्त ध्यान देना था। इस युग में आंतरिक एवं बाह्य व्यापार उन्नत अवस्था में था। भारतीय मालवाहक जहाज अरब, फारस, मिश्र, चीन पूर्वी द्वीपसमूह आदि को जाया करते थे। भारतीय समानों का विश्व बाजार में काफी मांग थी।

राजपूत युग में देश की अधिकांश सम्पत्ति मंदिरों में जमा थी। इसकी कारण मुस्लिम विजेताओं ने मंदिरों को लूटा तथा अपने साथ बहुत अधिक सम्पत्ति एवं बहुमूल्य सामग्रियाँ ले गये। कहा जाता है कि महमूद

गजनवीं अकेले सोमनाथ मंदिर से ही बीस लाख दीनार मूल्य का माल ले गया था। इसी प्रकार मथुरा की लूट में भी उसे अतुल सम्पत्ति प्राप्त हुई थी। नगरकोट की लूट में प्राप्त सिक्कों का मूल्य सत्तर हजार दिरहम (दीनार) था।

3.16 राजपूतकालीन धार्मिक जीवन

राजपूतकाल में हिन्दू तथा जैन धर्म देश में अत्यन्त लोकप्रिय थे। बौद्ध धर्म का अपेक्षाकृत कम प्रचलन था और वह अपने पतन की अन्तिम अवस्था में पहुँच गया था। हिन्दूधर्म के अन्तर्गत भक्तिमार्ग एवं अवतारवाद का व्यापक प्रचलन था। विष्णु, शिव, सूर्य, दुर्गा आदि देवी-देवताओं की उपासना होती थी। इनकी पूजा में मंदिर तथा मूर्तियाँ बनाई जाती थी। भक्ति सम्प्रदाय के आचार्यों में माधवाचार्य का नाम उल्लेखनीय हैं। शंकराचार्य ने अद्वैतवाद का प्रसार किया जिसके अनुसार ब्राह्म ही एकमात्र सत्ता है, संसार मिथ्य है तथा आत्मा और ब्राह्म में कोई भेद नहीं है। इसके विपरीत रामानुज ने विशिष्टाद्वैत का प्रचार किया, जिसके अनुसार ब्राह्म एकमात्र सत्ता होते हुए भी सगुण है और वह चित्त और अचित्त शक्तियों से युक्त हैं। उन्होंने ईश्वर की प्राप्ति के लिए भक्ति को आवश्यक बताया। हिन्दू धर्म में बहुदेववाद की प्रतिष्ठा थी और अनेक देवी-देवताओं की उपासना की जाती थी।

हिन्दू धर्म की उन्नति के साथ ही राजपूताना तथा पश्चिमी और दक्षिणी भारत में जैन धर्म भी उन्नति कर रहा था। राजपूताना में गुर्जर-प्रतिहार तथा दक्षिणी-पश्चिमी भारत के चालुक्य नरेशों ने इस धर्म की उन्नति में योगदान दिया। प्रतिहार नरेश भोज के समय एक जैन मंदिर का निर्माण करवाया गया था। आबू पर्वत पर भी जैन मंदिर का निर्माण हुआ। चन्देल शासकों के समय खुजराहों में जैन तिर्थकरों के पाँच मंदिरों का निर्माण कराया गया। गुजरात के चालुक्य (सोलंकी) शासकों ने तो इसे राजधर्म बनाया। इस वंश के शासक कुमार पाल के समय में जैन धर्म की अत्यधिक उन्नति हुई। उसने प्रसिद्ध जैन विद्वान हेमचन्द्र को राजकीय संरक्षण प्रदान किया था। राजपूत युग में बौद्ध धर्म अवनति की ओर अग्रसर था।

3.17 राजपूत काल में साहित्यिक दशा

राजपूत राजाओं का शासनकाल साहित्य की उन्नति के लिए विख्यात है। कुछ राजपूत नरेश स्वयं उच्चकोटि के विद्वान थे। इनमें परमारवंशी मुंज तथा भोज का विशेष उल्लेख किया जा सकता है। मुंज एक उच्च कोटि का कवि था जिसकी राजसभा में 'नवसाहसांकचरित' के रचियता पदमागुप्त तथा 'दशरूपक' के रचियता धनंजय निवास करते थे। भोज की विद्वता तथा काव्य-प्रतिभा लोक विख्यात है। उसने स्वयं ही चिकित्सा, ज्योतिष, व्याकरण, वास्तुकला आदि विविध विषयों पर अनेक ग्रन्थ लिखे थे। इनमें श्रृंगार प्रकाश, प्राकृत व्याकरण, सरस्वतीकण्ठाभरण, कूर्मशतक, चम्पूरामायण, श्रृंगारमंजरी, समरांगणसूत्रधार, तत्व-प्रकाश, भुजवलनिबन्ध, राजमृगांक, नाममालिका तथा शब्दानुशासन उल्लेखनीय हैं। उसकी राजसभा विद्वानों एवं पण्डितों से परिपूर्ण थी। भोज के समय में धार नगर शिक्षा एवं साहित्य का प्रमुख केन्द्र था। चालुक्य नरेश कुमारपाल विद्वानों का महान संरक्षक था। उसने हजारों ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ तैयार करवायी तथा पुस्तकालयों की स्थापना करवायी। राजा भोज ने धार में एक विश्वविद्यालय की भी स्थापना की।

इस काल में संस्कृत तथा लोकभाषा के अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। इनमें राजशेखर की कर्पूरमंजरी, काव्य मिमांशा, बालरामायण, श्रीहर्ष का नैषधचरित, जयदेव का गीतगोविन्द, सोमदेव का

कथासरितसागर तथा कल्हण की राजतरंगिणी आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। लोकभाषा के कवियों में चन्द्रवरदाई का नाम प्रसिद्ध है जो चौहान शासक पृथ्वीराज तृतीय का राजकवि था। उसने प्रसिद्ध काव्य 'पृथ्वीराजरासो' लिखा जिसे हिन्दी भाषा का प्रथम महाकाव्य कहा जा सकता है। पश्चिमी चालुक्य नरेश सोमेश्वरकृत मानसोल्लास राजधर्म सम्बन्धी विविध विषयों का सार संग्रह हैं। विधिशास्त्र के ग्रंथों में विज्ञानेश्वर द्वारा याज्ञावल्क्य स्मृति पर लिखी गयी टीका मिताक्षर तथा बंगाल के जीमूतवाहन द्वारा रचित दायभाग का उल्लेख किया जा सकता है।

3.18 राजपूतकालीन कला एवं स्थापत्यकला

इस काल में कला एवं स्थापत्य कला के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति हुई। बड़े पैमाने पर देवालय, मंदिर, दुर्ग, भवन इत्यादि बनाए गये जो कलात्मक दृष्टि से अद्भुत और बेमिसाल हैं। इसकाल में तीनों शैलियों नागर, द्रविड एवं वेसर शैली में मंदिरों, मूर्ति एवं भवनों का निर्माण किया गया।

3.18:1 मूर्तिकला

इस युग में मूर्तिकारों ने मूर्ति-निर्माण और तक्षणकला से अद्भुत चमत्कार प्रदर्शित किया है। उन्होंने अपनी कृतियों में गुप्तकाल जैसी कोमलता, अंगों का सौष्टव, यौवन का उभार एवं लालित्य और भावनाओं का ज्वार प्रदर्शित किया तथा दुर्गा, लक्ष्मी, पार्वती, उमा, सरस्वती, चण्डी काली और सिंहवाहिनी आदि देवियों की मूर्तियाँ बनाई गईं। शिव, विष्णु, ब्राह्मा, कार्तिकेय, गणेश आदि देवताओं, नर्तकी, विरहिणी, कामातुरा, पुजारिन, भिक्षुणी आदि साधारण स्त्रियों, व्यापारी, सामन्त, राजा, चर्मकार, कलाकार, कलाल आदि पुरुषों और पशु-पक्षियों की मूर्तियाँ बनाई गईं। इन मूर्तियों में से अनेक आज भी पूर्ण या खण्डित रूप में तत्कालीन मंदिरों, महलों, दुर्गों और स्मारकों आदि में विद्यमान हैं। इन मूर्तियों में शिल्प कौशल की प्रचुरता के साथ प्रदर्शन किया गया है। कलाकार इन मूर्तियों को मिट्टी, पत्थर और धातु तीनों ही प्रकार की बनाते थे।

इस युग की सर्वोत्तम मूर्तियाँ उड़ीसा में पुरी भुवनेश्वर और कोणार्क के मंदिर में आज भी देखी जा सकती हैं। ये उस काल की तक्षण कला के उत्कृष्ट नमूने हैं।

मध्यम भारत में खुजराहों के मंदिरों तथा अजन्ता, एलीफेन्टा, एलोरा, बाघ आदि गुहा मंदिरों की मूर्तियाँ कमनीयता, कोमलता, भाव प्रदर्शन और सजीवता में अद्वितीय हैं। एलीफेन्टा गुफा में स्थित शिव की विशाल त्रिमूर्ति जो आठवीं शताब्दी में बनाई गई थी। इस युग की सर्वाधिक ख्याति प्राप्त मूर्ति है। दक्षिण भारत में तांबे की बनी हुई नटराज शिव की मूर्तियाँ यथेष्ट संख्या में पाई गई हैं। ये भी उस युग की मूर्तिकला की अति सुन्दर और प्रशंसनीय नमूने हैं।

3.18:2 गुहामंदिर

इस काल में साहित्य के भांति कला के क्षेत्र में भी प्रगति जारी रही। इस युग के शासकों को भवन-निर्माण का बहुत शौक था। मंदिर निर्माण कला तो इस युग में पराकाष्ठा पर पहुँच गई। चट्टानों को काटकर गुहामंदिर बनाने की कला भारत में बहुत लोकप्रिय थी और प्राचीनकाल से चली आ रही थी। गुप्तकाल में उनकी विशेष उन्नति हुई थी और राजपूतकाल तक यह प्रक्रिया जारी रही। एलोरा के गुहामंदिर के निर्माण

में कैलाशनाथ के मंदिर का भी श्रेष्ठ स्थान है। इसका निर्माण राष्ट्रकूटनरेश कृष्ण प्रथम (756–773) ने कराया था। मंदिर के कलात्मक वैभव का अनुभव उसे देखकर ही किया जा सकता है। सम्पूर्ण भारत में इतनी विशाल और सुन्दर कलाकृति अन्यत्र देखने को नहीं मिलती।

3.18:3 मंदिर कला

मंदिर निर्माण कला का इस युग में विशेष रूप से विकास हुआ। शिल्पशास्त्र पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये। प्रायः मंदिर उन ग्रंथों में प्रतिपादित सिद्धान्तों और शैली के अनुसार ही बनाये जाते थे। मंदिर का मुख्य भाग जिसमें देवमूर्ति प्रतिष्ठित होती थी, गर्भगृह कहलाता था। उसके सामने एक विशाल कक्ष होता था। जिसमें भक्त लोग एकत्र होते थे। उसे मण्डप कहते थे। मण्डप और गर्भगृह को जोड़ने वाला भाग अन्तराल कहलाता था। मण्डप के आगे एक डयोढ़ी होती थी जिसे अर्द्ध-मण्डप कहते थे। गर्भगृह के ऊपर ऊँची मीनार बनी होती थी। मंदिर के अन्य भागों के ऊपर भी छोटी-छोटी मीनारें बनाई जाती थी।

जोधपुर से 32 मील दूर ओसिया में सोलह ब्राह्म तथा जैन मंदिर हैं। चित्तौड़गढ़ में कालिका माता का मंदिर और उदयपुर से कुछ मील दूर एकलिंग मंदिर है। आबू पर्वत के जैन मंदिरों में सफेद संगमरमर के हाल, ग्यारह संकेन्द्रिक चक्रों का केन्द्रीय गुम्बज और कढ़ाईदार, मेहराबदार छतें और स्तम्भ है। इन सब में उच्चकोटि की कला दिखाई देती है। प्रत्येक स्थान पर सुन्दर मूर्तियाँ हैं। गुम्बज के विषय में फर्गुसन ने कहा: “यह एक अधखिले कमल की भांति दिखाई देता है जिसके पंख इतने पतले, पारदर्शक और इतनी अच्छी तरह बनाए गए हैं कि सराहना करते आंखें टिकी रह जाती हैं।” ग्वालियर में सास-बहु मंदिर सुनाक में नीलकण्ठ मंदिर और पाटन से कुछ मील दूर मोढेरा में सूर्य मंदिर है। स्तम्भों वाले और नोकदार मेहराबों वाले प्रवेश स्थानों, परिणाम की सुन्दरता और आध्यात्मिक शोभा के वातावरण के लिए मंदिर विशिष्ट है। मंदिर की सारी रचना ही प्रेरणा की ज्वलन्त शिखा से उद्दीप्त है।

छठीं शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी तक दक्षिणी भारत में द्रविड़ शैली के मंदिर भारी संख्या में बनाये गये। इन मंदिरों में तीन विशिष्टता होती है। प्रथम इनके प्रवेश द्वार अति विशाल और भव्य बनाये जाते हैं जो ‘गोपुरम’ कहलाते हैं, दूसरी विशिष्टता इनके मण्डपों में दृष्टिगोचर होती है। इनके विस्तार युक्त अलंकृत मण्डप अनेक विशाल स्तम्भों पर टिके होते हैं। तीसरी विशिष्टता इनके विमानों में पायी जाती है जो पिरामिडों जैसी आकृति के बने हैं। सरल रेखाओं द्वारा अनेक पट्टियों में विभक्त हैं। इन पट्टियों पर बेल, बूटे, हाथी, देवी-देवता तथा भक्त स्त्री-पुरुषों की आकृतियाँ इतने कलापूर्ण ढंग से उत्कीर्ण की हुई हैं कि वे राजमेमारों के बजाए हाथी दांत की कलात्मक, रुचिपूर्ण एवं आकर्षक बारीक काम की वस्तुएँ वाले कुशल कारीगरों के हाथ से तैयार की हुई प्रतीत होती हैं। सम्पूर्ण विमान बेल, बूटों, प्रतिमाओं और मूर्तियों से इतना अधिक भरा होता है कि प्रयत्न करने पर भी सारी विमानों में एक छोटा सा भाग तक खाली नहीं दिखाई देता।

इस युग में सहस्रों छोटे-बड़े मंदिर भारत के हर भाग में बनाए गये। अनेक राजपूत राजाओं ने शानदार महल, भव्य दुर्ग पक्के घाट, जलाशय, झील, बांध और नहरें तैयार कराईं जिनमें अनेक अभी तक स्थापत्य कला के भव्य स्मारकों प्रतिवर्ष सहस्र ‘देशी-विदेशी यात्रियों को आकृषित करते रहते हैं। ग्वालियर, चित्तौड़, रणथम्भौर, कालिंजर और मांडू के विशाल दुर्ग आज भी अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन कर रहे हैं। मथुरा के

मंदिर की भव्यता और सोमनाथ के मंदिर की अभेद्य दृढ़ता देखकर महमूद गजनवी और उसके साथी आश्चर्यचकित और स्तम्भित रह गये थे।

मंदिरों के निर्माण में ईंट, पत्थर और शिलाखण्डों का प्रयोग किया जाता था। पर्वतों को काटकर भी गुहा मंदिर बनवाये गये थे। जैन, बुद्ध और ब्राह्मणों के संरक्षण में ये मंदिर तैयार किये गये थे। मंदिरों के निचले भाग विमान और ऊपरी भाग शिखर कहलाते थे। इन्हें विमान इस भावना को लेकर कहा जाने लगा कि जिस प्रकार देवता विमानों में बैठकर आकाश में विचरण करते माने जाते हैं वैसे ही पृथ्वी पर बनाये गये इन विमान रूपी भव्य मंदिर में निवास करते हैं। बौद्ध स्तूपों पर चैत्यों के शिखरों को देखकर ही मंदिरों में भी शिखर बनाए जाने लगे। दक्षिण के कुछ मंदिरों को रथ भी कहा जाता है। राजपूत शासकों ने मंदिर बनाने के लिए अपार धन दान दिया। कला समालोचकों ने उनकी खूब प्रशंसा की है।

राजपूत कला के कुछ महत्वपूर्ण स्थल राजस्थान के चित्तौड़गढ़, रणथम्भौर और कुम्भलगढ़ के किले, मध्यप्रदेश में माण्डु, ग्वालियर, चन्देरी और असीरगढ़ के किले हैं। राजपूत घरेलू शिल्पकला के उदाहरण, ग्वालियर में मान सिंह के महल, अम्बर (जयपुर) के स्मारक और उदयपुर में झील में महल है। अनेक राजपूत नगर और प्रासाद किलों में, पहाड़ियों के बीच या सुन्दर कत्रिम झीलों के किनारे पर स्थित हैं। राजस्थान में जोधपुर दुर्ग एक ऊँची और अगम्य पहाड़ी पर बना हुआ है और उसके उठते हुए बुर्ज और मोर्चे हैं। बाबर ने भी उन्हें "चमकदार ताँबे की पट्टियों से ढंके गुम्बज" कहकर उनकी प्रशंसा की है। राजपूतकालीन कला एवं स्थापत्य कला से शासकों की अभिरुचि एवं इस युग की कलात्मक सफलताओं का आभास होता है।

सातवीं शताब्दी से सम्पूर्ण भारत में स्थापना कला में एक नया मोड़ मोड़ आया तथा उत्तर, मध्य एवं दक्षिण दक्षिण की कला कृतियां अपनी निजी विशेषताओं के साथ प्रस्तुत की गयी। अनेक शास्त्रीय ग्रन्थों—मानसोल्लास मानसार, समरांगणसूत्रधार अपराजितपृच्छा, शिल्पकला, सुप्रभेवदागम, कमिनिकागम आदि की रचना हुई तथा इनमें मंदिर वास्तु के मानक निर्धारित किये गये। इनके अनुपालन में कलाकारों ने अपनी कृतियां प्रस्तुत की। शिल्पग्रन्थों में स्थापत्य कला के क्षेत्र में तीन प्रकार के शिखरों का उल्लेख मिलता है, जिनके आधार पर मंदिर निर्माण की तीन शैलियों का विकास हुआ—

- 1—नागर शैली
- 2—द्रविड़ शैली
- 3—वेसर शैली

उपर्युक्त सभी नाम भौगोलिक आधार पर दिये गये प्रतीत होते हैं। नागर शैली उत्तर भारत की शैली थी जिसका विस्तार हिमालय से विन्ध्य पर्वत तक दिखाई पड़ता है। द्रविड़ शैली का प्रयोग कृष्णा नदी से कन्याकुमारी तक मिलता है। विन्ध्य तथा कृष्णा नदी के बीच के क्षेत्र में वेसर शैली प्रचलित हुई। चूँकि इस क्षेत्र में चालुक्य वंश का आधिपत्य रहा, अतः इस शैली को चालुक्य शैली भी कहा जाता है। वेसर का शाब्दिक अर्थ "खच्चर" होता है जिसमें घोड़े तथा गधे दोनों का मिला—जुला रूप है। इसी प्रकार वेसर शैली के तत्व नागर तथा द्रविड़ दोनों से लिए गये हैं। पी.के. आचार्य 'वेसर' का अर्थ नाक में पहनने वाला आभूषण मानते हुए यह प्रतिपादित करते हैं कि चूँकि इसका आकार आधार से शिखर तक वृत्त के आकार का गोल होता था, अतः इसकी संज्ञा 'वेसर' हुई। इसी प्रकार वास्तुशास्त्र के अनुसार नागर मंदिर आधार से सर्वोच्च अंश तक, चतुरस (चौकोर) तथा द्रविड़ अष्टकोण (अष्टास) होने चाहिए।

नागर तथा द्रविड़ शैलियों का मुख्य अन्तर शिखर सम्बन्धी है, जिसे 'विमान' कहा जाता है। शिल्पशास्त्र के ग्रन्थों में विमान को सात तलों वाला बताया गया है। नागर शैली में आयताकार गर्भगृह के ऊपर ऊँची मीनार के समान गोल या चौकोर शिखर बनाये जाते थे। जो त्रिकोण की भांति ऊपर पतले होते थे। द्रविड़ शैली के शिखर वर्गाकार तथा अलंकृत गर्भगृह के ऊपर बनते हैं। ये कई मंजिलों से युक्त पिरामिडाकार हैं। बाद में द्रविड़ मंदिरों को घेरने वाली प्राचीर में चार दिशाओं में विशाल तोरण द्वार बनाये गये। इनके ऊपर बहुमंजिले भवन बनने लगे जिन्हें देवी-देवताओं की प्रतिमाओं से अलंकृत किया गया। ये कभी-कभी विमान से भी ऊँचे होते थे। तोरण द्वार पर बनी इन अलंकृत एवं बहुमंजिली रचनाओं को 'गोपुरम' नाम दिया गया है।

पूर्व मध्यकालीन उत्तर भारत में सर्वत्र नागर शैली के मंदिर बनाये गये हैं। इनमें दो प्रमुख लक्षण हैं। अनुप्रस्थिका (योजना) तथा उत्थापन (ऊपर की दिशा में उत्कर्ष या उँचाई) छठीं शताब्दी के मंदिरों में स्वस्तिकाकार योजना सर्वत्र दिखाई देती हैं। अपनी उँचाई के क्रम में शिखर उत्तरोत्तर ऊपर की ओर पतला होता गया है। दोनों पार्श्वों में क्रमिक रूप से निकला हुआ बाहरी भाग होता है जिसे 'अम्ब' कहते हैं। इनकी उँचाई शिखर तक जाती है। आयताकार मंदिर के प्रत्येक ओर रथिका पर आमलक स्थापित किया जाता है, वैसे सम्पूर्ण रचना को अत्यन्त आकर्षक बनाता है।

राजपूत शासक बड़े उत्साही निर्माता थे। अतः इस काल में अनेक भव्य मंदिर, मूर्तियाँ एवं सुदृढ़ दुर्गों का निर्माण किया गया जो कलाकृति एवं सुन्दरता के लिए काफी प्रसिद्ध हैं। 8 वीं शताब्दी से 13 वीं शताब्दी के मध्य बड़े पैमाने पर मंदिरों का निर्माण हुआ। उड़ीसा राज्य में स्थित भुवनेश्वर, पुरी तथा कोणार्क के मंदिर इसी काल के निर्मित हैं। भुवनेश्वर के प्रमुख मंदिर हैं—परशुरामेश्वर मंदिर, मुक्तेश्वर तथा लिंगराज मंदिर इत्यादि। लिंगराज मंदिर उड़ीसा शैली का सबसे अच्छा उदाहरण है। इसका निर्माण दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ था। लिंगराज मंदिर के ही अनुकरण पर बना भुवनेश्वर का अनन्तवासुदेव मंदिर है जो यहाँ का एक मात्र वैष्णव मंदिर है। वर्तमान में भुवनेश्वर में लगभग पाँच सौ मंदिर हैं जो गौरव तथा विशिष्टता की दृष्टि से अनुपम हैं। लिंगराज मंदिर के अतिरिक्त पुरी का जगन्नाथ मंदिर तथा कोणार्क स्थित सूर्यमंदिर भी उड़ीसा शैली के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। जगन्नाथ मंदिर दोहरी दीवारों वाले प्रांगण में स्थित है चारों दिशाओं में चार विशाल द्वार बने हैं। मंदिर का मुख्य द्वार पूर्व की ओर स्थित है तथा उसके सामने स्तम्भ हैं। मंदिर की 400×350 वर्गफुट की परिधि में छोटे-छोटे कई मंदिर बनाये गये हैं। पुरी का जगन्नाथ मंदिर हिन्दू धर्म के पवित्रतम तीर्थ स्थलों में गिना जाता है।

पुरी से लगभग बीस मील दूरी पर स्थित कोणार्क का सूर्य मंदिर वास्तुकला की एक अनुपम रचना है। इसका निर्माण गंगवंशी शासक नर सिंह प्रथम (1238-1264 ई.) ने करवाया था। एक आयताकार प्रांगण में यह मंदिर रथ के आकार पर बनाया गया है। गर्भगृह तथा मुखमण्डप को इस तरह नियोजित किया गया है कि वे सूर्य रथ प्रतीत होते हैं। नीचे एक बहुत ऊँची कुर्सी है जिस पर सुन्दर अलंकरण मिलता है। उसके नीचे चारों ओर गज पंक्तियाँ उत्कीर्ण की गयी हैं। प्रवेश द्वार पर जाने के लिए सीढ़ियाँ बनायी गयी हैं। इसके दोनों ओर उछलती हुई अश्व प्रतिमायें उस रथ का अभास करती हैं जिस पर चढ़कर भगवान सूर्य आकाश में विचरण करते हैं। मंदिर के बाहरी भाग पर विविध प्रकार की प्रतिमायें उत्कीर्ण की गयी हैं। प्रतिमा में रथ के पहियों पर भी उत्कीर्ण हैं। कुछ मूर्तियाँ अत्यन्त अश्लील हैं जिन पर तांत्रिक विचारधारा का प्रभाव माना जा सकता है। संभोग तथा सौन्दर्य मुक्त प्रदर्शन यहां दिखाई देता है। अनेक मूर्तियों के सुस्पष्ट श्रृंगारिक चित्रण के कारण इस मंदिर को 'काला पगोडा' (इसंबा चंहवक) कहा गया है।

3.19 गुर्जर-प्रतिहार स्थापत्य

गुर्जर-प्रतिहार शासकों के निर्माण कार्यों का कुछ संकेत उनके लेखों में हुआ है। वाउक की जोधपुर प्रशस्ति से पता चलता है कि उसने वहां सिद्धेश्वर महादेव का मंदिर बनवाया था। इसी प्रकार मिहिर भोज की ग्वालियर प्रशस्ति से सूचित होता है कि उसने अपने अन्तःपुर में भगवान विष्णु के मंदिर का निर्माण करवाया था। इन उल्लेखों से प्रकट होता है कि प्रतिहार शासकों की निर्माण कार्यों में गहरी अभिरुचि थी। प्राचीन मंदिरों में शिव, विष्णु, सूर्य, ब्राह्मा, अर्धनारिश्वर, हरिहर, नवग्रह, कृष्ण तथा महिषमर्दिनी दुर्गा के मंदिर उल्लेखनीय हैं। इन पर गुप्त स्थापत्य का भी प्रभाव देखने को मिलता है।

ओसिया के मंदिरों की दो कोटियां दिखाई देती हैं। प्रथम कोटि के मंदिर जिनकी संख्या लगभग बारह हैं, आठवीं-नवीं सदी में बनवाए गये थे। इनमें शिखरों का विकास दिखाई पड़ता है तथा स्थानीय लक्षणों का अभाव है। दूसरी कोटि के मंदिरों में स्थानीय विशेषतायें मुख्य हो गयी हैं। प्रत्येक का आकार एक दूसरे से भिन्न है अर्थात् किन्हीं दो मंदिरों में परस्पर समानता नहीं है। नागभट्ट द्वितीय के समय झालरपाटन मंदिर का निर्माण हुआ। इसी प्रकार ओसिया ग्राम के भीतर तीर्थंकर महावीर का एक सुन्दर मंदिर है जिसे वत्सराज के समय (770-800 ई.) में बनवाया गया था। इसमें भव्य तोरण लगे हैं तथा स्तम्भों पर तीर्थंकर की प्रतिमायें खुदी हुई हैं।

ओसिया के मंदिरों में सूर्य मंदिर सर्वाधिक उल्लेखनीय है इस मंदिर की प्रमुख विशेषता इसके अनुभाग में है। शिखर का आकार तथा अलंकरण प्रशंसनीय है। स्तम्भों के आधार तथा शीर्ष पर मंगलकलश स्थापित है। यह ओसिया मंदिर का सिरमौर माना जाता है तथा अपनी भव्यता के लिए प्रसिद्ध है। इस मंदिर के उपरान्त सचियमाता तथा पिपला माता के मंदिर का उल्लेख किया जा सकता है जिन में राजपूताना शैली का क्रमिक विकास दिखाई देता है। मंदिर के केन्द्रीय मण्डप में अष्टकोणीय स्तम्भ है जो गुम्बदाकार छत का भार वहन करते हैं। पिपला माता मंदिर में तीस स्तम्भ हैं। ओसिया मंदिर का प्रवेश द्वार सीधे गर्भगृह में खुलता था। अतः कलाकारों ने उसकी नक्काशी पर विशेष ध्यान दिया। गर्भगृह के द्वार पर प्रतीक मूर्तियां तथा पौराणिक कथा में उत्कीर्ण हैं। ओसिया के मंदिर मूर्तिकारी के लिए भी प्रसिद्ध है। सूर्य मंदिर के बाहर अर्धनारीश्वर शिव, सभामण्डप की छत में वंशी बजाते तथा गोवर्धन धारण किए हुए कृष्ण की मूर्तियां उत्कीर्ण हैं। गोवर्धन लीला की यह मूर्ति राजस्थानी कला की अनुपम कृति मानी जाती है।

3.20 चालुक्य कालीन स्थापत्य

चालुक्य शासक भी उत्साही निर्माता थे तथा उनके काल में अनेक मंदिर एवं धार्मिक स्मारक बनवाये गये। मंदिर निर्माण के पुनीत कार्य में उनके राज्यपालों, मन्त्रियों एवं धनाढ्य व्यापारियों ने भी महत्वपूर्ण योगदान दिया। इस प्रकार सम्पूर्ण समुदाय की कार्यनिष्ठा एवं प्रत्येक व्यक्ति की लगन के फलस्वरूप इस समय गुजरात के अन्हिलवाड़ा तथा राजस्थान के आबू पर्वत पर कई भव्य मंदिर का निर्माण करवाया गया। ये मुख्यतः जैन धर्म से सम्बन्धित हैं।

गुजरात के प्रमुख मंदिरों में मेहसाना जिले में स्थित 'मोडेहरा' का सूर्य मंदिर विशेष उल्लेखनीय है। इसका निर्माण ग्यारहवीं सदी में हुआ था। अब यह मंदिर नष्ट हो गया है, केवल इसके ध्वंशावशेष ही विद्यमान हैं। निर्माण में सुनहरे बलुए पत्थर लगे हैं। इसमें स्तम्भों पर आधारित खुला द्वार मण्डप है। इसक्रम में पाटन

स्थित सोमनाथ के मंदिर का भी उल्लेख किया जा सकता है जिसका निर्माण इसी काल में हुआ था। इस वंश के शासक कर्ण ने अन्हिलवाड़ा में कर्णमेरु नामक मंदिर बनवाया था। सिद्धपुर स्थित रुद्रमहाकाल का मंदिर भी वास्तुकला का सुन्दर उदाहरण है। अन्हिलवाड़ा के निकट सुनक स्थित नीलकंठ महादेव मंदिर भी एक विशिष्ट रचना है। इसी का समकालीन काठियावाड़ का नवलाखा मंदिर कलात्मक दृष्टि से उत्कृष्ट है। सोलंकी नरेश भीमदेव प्रथम के मंत्री विमल शाह ने ग्यारहवीं शती में विमलशाही नामक मंदिर बनवाया था।

विमलशाही मंदिर के समीप ही दूसरा मंदिर स्थित है इसे तेजपाल ने बनवाया था। निर्माता के नाम पर ही इसे 'तेजपाल मंदिर' कहा जाता है। यह भी अत्यन्त भव्य एवं सुन्दर है। मंदिर में ठोस संगमरमर की लटकन है जो स्फटिकमणि से बनी प्रतीत होती है। उसके चारों ओर गोलाई में खोदकर कमल पुष्प बनाया गया है। लम्बवत पाषाण पर खुदी हुई अनेक आकृतियां मनोहर हैं। गर्भगृह में नेमिनाथ की प्रतिमा स्थापित है तथा कक्ष के द्वार मण्डपों पर उनके जीवन से ली गयी अनेक गाथायें उत्कीर्ण हैं।

3.21 बुन्देलखण्ड के चन्देलकालीन मंदिर

बुन्देलखण्ड का प्रमुख स्थल मध्य प्रदेश के छतरपुर में स्थित खुजराहो नामक स्थान है। जहां चन्देल राजाओं के समय में नवीं शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक अनेक सुन्दर तथा भव्य मंदिरों का निर्माण करवाया गया। ये पूर्वमध्ययुगीन वास्तु एवं तक्षणकला के उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। खुजराहों में 25 मंदिर आज भी विद्यमान हैं जिनका निर्माण ग्रेनाइट तथा लाल बलुआ पत्थर से किया गया है। ये शैव, वैष्णव एवं जैन धर्म से सम्बन्धित हैं। मंदिरों का निर्माण ऊँची चौकी पर हुआ है जिसके ऊपरी भाग को अनेक अलंकारों से सजाया गया है। चौकी या चबूतरे पर गर्भगृह, अन्तराल, मण्डप तथा अर्धमण्डप हैं। शिखरों पर छोटे-छोटे शिखर संलग्न है जिन्हें उरुश्रृंग कहा जाता है। ये छोटे आकार के मंदिर के ही प्रतिरूप हैं। प्रत्येक मंदिर में मण्डप, अर्धमण्डप तथा अन्तराल मिलते हैं। कुछ मंदिरों में विशाल मण्डप बने हैं जिसे उन्हें 'महामण्डप' कहा जाता है। मंदिरों के प्रवेश-द्वार को मकर-तोरण कहा गया है क्योंकि उनके ऊपर मकर मुख की आकृति बनी हुई है।

विकास क्रम की दृष्टि से खुजराहो मंदिरों के कई समूहों में बांटा जा सकता है। वामन तथा आदिनाथ मंदिर प्रारम्भिक अवस्था के सूचक हैं। दोनों की बनावट एक जैसी है। दूसरे समूह के मंदिर जगदम्बा, चतुर्भुज, पार्श्वनाथ, विश्वनाथ तथा अंतिम सीढ़ी पर कन्दारिया महादेव मंदिर है। इनकी बनावट और रचना शैली मूलतः समान है। अन्तिम चार के गर्भगृह की परिधि में प्रदक्षिणापथ से जुड़ा हुआ मण्डप है विश्वनाथ तथा चतुर्भुज मंदिर एक जैसे हैं। खुजराहो के मंदिरों में कन्दारिया महादेव मंदिर सर्वश्रेष्ठ है। इसमें चौकोर अर्धमण्डप तथा वर्गाकार मण्डप है। मण्डप के बाजू का भाग गर्भगृह के चारों ओर विस्तृत है तथा बारजे के वातायन से जुड़ा हुआ है। गर्भगृह के ऊपर एक ऊँचा शिखर तथा कई छोटे-छोटे शिखर बनाये गये हैं। उनकी दीवारों पर बहुसंख्यक मूर्तियां उत्कीर्ण मिलती हैं। एक सामान्य गणना के अनुसार यहां खुदे हुए रूप चित्रों की संख्या 900 के लगभग है। इसके प्रवेश द्वार भी काफी अलंकृत हैं। इस प्रकार कन्दारिया महादेव मंदिर खुजराहो के मंदिरों का सिरमौर है।

खुजराहो मंदिर में देवी-देवताओं की मूर्तियों के साथ-साथ कई दिग्पालों, गणों, अप्सराओं, पशु-पक्षियों आदि की बहुसंख्यक मूर्तियां भी प्राप्त होती हैं। अप्सराओं या सुन्दर स्त्रियों की मूर्तियों ने यहां की कला को अमर बना दिया है। ये मंदिर के जंघाओं, रथिकाओं, स्तम्भों दीवारों आदि पर उत्कीर्ण हैं। उन्हें अनेक

मुद्राओं और हाव-भावों में प्रदर्शित किया गया है। कहीं वे देवताओं के पार्श्व में तथा कहीं हाथों में दर्पण, कलश आदि के लिए हुए दिखाई गयी हैं। कहीं अप्सराओं के रूप में वे विभिन्न मुद्राओं में नृत्य कर रही हैं। पैर से कांटा निकालती हुई नायिका, अलस नायिका, माता और पुत्र सहित बहुसंख्यक मिथुन आकृतियां खोदकर बनायी गयी है जो अत्यन्त कलापूर्ण एवं आकर्षक हैं। कुछ मूर्तियां अत्यन्त अश्लील हो गयी है जिन पर सम्भवतः तांत्रिक विचारधारा का प्रभाव लगता है। इस प्रकार समग्र रूप से खुजराहो के मंदिर अपनी वास्तु तथा तक्षण दोनों के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध है। प्रकृति और मानव जीवन की ऐहिक सौन्दर्यराशि को यहां के मंदिरों में शाश्वत रूप प्रदान कर दिया गया है। शिल्प श्रृंगार का इतना प्रचुर तथा व्यापक आयाम भारत के अन्य किसी कलाकेन्द्र में शायद ही देखने को मिले।

3.22 राजपूतकालीन चित्रकला

चित्रकला का सम्बन्ध मानव के भावनात्मक दैनिक जीवन से है। मनुष्य ने विभिन्न प्रकार के सुन्दर चित्र बनाकर अपनी भावनाओं और हर्ष को व्यक्त किया है। गुप्तकाल में चित्रकला की असाधारण प्रगति और उन्नति हुई। उसके पश्चात् राजपूत युग के प्रारम्भ में अजन्ता और बाघ के कतिपय भित्तिचित्र बनाये गये। इस युग की चित्रकला में मानव स्वभावों के चित्रण में नुकीलापन और तीखापन आ गया था। क्षेत्रीय प्रवृत्ति का भी प्रभाव पड़ा। मालवा, गुजरात और राजस्थान में चित्रकला की विशिष्ट परम्पराएँ प्रारम्भ हुईं। फलतः चित्रकला की विविध शैलियों का विकास हुआ है। विशेषकर राजपूत युग उत्तरार्ध में और मुगलकाल में ये शैलियां अत्यधिक विकशित हुईं। इन शैलियों में राजपूत शैली और गुजरात या जैन शैली और मालवा शैली थी। आगे चलकर राजपूत शैली में राजस्थानी, कश्मीरी और कांगड़ा शैली का विकास हुआ।

गुजरात शैली में जैन मतावलम्बियों के जीवन और धर्म से सम्बन्धित चित्र हैं। राजपूत और मालवा शैली में हिन्दू धर्मशास्त्रों में वर्णित कथानकों व घटनाओं के दृश्य, रासलीला, राग-रागिनी, नायक-नायिका भेद सम्बन्धी विषय तथ जन-जीवन के दृश्य चित्रित हैं। सजावट के लिए पत्रावली पुष्पावली और पशु-पक्षियों के चित्र भी अंकित किये जाते थे।

3.23 सारांश

राजपूतकालीन संस्कृति अनेक युगों एवं विशेषता से परिपूर्ण थी। इस काल में सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति हुई। राजपूत राजाओं ने शासन व्यवस्था के क्षेत्र में अनुकरणीय उदाहरण पेश की। उन्होंने शिक्षा एवं साहित्य की प्रगति में भी विशेष रुचि ली और राजकीय संरक्षण प्रदान की इस काल में अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गये जो कि एक अनमोल धरोहर के समान हैं। राजपूत काल में सर्वाधिक प्रगति कला और स्थापत्य कला के क्षेत्र में हुई। इनमें मंदिर निर्माण कला विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वास्तव में राजपूत काल भारतीय कला एवं संस्कृति का पुनरुत्थान काल था।

3.24 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. राजपूतों के शासन व्यवस्था का वर्णन कीजिये।
2. राजपूतकालीन सामाजिक एवं धार्मिक स्थिति की व्याख्या कीजिये।
3. राजपूत काल में शिक्षा एवं साहित्यिक प्रगति का उल्लेख कीजिये।

4. राजपूतकालीन कला एवं स्थापत्यकला का वर्णन कीजिये।
5. राजपूत कला में मंदिर निर्माण के विभिन्न शैलियों का उल्लेख किजिये।

3.25 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. के.सी.श्रीवास्तव— प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति
2. बी.एन.सिंह लूनिया—प्राचीन भारतीय संस्कृति
3. बी.बी.सिन्हा—भारतीय इतिहास
4. के.एल.खुराना—भारत का सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक इतिहास